एम.ई.सी.-06

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

एम.ए. अर्थशास्त्र (उत्तरार्द्ध)

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास 1

एम.ई.सी.-06

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

एम.ए. अर्थशास्त्र (उत्तरार्द्ध)

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास 1

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
कुलपति
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रोफेसर एस.एस. आचार्य
निदेशक,
विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रोफेसर डी.डी. नरूला
मानद वरिष्ठ अध्येता
विकास अध्ययन संस्थान जयपुर

डॉ. श्याम नाथ
फ़ेलो,एन.आई.पी.एफ़., नई दिल्ली

प्रो. अमिताभ कुन्डु
सी.एस.आर.डी.
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रोफेसर ए.के. सिंह
गिरि इंस्टीट्यूट ऑफ डवलपमेंट स्टडीज
लखनऊ

डॉ. प्रमोद वर्मा
,इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट
अहमदाबाद

डॉ. एम.के. घड़ोलिया (संयोजक)
सह आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. जे.जे. शर्मा
सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. के.पी.एम. सुन्दरम (1)
नई दिल्ली

डॉ. धर्मेश शर्मा (2)
डूंगरपुर

डॉ. लक्ष्मीनारायण नाथूरामका (3,4,9)
जयपुर

डॉ. अरुणा कालरा (5)
नई दिल्ली

डॉ. एस.सी. श्रीवास्तव (6)
विलासपुर

डॉ. के.के. सक्सेना (7,8)
आई.आई.टी. कानपुर

डॉ. जी.डी. माथुर (10)
अलवर

डॉ. एल.एन. अग्रवाल (11,12,13)
कृषि अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान कृषि विश्वविद्यालय
जोबनेर

डॉ. ए.के. सिंह (14,15,16)
जी.आई.डी.एस.
लखनऊ

सम्पादक

डॉ. एम.के. घड़ोलिया
सह आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
अर्थशास्त्र विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो.(डॉ.) अनाम जैतली
निदेशक
संकाय विभाग

प्रो.(डॉ.) पी.के. शर्मा
निदेशक
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - सितम्बर, 2008

इस सामग्री के किसी भी अंश को व.म.खु.वि. कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है ।

व.म.खु.वि. कोटा के लिये कुलसचिव व.म.खु.वि. कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

खण्ड -1

भारतीय अर्थव्यवस्था		
इकाई -1	भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि की प्रवृत्तियाँ	8–21
इकाई -2	भारत नियोजन एवं विकास प्रक्रिया-नियोजन विकास की समीक्षा	22–40
इकाई -3	विकास की व्यूहरचनाएं- भारी उद्योग बनाम मजदूरी-वस्तुएं उद्देश्य व उपलब्धियां	41–58
इकाई -4	विकेन्द्रित नियोजन- पद्धति	59–76
इकाई -5	भारत में शिक्षा का विकास	77–87
इकाई -6	जनसांख्यिकी आयाम एवं आर्थिक विकास	88–111
इकाई -7	बचत एवं निवेश के प्रतिमान	112–123
इकाई -8	पूँजी उत्पादन अनुपात एवं इसका प्रभाव	124–135
इकाई -9	भारत में निर्धनता एवं असमानता, आकार प्रकृति, कारण तथा इसको कम करने के उपाय	136–158
इकाई -10	बेरोजगारी स्वरूप तथा आकार-उद्योगीकरण तथा रोजगार एवं रोजगारनीति	159–179
कृषि अर्थव्यवस्था		
इकाई -11	कृषि भूमि संबंध एवं भूमि सुधार	180–203
इकाई -12	कृषि निविष्ट / कृषि आगत	204–221
इकाई -13	हरित क्रान्ति	222–230
इकाई -14	भारतीय कृषि विकास की उपलब्धियां तथा कमियाँ	231–242
इकाई -15	खाद्यान्न आहरण तथा सुरक्षित भण्डार नीति	243–253
इकाई -16	सार्वजनिक वितरण प्रणाली	254–266

खण्ड परिचय

इसमें भारतीय अर्थव्यवस्था की पिछले पचास वर्षों में उपलब्धियां एवं प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इस तथ्य से तो हम सभी परिचित हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने द्रुत आर्थिक विकास के उद्देश्य से नियोजन मार्ग चुना। अब तक हम आठ पंचवर्षीय योजनाएं पूरी कर चुके हैं एवं नौंवी पंचवर्षीय योजना (1997-2002) प्रगति पर है। इन वर्षों में विभिन्न योजना के लक्ष्यों एवं उपलब्धियों पर प्रथम इकाई में चर्चा की गई है। नियोजन के दौरान अर्जित वृद्धि दरों को विभिन्न दशकों में अलग-अलग प्रदर्शित किया गया है। इस प्रश्नपत्र की सामग्री में आकड़ों की अनुपलब्धता व तेजी से परिवर्तन होते हैं। अत: आपसे अपेक्षा है कि आप अपने स्रोतो से नवीनतम जानकारी एकत्रित कर पाठ्य सामग्री में उसे यथा स्थान प्रयुक्त करें। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ जैसे भारत, आर्थिक सर्वेक्षण, रिजर्व बैंक से प्रकाशित आँकड़ों का आप आसानी से प्रयोग कर सकते हैं।

भारत में नियोजन एवं विकास प्रक्रिया व नियोजित विकास की उपलब्धियों की चर्चा इकाई संख्या में दो में की गई है। इस इकाई में नियोजित आर्थिक विकास की विशेषताओं एवं उपलब्धियों की चर्चा के साथ-साथ नियोजन की विफलताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। हमें इन विफलताओं से सबक लेकर विकास के मार्ग की बाधाओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

इकाई संख्या तीन में विकास की व्यूह रचनाओं भारी उद्योग बनाम मजदूरी वस्तुओं की चर्चा की गई है। विकास के ये विभिन्न मार्ग सत्तर के दशक में काफी चर्चा में रहे। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्राप्त सफलता के कारण आयोजन अधिकारी कृषि को छोड़कर विकास के आधार भूत ढाँचे के निर्माण के लिए भारी उद्योगों पर बल देना चाहते थे। प्रो.प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस ने द्वितीय योजना में भारी उद्योग मण्डल पर आधारित विकास मार्ग अपनाने की सलाह दी। इसे भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने काफी पसंद किया। इसके विपरीत विकास का एक मार्ग मजदूरी वस्तुओं पर आधारित था। जिसे वस्तुत: लागू नहीं किया गया। परन्तु भारतीय परिस्थितियों में यह आज भी विचारणीय एवं प्रासंगिक है। इन विभिन्न मॉडलों के बारे में आप इस खण्ड में जानकारी प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त चतुर्थ इकाई मे आपका परिचय एक अन्य विकास व्यूह रचना से कराया जाएगा। इसमें केन्द्रित एवं विकेन्द्रित नियोजन पद्धति का अर्थ एवं इसकी उपलब्धियों एवं समस्याओं की चर्चा की जाएगी। इकाई पाँच में भारत मे शिक्षा का विकास विषय पर चर्चा की गई है। आज के बढ़ते वैज्ञानिक युग में शिक्षा के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा की अहम भूमिका है। आज कम्प्यूटर क्रांति के युग में पारम्परिक शिक्षा के साथ-साथ सूचना क्षेत्र मे हो रही क्रांति के साथ चलना होगा। इसके लिए हमे अपने पाठ्यक्रमों मे भी आवश्यक परिवर्तन लाना होगा। शिक्षित वर्ग ही इस तकनीकी का समुचित प्रयोग कर विकास की दोड़ में आगे निकल सकता है।

विकास के लिए आवश्यक आधारभूत संरचना के निर्माण में आ रही बाधाओं एवं अन्य समस्याओं जैसे गरीबी, बेरोजगारी, आय की असमानता, पूँजी की कमी व जनसंख्या की वृद्धि जैसी समस्याओं एवं आर्थिक विकास के साथ इन चरों की अन्तर्क्रियाओं पर इस खण्ड में आपका ध्यान आकर्षित किया जाएगा।

इकाई संख्या 6 में जनसांख्यिकी आयाम एवं आर्थिक विकास के अन्तर्सम्बन्धों की चर्चा की गई है। जनसंख्या एवं आर्थिक विकास में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इस इकाई में जनसंख्या के विभिन्न आयामों जैसे जन्मदर, आप्रवास एवं उत्प्रवास एवं आर्थिक विकास के मध्य सम्बन्ध में भारत दृष्टिगोचर

प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है। इकाई 7 में बचत निवेश के सम्बन्ध में भारत में दृष्टिगोचर प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है। बचत आर्थिक विकास का आधार है, बचतों के विभिन्न स्त्रोत होते है, इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत घरेलू बचते है। हमारा विकास अनुभव इस बात का साक्षी है कि अन्य स्त्रोत विश्वसनीय नहीं होते। सार्वजनिक क्षेत्र अपनी आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरा है और बचत एवं निवेश मे इसकी भूमिका उत्साहवर्द्धक नहीं रही है। बचतों का निवेश आवश्यक है इसके अभाव में विकास की ऊँची दर प्राप्त नहीं की जा सकती।

इकाई संख्या 8 में आपका परिचय पूंजी-उत्पाद अनुपात से कराया जाएगा। इसमें पूंजी-उत्पाद अनुपात का अर्थ एवं प्रकारों का अध्ययन करने के पश्चात् भारत में इनकी प्रवृत्ति की चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 9 में भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या निर्धनता एवं असमानता का अध्ययन किया गया है। निर्धनता एक ऐसी समस्या है जिसे सभी अनुभव करते हैं। यह एक सापेक्ष शब्द है। हर व्यक्ति अपने से धनी व्यक्ति को देखकर अपने को गरीब समझता है। परन्तु अर्थशास्त्रियों के लिए इसका विशेष अर्थ है। निर्धनता की परिभाषा निर्धनता-रेखा के सम्बन्ध में की जाती है। निर्धनता की परिभाषा जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक न्यूनतम कैलोरी भोजन के लिए आवश्यक आय के सन्दर्भ में की गई है। इसे समय-समय पर सूचकांक के साथ बढ़ाया जाता रहा है। निर्धनता एवं असमानता के कारणों का अध्ययन करने के बाद इस इकाई में समस्या के हल के लिए कुछ सुझाव दिए गए है।

इकाई 10 में आज के युवा वर्ग के लिए सर्वाधिक ज्वलंत समस्या बेरोजगारी की चर्चा की गई है। निर्धनता की तरह बेरोजगारी की परिभाषा करना भी कठिन कार्य है। इस इकाई में आपको बेरोजगारी के स्वरूप एवं इसके लिए उत्तरदायी कारणों की जानकारी दी गई है। इकाई के अन्त में औद्योगिकरण तथा रोजगार एवं भारत सरकार की रोजगार नीति की चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 11 में कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भूमि सुधार कार्यक्रमों का विवेचन किया गया है। इस इकाई में कृषि भूमि सम्बन्धों का अर्थ, इसके विभिन्न प्रकारों को वर्णन करने के बाद समय के साथ इन सम्बन्धों मे हुए परिवर्तनों की चर्चा की गई है। इसके साथ ही भूमि सुधारों का अर्थ तथा विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों की चर्चा करने के बाद भूमि सुधारों की असंतोषजनक प्रगति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई संख्या 12 में कृषि आगतों के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। इनमें उन्नत बीज, उर्वरक, सिंचाई, पौध सरंक्षण, विद्युतिकरण, कृषि यंत्र एवं कृषि ऋणों को सम्मिलित किया गया है। इकाई संख्या 13 में हरित क्रांति का अर्थ तथा इसके विभिन्न अवयवों का वर्णन करने के बाद हरित क्रांति के आर्थिक व सामाजिक प्रभावों की चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 14 में भारतीय कृषि विकास की उपलब्धियों एवं कमियों की चर्चा की गई है। नियोजन काल में कृषि की उपलब्धियों में कृषि उत्पादन में वृद्धि, कृषि का आधुनिकरण एवं खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्रमुख रही हैं। इसकी प्रमुख कमियों में क्षेत्रीय असंतुलन प्रमुख है। इकाई संख्या 15 में खाद्यान्न आहरण व सुरक्षित भण्डार बनाने की भारत सरकार की नीति के बारे में विवेचन किया गया है। अन्तिम इकाई संख्या 16 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर विस्तार से चर्चा की गई है।

इकाई 1
भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि की प्रवृत्तियां

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

1.3 1951 के बाद का आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक वृद्धि

1.4 नियोजन अवधि के दौरान वृद्धि दर

1.4.1 नियोजन का प्रथम दशक (1951-61)

1.4.2 नियोजन का दूसरा दशक (1961-71)

1.4.3 नियोजन का तीसरा दशक (1971-81)

1.4.4 नियोजन का चौथे दशक के दौरान वृद्धि दर (1981 के बाद से)

1.4.5 सातवीं योजना (1985-90) के दौरान वृद्धि दर

1.5 प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर

1.6 1951 के बाद से भारतीय अर्थव्यवस्था में क्षेत्रवार वृद्धि

1.6.1 1950-51 बाद से कृषि की वृद्धि दर

1.6.2 औद्योगिक क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि दर

1.7 अवर-संरचनात्मक सुविधाओं में वृद्धि दर

1.7.1 ऊर्जा एवं शक्ति

1.7.2 परिवहन व संचार

1.7.3 बैंकिंग एवं वित्त

1.8 सारांश

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि भारतीय अर्थव्यवस्था किस प्रकार धीरे-धीरे वृद्धि की ओर उन्मुख हुई।

1.1 प्रस्तावना

भारत, जिसे विश्व के सबसे बड़े व सर्वाधिक स्थिर लोकतंत्र के रूप में जाना जाता है, मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। पिछले चालीस वर्षों से अधिक समय से भारत में अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र कंधे से कंधा मिलाते हुए एकसाथ क्रियाशील हैं। इस सहयोगपरक क्रियाशीलता का उद्देश्य है भारत की जड़ व निर्भर अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाते हुए उसे आत्म-निर्भर, प्रगतिशील व विकास उन्मुखी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित करना।

भारत की जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी ने न केवल देश को अपनी सतत बढ़ती जनसंख्या को दो वक्त की रोटी देने में सहायता पहुंचाई है बल्कि उसने पर्याप्त मात्रा में ऐसे कच्चे संसाधन भी सुलभ कराए हैं जो भारत के अनेक पारम्परिक उद्योगों को कुशल संचालित करते आए हैं। उद्योगों के क्षेत्र में भारत विश्व के 10 सर्वाधिक औद्योगीकृत देशों में से एक है। भारत आज प्रायः समस्त उपभोक्ता सामग्री में आत्म-निर्भर है जबकि इस्पात, सीमेन्ट, रासायनिक खाद, भारी मशीनरी व कलपुर्जों आदि के क्षेत्र में वह तेजी से अपनी निर्धारित क्षमता का उत्पादन कर रहा है। देश में पूंजी पदार्थों के उत्पादन में अत्यन्त प्रभावशाली वृद्धि हुई है। अब भारत इस स्थिति में है कि वह न्यूनतम स्तर पर पूंजी पदार्थ आयातित करते हुए अपने अधिकतम उद्योगों को स्थापित व अनुरक्षित कर सकता है। भारत ने तेजी से बढ़ते अपने प्राथमिक व माध्यमिक क्षेत्रों को सुचारू आधार देने के लिए काफी विशाल अवर-संरचना का निर्माण कर लिया है। उदाहरण के लिए आज भारत में सिंचाई परियोजनाओं व नहरों तथा जल व तापीय आधार पर उत्पादित बिजली व उसके वितरण का प्रभाव जाल बिछा हुआ है। आज भारतीय रेल व्यवस्था काफी हद तक बिजली व डीजल से संचालित है और वह एशिया की सबसे बड़ी रेल व्यवस्था है। दुनिया में भारतीय रेलवे का तीसरा स्थान है। इसके साथ ही भारतीय बैंकिंग व वित्तीय प्रणाली सतत बढ़ते हुए राष्ट्र व्यापी हो चली है। आज वह ऐसी स्थिति में है कि वह देश के दूर दराज तक से आर्थिक विकास के लिए सामुदायिक बचत को प्रोत्साहित व संवर्द्धित कर सकती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था आजादी के बाद से (विशेषतः 1951 के बाद से) और भी अधिक प्रभावशाली उपलब्धियां अर्जित कर सकती थी बशर्ते सरकार वो गलतियां नहीं करती जो उसने वास्तव में की। 1951 के बाद से भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास पर ध्यान देने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की सच्ची तस्वीर पर अपना ध्यान केन्द्रित करें।

1.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

भारत को सदैव एक ऐसे अमीर देश के रूप में जाना जाता रहा है जहां गरीब बसते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थी :

(अ). 1951 में भारत की जनसंख्या 351 मिलियन थी। यह जनसंख्या न केवल काफी विशाल थी बल्कि काफी तेज दर से बढ़ भी रही थी।

(आ). कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था जो कार्यशील जनसंख्या के 70% वर्ग को रोजगार सुलभ कराता था। सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी) को उसका योगदान 56% से भी अधिक था।

(इ). देश में उपभोक्ता माल के कुछ ही उद्योग स्थापित थे जैसे सूती व पटसन कपड़ा उद्योग, चीनी उद्योग तथा दिया-सलाई उद्योग। कई औद्योगिक इकाईयां विदेशी स्वामित्व अथवा प्रबन्धन की परिचायक थी।

(ई). अवर-संरचनात्मक सुविधाएं बाबा आदम के जमाने की थी। देश के कई भागों में परिवहन की समुचित व्यवस्था का अभाव था और न ही बैंकिंग सुविधाएं ही सुलभ थी। देश मे बचत और निवेश को बढ़ाव देने वाली संस्थाएं या तो विद्यमान ही नहीं थी और यदि वे थी भी तो पूर्णतः विकसित नहीं थी।

(उ). अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में माल और सेवाओं में प्रयुक्त तकनीकें भी काफी पुरानी थीं। देश में घोर बेरोजगार या अल्प-रोजगार व्याप्त था। देश के व्यापक प्राकृतिक व मानवीय संसाधन

घोर उपेक्षा के शिकार थे और उनका समुचित उपयोग प्रायः अनुपस्थित था। लोगों की प्रति व्यक्ति आय समूची दुनिया के संदर्भ में प्रायः नगण्य थी।

(ऊ). जहां एक ओर लोगों का एक छोटा समूह सर्वसम्पन्न था (जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापारी, बिचौलिये व उद्योगपति) और उनका जीवन स्तर काफी समुन्नत, वहीं दूसरी और जनता का अधिकांश भाग घोर अभावग्रस्त था, उनका कोई विशिष्ट जीवन स्तर ही नहीं था। कुल जनसंख्या का 50%, और कुछ राज्यों में तो उसका 60% तक काफी गरीब था। उनका रोटी, कपड़ा और मकान का उपभोग स्तर काफी गिरा हुआ था।

1.3 1951 के बाद का आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक वृद्धि

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री तथा भारत में आर्थिक नियोजन के सूत्रधार जवाहर लाल नेहरू की यह धारणा थी कि :

(i). लाभ के संवेग पर आधारित भारतीय अर्थव्यवस्था का निजी क्षेत्र मूल एवं आधारभूत उद्योंगों के विकास की उपेक्षा करेगा। इसके अतिरिक्त, निजी क्षेत्र वित्तीय व प्रबंधन की दृष्टि से दुर्बल है और इसलिए वह अपने बूते देश के तीव्र विकास में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होगा।

(ii). इस्पात, परिवहन, बैंकिंग, बीमा जैसे क्षेत्रों में सरकार को अपना उच्च नियंत्रण स्थापित करना चाहिए।

(iii). मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली भारत के लिए एक आदर्श प्रणाली सिद्ध होगी क्योंकि इसमें :-

— निजी क्षेत्र व बाजार व्यवस्थाएं उनके अपने निर्दिष्ट विधि, दर व कालावधि के अनुरूप आर्थिक वृद्धि संसाधित कर सकेंगे; तथा

— सार्वजनिक क्षेत्र (इस अर्थव्यवस्था के अंतर्गत) मूल व आधारभूत उद्योग संचालित करते हुए अवर-संरचनात्मक सुविधाएं भी जुटा सकेगा।

भारत में नियोजन के सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों का मंतव्य उत्पादन व रोज़गार, आधुनिकीकरण व आत्म-निर्भरता लोगों के बीच आय व सम्पत्ति के पुनर्वितरण तथा शोषण के अभाव व समानता के आधार पर समतावादी समाज की रचना द्वारा राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आमदनी में तीव्र वृद्धि संसाधित करना है। इस दृष्टि से भारत में भारी उद्योगों के ज़रिए तीव्र औद्योगीकरण के रूसी मॉडेल को अपनाने का उपक्रम किया गया।

योजना आयोग ने पहले भारी उद्योग और सदैव उसके साथ-साथ अवर संरचना के विकास की प्राथमिकताओं को सुनिश्चित किया। भारत की प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में उससे संबंधित काल-अवधि के भीतर स्पष्ट विकास-लक्ष्य निर्धारित किए गए। योजना अवधि के दौरान और उसके अंत में गलतियों को सुधारने, आवश्यक संशोधनों तथा समायोजना को कार्यरूप देने और क्रियान्वयन की सफलता व असफलता के आकलन संबंधी उपक्रम लगातार किए जाते रहे।

1.4 नियोजन अवधि के दौरान वृद्धि दरें

भारतीय अर्थ व्यवस्था की वृद्धि दरों के समाकलन की दृष्टि से हम स्थिर मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि पर विचार करते हैं न कि वर्तमान प्रभावी मूल्यों के आधार पर। उदाहरण के लिए, वर्तमान दरों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि दो घटकों के समन्वित प्रभाव की द्योतक होती है:

(अ) वास्तविक वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन/सृजन में वृद्धि; तथा

(ब) मूल्य स्तर में वृद्धि।

यदि राष्ट्रीय आय में पहले घटक के कारण वृद्धि हो तो वह अर्थव्यवस्था में वास्तविक वृद्धि की परिचायक होती है क्योंकि उसके यह निहितार्थ होता है कि लोग अधिक माल व सेवाएं ग्रहण कर रहे हैं। यदि किसी समय दूसरे घटक के आधार पर राष्ट्रीय आय बढ़े, जैसे मूल्य स्तर में वृद्धि, तो ऐसी वृद्धि केवल मुद्रा के संदर्भ में हो आसमान वृद्धि की परिचायक होती है। परिणामत: मुद्रा के संदर्भ में राष्ट्रीय आय को स्थिर मूल्यों के आधार पर अपस्फीत (डिफेलेंट) किया जाता है ताकि उस अवधि में दर्ज मूल्य स्तर में वृद्धि के किसी भी प्रभाव को दूर किया जा सकें।

स्थिर मूल्य पर कुल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि समुदाय के सकल उत्पादनकारी प्रयासों का सूचकांक होता है। उससे देश के संदर्भ में माल व सेवाओं में अभिवृद्धि का बोध होता है। 1970-71 के मूल्यों को स्वीकार करते हुए और उसके आधार पर पीछे और आगे की गणना करते हुए राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय दर में वार्षिक वृद्धि दर को निर्धारित किया गया है (1970-71 के स्थिर मूल्य पर) जो इस प्रकार है:

तालिका 1.1: 1950-51 के बाद में वार्षिक वृद्धि दरें

(1970-81 के स्थिर मूल्यों का आधार)

	कुल राष्ट्रीय उत्पाद	प्रति व्यक्ति आय
प्रथम योजना	3.6	1.8
द्वितीय योजना	4.0	1.9
तृतीय योजना	2.2	0.0
चौथी योजना	3.1	1.1
पांचवी योजना	4.0	2.3
छठी योजना	3.1	1.1
1951-61	3.8	1.8
1961-71	3.5	1.2
1971-81	3.2	1.1
1981-91	3.5	1.4

(स्रोत: भारत सरकार, विभिन्न आर्थिक सर्वेक्षण, प्रतिवेदन

तालिका 1.1 से यह ज्ञात होता है कि (अ) राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय विषयक समस्त पंचवर्षीय योजना की वृद्धि संबंधी प्रवृत्तियां प्रथम पंचवर्षीय योजना से शुरू हुई तथा (ब) प्रत्येक दशक की वृद्धि प्रवृत्तियों की शुरूआत 1951 से चरितार्थ हुई।

1.4.1 नियोजन का प्रथम दशक (1951-61)

इस दशक के दौरान पहली पंचवर्षीय योजना काल में भारतीय अर्थव्यवस्था में 3.6% की दर से वृद्धि हुई। इस योजना को भारी सफलता का श्रेय दिया गया क्योंकि इसके अंतर्गत उत्पादन लक्ष्य, विशेषतः कृषि के क्षेत्र में, आशातीत अर्जित किए जा सके। हालांकि पहली योजना की सफलता काफी अंशों में उस काल की अनुकूल जलवायु पर निर्भर थी, सरकार ने कई योजना-लक्ष्यों की उपलब्धि का सेहरा अपने सिर पर बांध लिया।

दूसरी पंचवर्षीय योजना पहली की अपेक्षा अधिक महत्त्वाकांक्षी थी परन्तु उसका पूर्णतः क्रियान्वयन नही हो सका। इसके लिए घोर वित्तीय सीमाएं उत्तरदायी थी। विशेषतः विदेशी विनियम संसाधनों का काफी अभाव व्याप्त था। इस योजना के मध्य काल में ही योजना आयोग को विवशतः कई विकास कार्यक्रमों एवं लक्ष्यों में काट-छांट को अंजाम देना पड़ा। इसके अतिरिक्त, इस अवधि में सामान्य मूल्य स्तर खतरनाक तरीके से बढ़ने लगा। इन समस्याओं के बावजूद, अर्थव्यवस्था की वार्षिक वृद्धि दर योजना काल में प्रभावशाली रूप से ऊंची उठ कर 4% दर्ज हुई। इस प्रकार, नियोजन के प्रथम दशक के दौरान सकल राष्ट्रीय उत्पाद 3.8% की वार्षिक दर से बढ़ा।

1.4.2 नियोजन का दूसरा दशक (1961-71)

दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंत तक भारतीय नियोजकों तथा भारत सरकार इस नतीजे तक पहुंच गई कि अब भारतीय अर्थव्यवस्था 'टेक-ऑफ' (उडान के लिए ऊपर उठने) की अवस्था पर आ गई है। अतएवं, उन्होंने यह सुझाव दिया कि तीसरी योजना को आत्म निर्भरता व अर्थव्यवस्था के आत्म-विकास के लक्ष्य को स्वीकार करना चाहिए। योजना आयोग का यह भी तर्क था कि पहली दो योजनाओं ने तीव्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक संस्थात्मक संरचना निर्मित कर दी है। इसके साथ ही योजना आयोग को यह पीड़ाजनक अनुभूति भी थी कि कृषि उत्पादन के क्षेत्र में प्रकट धीमी वृद्धि दर भारत के तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में एक अवरोधक कारक है। भारतीय अर्थव्यवस्था के तेजी से विकास के लिए आवश्यक मूल व आधारभूत उद्योगों के विकास पर बल देते हुए तीसरी पंचवर्षीय योजना ने कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की। यह योजना एक भारी दुर्घटना सिद्ध हुई क्योंकि इस योजना काल में व्यापक अकाल पड़ा और कृषि उत्पादन में भारी गिरावट प्रस्तुत हुई। 15 वर्षों में पहली बार देश ने वृद्धि की नकारात्मक वार्षिक दर प्राप्त की। फिर भी, तीसरे योजना काल में अर्थव्यवस्था की वार्षिक वृद्धि की औसत दर 2.2% अंकित थी।

तीसरे योजना काल के अंतिम वर्ष के दौरान प्रकट असफलता ने भारत सरकार को आर्थिक नियोजन रोकने और 'योजना अवकाश ' लेने पर विवश किया। 1966-69 के टौरान वार्षिक योजनाएं तथा चौथी योजना के प्रथम दो वर्ष अकाल व व्यापार मंदी से उबरने के वर्ष सिद्ध हुए। उन्होंने काफी अंशों में तीसरे योजना काल की समाप्ति के दौरान प्रकट असफलता से मुक्ति पाने के प्रयासों का परिचय दिया। दूसरे नियोजन दशक (1961-71) के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने 3.5% वार्षिक वृद्धि दर दर्ज कराने में सफलता अर्जित की।

1.4.3 नियोजन का तीसरा दशक (1971-81)

नियोजन का तीसरा दशक निम्नलिखित से अभिनिर्मित था

(अ) चौथे योजना काल के अंतिम तीन वर्ष: पिछली योजना के दौरान अर्जित 3.5% वार्षिक वृद्धि दर के अनुपात मे चौथी योजना ने 5.5% की महत्त्वाकांक्षी वृद्धि का लक्ष्य लेकर चलते हुए प्रारम्भ में भारी सम्भावनाओं का परिचय दिया। प्रारम्भ में खाद्यान्नों का रिकॉर्ड उत्पादन हुआ और उसी अनुपात में औद्योगिक उत्पादन भी बढ़ा इसके बावजूद मानसून की बारम्बार प्रकट विफलता के कारण चौथी योजना के अंतिम तीन वर्ष भारी निराशाजनक सिद्ध हुए। खाद्यानों के उत्पादन में गिरावट औद्योगिक मोर्चे पर विद्युत आपूर्ति की घोर अनियमितता से प्रकट विफलता, परिवहन की अस्तव्यस्ताओं,

औद्योगिक असंतोष तथा तेजी से चढ़ते मुद्रास्फीति के दबावों आदि के कारण यह योजना काल अत्यन्त निराशा का युग सिद्ध हुआ। सामान्यतः यह माना जाने लगा कि मध्यावधि के उपरान्त चौथी योजना निर्णायक रूप से लड़खड़ा गई। वार्षिक वृद्धि की दर इस दौरान मात्र 3.1% ही दर्ज हो सकी जबकि योजना आयोग ने 5.5% की मौलिक वृद्धि दर संकल्पित की थी।

(ब) पांचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79): जब पांचवी योजना को औपचारिक रूप से प्रस्तुत किया गया उस समय (अप्रैल 1974 में) भारत गम्भीर मुद्रास्फीति व आर्थिक संकट के दोर से गुजर रहा था। इसके बाद देश में आपातकाल की घोषणा हो गई जिसके दौरान सरकार तथाकथित बीस-सूत्रीय कार्यक्रम के क्रियान्वयन में सक्रिय हो गई। पांचवी योजना लगभग भुला दी गई और उसे सरकारी तौर पर चौथे साल ही बन्द कर दिया गया। इन सारी समस्याओं के बावजूद पांचवी योजना-काल में वृद्धि की 4% वार्षिक दर दर्ज की गई।

(स) अंतिम तीन वर्ष: भारतीय अर्थव्यवस्था ने दो वर्षों से अधिक समय तक जनता छठी योजना के अंतर्गत नियोजन ग्रहण किया जिस दौरान अर्थव्यवस्था ने ठोस प्रगति उपलब्ध की। कांग्रेस शासन के दौरान पहले योजना वर्ष में अर्थव्यवस्था को कठिन कृषि व औद्योगिक स्थितियों का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार नियोजन के तीसरे दशक के दौरान भारत को कुछ वर्षों के दौरान अत्यन्त दुर्बल व क्षीण आर्थिक क्रियाशीलता का सामना करना पड़ा (जैसे 1971-73 व 1980-81)। इस दौरान कुछ वर्ष उत्कृष्ट आर्थिक प्रगति से सम्पन्न थे। कुल मिलाकर भारतीय अर्थव्यवस्था की औसत वार्षिक वृद्धि दर केवल 3.2% ही थी। अतएवं, इस दशक के दौरान हम अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में वाषिक वृद्धि दर की दिशा में सतत गिरावट का अनुभव करते हैं:

1.4.4 नियोजन के चौथे दशक के दौरान वृद्धि दर (1981 के बाद से)

छठी पंचवर्षीय योजना ने 5.2% की वृद्धि दर का लक्ष्य स्वीकार किया जो कि पिछली दो योजनाओं के स्वीकृत वृद्धि दर लक्ष्यों से कुछ कम था। छठी योजना के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने चौतरफा प्रगति अर्जित की। योजना आयोग द्वारा निर्धारित अधिकांश लक्ष्य इस दौरान संशोधित किए गए। उदाहरण के लिए, कृषि क्षेत्र ने काफी अच्छी उपलब्धियां प्राप्त की और नियोजन प्रक्रिया के दौरान पहली बार कुछ लक्ष्य निर्धारित स्तर से भी काफी अधिक ऊंचे अर्जित किये जा सके। अंतिम वर्ष में यद्यपि अकाल की स्थितियों के कारण कृषि उत्पादन के क्षेत्र में देश के कुछ भाग में अर्जित किए जा सके। अंतिम वर्ष में यद्यपि अकाल की स्थितियों के कारण/जरूर कुछ गिरावट आई लेकिन उद्योगों के क्षेत्र में इस योजना काल की उपलब्धियां काफी कमजोर सिद्ध हुई। कुल मिला कर छठी योजना की अवधि पर्याप्त रूप से सफलता की द्योतक थी। योजना आयोग द्वारा उच्च दर उपलब्ध की जा सकी है। बाद में, सरकार ने छठी योजना काल की अर्जित वार्षिक वृद्धि दर में कुछ संशोधन कर के 3 से 4.7% ठहराया। सरकार के आलोचक इस घटी वृद्धि दर (4.7%) को भी प्रामाणिक मानने कों तैयार नहीं है। उनके अनुसार योजना आयोग ने अगले पांच वर्षों के लिए अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर के आकलन की दृष्टि से 1974-80 को आधार वर्ष माना था जो कि असामान्य रूप से खराब वर्ष था। यह वह वर्ष था जब अर्थव्यवस्था ने पहली बार वृद्धि की नकारात्मक दर पाई थी। इस आधार पर आलोचकों की यह राय थी कि छठी योजना के दौरान योजना आयोग द्वारा 4.7% की जिस घटी हुई वार्षिक वृद्धि

दर का दावा किया गया था, वह भी अतिशयोक्तिपूर्ण था और वृद्धि की वास्तविक वृद्धि केवल 3.5 के आस-पास ही थी। इसी दर का अब "आर्थिक वृद्धि की हिन्दू दर" के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः वृद्धि दर 5.3% थी जो अनुकूल स्थितियों के कारण काफी उच्च थी।

1.4.5 सातवीं योजना (1985-90) के दौरान वृद्धि दर

भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण ने तत्काल प्रभावी व स्थिर दोनों मूल्य-प्रकारों के आधार पर कुल तथा निश्चित (ग्रौस व नेट) राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दरों से संबंधित प्रारम्भिक आंकड़े प्रस्तुत किए थे। 1980-81 के स्थिर मूल्यों पर निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद सातवीं योजना के प्रारम्भिक तीन वर्षों के दौरान क्रमशः 5.0, 3.6 तथा 3.4% था। वृद्धि की यह दर देश के अधिकांश भागों में व्याप्त गम्भीर अकाल स्थितियों के संदर्भ में देखी जानी चाहिए।

1.5 प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर

अब तक हमने 1950-51 सें लेकर आज तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था की वृद्धि दर को स्थिर मूल्य विषयक राष्ट्रीय आय आंकड़ों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। लेकिन स्थिर मूल्य पर राष्ट्रीय आय आंकड़े तुलनीय होते हुए भी जनसंख्या प्रभावों को छुपाते हैं। जनसंख्या वृद्धि के प्रभाव को दूर करने के लिए हमें प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पाद अथवा प्रति व्यक्ति आय का प्रयोग करना होगा। स्थिर मूल्यों पर निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद जहां समुदाय के स्तर पर चरितार्थ कुल उत्पादनकारी प्रयास का सूचक है और उससे देश में विद्यमान माल व सेवाओं में वृद्धि का बोध होता है, वही स्थिर मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय जनता के जीवन-स्तर में आए परिवर्तनों की परिचायक है।

नियोजन के पहले दस वर्षों के दौरान प्रति व्यक्ति निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद 1.8% की वार्षिक वृद्धि दर से बढ़ा जबकि निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद की वार्षिक वृद्धि दर 3.8% थी। निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद तथा प्रति व्यक्ति आय में प्रकट इस अन्तर को इस दशक के दौरान अर्जित जनसंख्या वृद्धि के संदर्भ में भली भांति समझा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि भारत में जनसंख्या 1957 में 361 मिलियन थी जो 1961 में बढ़ कर 439 मिलियन हो गई। यह वृद्धि पूरे दशक के दौरान 78 मिलियन अधिक थी अथवा प्रति वर्ष उसकी वृद्धि 2.1% थी।

नियोजन के दूसरे दशक (1961-71) के दौरान प्रति व्यक्ति आय प्रति वर्ष केवल 1.2% वृद्धि की दर से ही बढ़ सकी जबकि निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद में इस दौरान प्रति वर्ष 3.5% वृद्धि दर्ज हुई। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, तीसरी योजना घोर असफलताजनक थी और उसके परिणामस्वरूप निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद में वार्षिक वृद्धि दर केवल 2.7% थी जबकि प्रति व्यक्ति आय इस दौरान शून्य थी। दूसरे शब्दों में, तीसरी योजना काल में जनसंख्या वृद्धि ने राष्ट्रीय आय में वृद्धि को पूर्णतः निष्क्रिय कर दिया। चौथी योजना अवधि के दौरान पहली दो वार्षिक योजनाओं तथा योजना के प्रारम्भिक दो वर्षों के श्रेय प्रद आर्थिक कार्य-सम्पादन ने अपनी बदोलत भारतीय अर्थव्यवस्था को निश्चित राष्ट्रीय उत्पाद के क्षेत्र में 3.5% तथा प्रतिव्यक्ति आय में 1.2% वृद्धि का अवसर प्रदान किया।

नियोजन के तीसरे दशक (1971-81) के दौरान प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि की दर 1% से कुछ अधिक दर्ज हुई जो इस सामान्य तथ्य की स्पष्ट सूचक है कि देश में जनसंख्या वृद्धि प्रायः राष्ट्रीय आय में वृद्धि-लाभों को निष्क्रिय बना देती है।

इस प्रकार, आर्थिक नियोजन के प्रथम 30 वर्षों (1951-1981) के दौरान प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि केवल 1.4% रही जो कि काफी कम है। प्रति व्यक्ति आय में इतनी कम वृद्धि 'गरीबी हटाने' की समस्त चर्चाओं को प्रायः निरर्थक सा बना देती है। जनसंख्या वृद्धि रोकने के लिए कारगर कदम न उठा सकने की स्थिति में भारत में प्रति व्यक्ति आय दर में वृद्धि कर पाने की कोई वास्तविक सम्भावना नहीं दिखाई देती।

1.6 के बाद से भारतीय अर्थव्यवस्था में क्षेत्रवार वृद्धि 1951

अब तक इस पाठ में हम लोग समग्र रूप से भारतीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि पर चर्चा करते आए हैं। अब हमें क्षेत्रवार वृद्धि दरों पर चर्चा करनी चाहिए जिसके अन्तर्गत हम सबसे पहले कृषि पर ध्यान देंगे।

1.6.1 1950-51 के बाद से कृषि की वृद्धि दर

योजना आयोग ने कृषि क्षेत्र में विकास के लिए नियोजन संबंधी चार प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किए:

(अ) कृषि उत्पादन में वृद्धि;

(ब) कृषि क्षेत्र में अतिरिक्त रोजगार के अवसर जुटाने का प्रावधान;

(स) भूमि पर जनमंख्या के दबाव को कम करने के लिए अतिरिक्त कृषि जनसंख्या को द्वितीयक तथा कृषि सहयोगी क्षेत्रों में स्थानान्तरित करने का प्रबंध; तथा

(द) भू-जोतों पर अंकुश तथा अन्य भूमि सुधार संबंधी उपायों द्वारा कम से कम कुछ अंशों में ग्रामीण क्षेत्रों में समानता व न्याय के प्रसार का संकल्प।

हालांकि पंचवर्षीय योजनाएं इन सभी उद्देश्यों के लिए कार्यक्रम योजनाएं प्रवर्तित करने को कृत संकल्प थी परन्तु व्यवहार में नियोजकों ने केवल पहले उद्देश्यों पर ही पर्याप्त ध्यान दिया यानि इन योजनाओं में कृषि उत्पादन में वृद्धि पर ही बल दिया गया। कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए एकाधिक क्रम में इन रणनीतियों को संबोधित/परिचालित किया गया: नई कृषि संबंधी रणनीति, आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी, जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी, हरित क्रांति और न जाने क्या-क्या। इस रणनीति मे समाहित रहे हैं: समूचे देश में सामुदायिक विकास व कृषि विस्तार सेवाओं की स्थापना, सिंचाई सुविधाओं, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं, कृषि यंत्रों, बीजों की उन्नत किस्मों, परिवहन सुविधाओं, विद्युत आपूर्ति, विपणन तथा संस्थाजन्य ऋण सुविधाओं आदि का पर्याप्त सृजन एवं विस्तार। 1950 के दौरान कृषि क्षेत्र में हुई वार्षिक वृद्धि दरों का विवरण तालिका-1.2 में वर्णित है।

सुविधा की दृष्टि से हमने 1950-51 से प्रारम्भ नियोजन अवधि को दो काल-खण्डों में वर्गीकृत किया है – पूर्व-हरित क्रान्ति अवधि(1951-65) तथा उत्तर-हरित क्रांति अवधि (1965-86)*

तालिका - 1.2

1. 50-51 के बाद से कृषि क्षेत्र में अर्जित वार्षिक वृद्धि दर

(प्रतिशत में)

समस्त खाद्यान	1951-65	1965-87
	4.2	2.2

चावल	4.5	2.0
गेहूं	5.1	6.3
खड़े अनाज	3.7	0.2
दालें	2.9	
गैर-खाद्यान		
तिलहन	3.8	1.3
कपास	5.0	0.8
गन्ना	5.6	1.8
आलू	5.5	5.9

स्रोत :1) एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लान्स (अप्रैल 1986)

2) कृषि मंत्रालय, वार्षिक रिपोर्ट, 1987-88

यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि खाद्यानों व गैर खाद्यानों के कुल उत्पादन में अर्जित यह वृद्धि कृषि योग्य बनाए गए अतिरिक्त कृषि-क्षेत्र तथा प्रति हेक्टेयर अर्जित आधेक उपज का सम्मिलित प्रतिफल है।

जोत के लिए अधिक जमीन को उपयोगी बनाने की दृष्टि से विशेषतः पूर्व-हरित क्रांति अवधि में विशेष उपलब्धि अर्जित की गई। इस दौरान नई जोतयोग्य जमीन को खेती के लिए तैयार किया गया तथा बंजर जमीन को कृषि योग्य बनाने के लिए सिंचाई सुविधाओं को उन क्षेत्रों तक पहुंचाया गया। 1964-65 के बाद जोत के प्रसार की सम्भावनाओं में धीरे-धीरे गिरावट आने लगी।

भारत में प्रति हेक्टेयर उपज में भी प्रबल वृद्धि अंकित हुई। यह वृद्धि अनेक कारकों से परिचालित हुई, जैसे सिंचाई सुविधा का विस्तार जोत के लिए सघन पद्धतियों का प्रयोग, आदि। आधुनिक कृषि व्यवहारों के प्रवर्तन ने जैसे (वर्णसंकर बीज के प्रयोग) सभी फसलों के संदर्भ में प्रति हेक्टेयर उपज सतत बढ़ाने की दिशा में निर्णायक योगदान दिया। 1962 के बाद सरकार ने जीव-रायासनिक प्रौद्यौगिकी का शुभारम्भ किया ताकि कृषि उत्पादकता तथा कृषि उत्पादन, दोनों को अभिवृद्ध किया जा सके।

पूर्व हरित क्रान्ति अवस्था विषयक पहली अवधि में खाद्यानों का उत्पादन प्रभावशाली रूप से 4.1% की वार्षिक वृद्धि दर से बढ़ा। प्रमुख खाद्यानों (चावल व गेहूं) ने खड़े अनाज व दालों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची वृद्धि दरें अर्जित की। इस दौरान गैर-खाद्यान्नों की वार्षिक वृद्धि दरें भी प्रभावशाली रूप से बड़ी।

दूसरी उत्तर-हरित क्रान्ति अवधि के दौरान वार्षिक वृद्धि दरें काफी कम अंकित की जा सकी। आधुनिक जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा खाद्यान्नों में केवल गेहूं के उत्पादन की वृद्धि दर को ही कायम रखा जा सका जो कि इस दौरान 6.3% प्रति वर्ष विद्यमान रही। आश्वस्त वर्षा अथवा अच्छी सिंचाई सुविधाओं से सम्पन्न क्षेत्रों तक आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी की पहुंच ने खड़े अनाजों, तिलहनों और दालों को अपेक्षाकृत घटिया जमीन पर ढकेल दिया। इसके कारण इन फसलों ने न तो उत्पादकता और न ही कुल उत्पादन के संदर्भ में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि अर्जित की।

जीव-रासायनिक प्रौद्योगिकी का प्रचलन प्रमुख खाद्यानों के उत्पादन के संदर्भ में राज्यों के हिस्सों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी रहा। उदाहरण के लिए, पंजाब, हरियाणा व उत्तर प्रदेश से मिल कर बने उत्तरी क्षेत्र का हिस्सा चावल के कुल उत्पादन की दृष्टि से बढ़कर 10.4% से

22.5% पहुंच गया जबकि चावल उत्पादन मे उत्तर-पूर्वी राज्यों (पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, बिहार, असम व अन्य उत्तर पूर्व राज्य) का हिस्सा 38% से गिर कर केवल 28% ही रह सका। गेहूं के मामले मे पश्चिमी क्षेत्र से हट कर उत्तरी क्षेत्र प्रमुख परिवर्तित कृषि-पैदावार का क्षेत्र बन कर उपस्थित हुआ।

आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी तथा कृषि उत्पादन में आई महत्वपूर्ण वृद्धि के बावजूद भारतीय कृषि अभी भी "मानसून के जुए" की स्थिति में व्याप्त है। देश में आज तक बहुत अधिक फसल विफलताएं तथा उत्पादन के उलट-फेर चरितार्थ होते आए हैं।

1.6.2 औद्योगिक क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि दर

पिछले लगभग चार दशकों के दौरान औद्योगीकरण में अर्जित तीव्र वृद्धि भारतीय आर्थिक विकास का एक विलक्षण अनुभव है। सरकार ने 1948 तथा 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों के अंतर्गत सचेतन व संकल्पित औद्योगीकरण प्रक्रिया को प्रवर्तित किया। पंचवर्षीय योजनाओं ने उसे उत्साहपूर्वक क्रियान्वित भी किया। इस दृष्टि से सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में भारी निवेश किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश प्रायः कुल व्यय के 23 से 24% के बीच विद्यमान रहा। केवल प्रथम योजना इस निवेश प्रकार का अपवाद था जब औद्योगिक निवेश अनुपात केवल 6% था। अधिकांश निवेश बड़े उद्योगों पर किया गया था।

योजना आयोग ने जो विकास रणनीति अपनाई वह रूसी मॉडल पर आधारित थी। इसमें भारी उद्योगों के बल पर तीव्र औद्योगीकरण की संकल्पना की गई थी। इस औद्योगिक रणनीति के लिए उच्च प्रौद्योगिक क्षमता के विकास की महती आवश्यकता थी जिसने अपने क्रम में प्रबल, क्रियाशील व वृद्धि-उन्मुखी अभियांत्रिकी क्षेत्र के विकास पर बल दिया जिसमें यंत्र-निर्माण संबंधी उद्योगों की स्थापना सम्मिलित थी।

औद्योगिक वृद्धि की वार्षिक दर सभी पंचवर्षीय योजनाओं में एक समान नहीं रही है। वस्तुतः वह घटावकारी ही रही है। प्रथम योजना (1951-56) के दौरान सरकार ने औद्योगिक मोर्चे पर कोई बड़ा अभियान नहीं लागू किया। उसके अंतर्गत उद्योगों का आवंटन कुल व्यय का मात्र 6% ही था। फिर भी, सरकार ने कुल बड़ी औद्योगिक इकाईयों की स्थापना अवश्य की जैसे चितरंजन लोकोमोटिव्स, इंडियन टेलिफोन इंडस्ट्रीज, इत्यादि। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य था प्रमुख अवर-संरचनात्मक इनपुट्स के लिए नियोजन। इसके तहत अनेक मूल उद्योगों की स्थापना की गई जैसे इस्पात, रासायनिक खाद, मशीन के कलपुर्जे, औषधि व दवाईयों के कारखाने, इत्यादि। दूसरी योजना (1965-61) के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के तीन इस्पात संयंत्र स्थापित हुए साथ ही, रसायनों कपड़ा उद्योग, सीमर, चाय, चीनी, कागज, आटा व तेल मिलों, खदानों आदि के लिए मशीनी कलपुर्जे बनाने के कारखाने भी स्थापित किए गए। यद्यपि दूसरी योजना में अधिकांश सार्वजनिक निवेश भारी व मूल उद्योगों के क्षेत्र मे किया गया, फिर भी पटसन व सूती कपड़ा उद्योग, चीनी इत्यादि उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के आधुनिकीकरण व पुनरुपकरणीकरण की दिशा में इस दौरान अच्छी प्रगति उपलब्ध की जा सकी। ऐसे समस्त औद्योगीकरण के फलस्वरूप, नियोजन के प्रथम दशक में उद्योगों के क्षेत्र में 7.5% की वार्षिक वृद्धि दर का अनुमान किया गया। यह कृषि क्षेत्र या समूची अर्थव्यवस्था द्वारा अर्जित वार्षिक वृद्धि दर से कहीं अधिक ऊंची वृद्धि दर थी।

दूसरे दशक के दौरान उद्योगों की वृद्धि दर

तीसरी योजना (1961-65) ने उद्योग, ऊर्जा व परिवहन को सक्षम बनाने के लिए अधिकाधिक निवेश का आग्रह किया ताकि औद्योगिक व प्रौद्योगिकी सम्बन्धी परिवर्तनों की प्रक्रिया तेज की जा सके। तीसरी योजना ने उद्योगों के क्षेत्र में 14% की वार्षिक वृद्धि दर की संकल्पना की। हालांकि तीसरी योजना अवधि के प्रथम चार वर्षों के दौरान औद्योगिक उत्पादन 7.6% की वार्षिक वृद्धि दर से ही बढ़ सका। जबकि उत्पादक व मूल उद्योगों में वृद्धि अच्छी थी, प्रमुख उपभोक्ता सामग्री (जैसे सूती कपड़ा व चीनी) के संदर्भ में वृद्धि की यह दर केवल 1.3% से 2% के बीच ही रह पाई।

1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में देश को गम्भीर अकाल व व्यापक व्यापार मंदियों के दोर से गुजरना पड़ा। ऐसी स्थिति में 1966-67 के दौरान औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर केवल 0.2% ही दर्ज हुई जबकि 1967-68 के दौरान वह 0.5% अंकित हुई। चौथी योजना के प्रथम दो वर्षों में कृषि उत्पादन में सुधार के फलस्वरूप औद्योगिक निवेश तथा उत्पादन कुछ अवश्य सम्भला। इन सभी समस्याओं के रहते नियोजन की दूसरी अवस्था के दौरान औद्योगिक वृद्धि की दर 5.5% ही रह सकी।

नियोजन के तीसरे दशक (1971-81) में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर

नियोजन का तीसरा दशक औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में और अधिक गिरावट का काल सिद्ध हुआ। चौथी योजना ने 8% वार्षिक वृद्धि का साधारण लक्ष्य स्वीकार किया था। वास्तविक वृद्धि दर इस योजना अवधि में केवल 5% ही उपलब्ध हो सकी। ऐसा इस कारण हुआ क्योंकि इस्पात व रासायनिक खाद जैसे मूल उद्योगों की कार्य-क्षमता में गिरावट आई, पूंजीगत वस्तुओं से संबंधित उद्योगों में अपर्याप्त निवेश व तत्परिणामी कम उत्पादन हुआ तथा हड़ताल व असंतोषप्रद औद्योगिक संबंधों के फलस्वरूप व्यापक उत्पादन अवरोध उपस्थित हुआ। पांचवी योजना में सरकार ने देश में आपातकाल लागू कर दिया तथा हड़तालों व तालाबंदियों पर प्रतिबंध लगा दिया। लाईसेंस हटाने की प्रक्रिया का शुभारम्भ करते हुए सरकार ने निजी क्षेत्र एकाधिकारी प्रतिष्ठानों व भारत में निवेश की इच्छुक विदेशी कंपनियों विनियोग प्रतिबंध दूर करने का उपक्रम किया। इन समस्त प्रोत्साहनों के बावजूद पांचवी योजना के प्रारंभिक चार वर्षों के दौरान औद्योगिक वृद्धि की औसत वार्षिक दर लक्षित 8.1% की तुलना में 5.3% ही दर्ज हो सकी। पांचवी योजना अवधि में औद्योगिक उत्पादन में शिथिल वृद्धि के लिए जो प्रमुख उत्तरदायी कारक थे, उनमें अनेक उद्योगों में निर्धारित क्षमता का अभाव, ऊर्जा व परिवहन की कमी तथा व्यवधानग्रस्त औद्यौगिक संबंध विशेष उल्लेखनीय हैं।

नियोजन के तीसरे दशक में अंतिम तीन वर्षों के दौरान औद्योगिक क्षेत्र की कार्यप्रणाली में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हो सका। औसतन वार्षिक वृद्धि दर इस दौरान केवल 4% ही रह पाई।

1980 के दशक में औद्योगिक वृद्धि की दर

छठी योजना (1980-85) के दौरान औद्योगिक उत्पादन में 7% वृद्धि के लक्ष्य की तुलना में उपलब्ध वास्तविक वृद्धि की दर केवल 5.0% ही थी। इस्पात, सीमेन्ट, अलौह धातु, रासायनिक खाद, कपड़ा, चीनी, दवा व औषध-निर्माण, वाणिज्यिक वाहन आदि के क्षेत्र में उत्पादन में कमी दृष्टिगोचर हुई। मूल व भारी उद्योगोंकी तुलना में अभिजन उपभोक्ता सामग्री संबंधी उद्योगों ने काफी ऊंची वृद्धि दर अर्जित की। विद्युत व ऊर्जा में कटौती, आवश्यक कच्चे माल में भारी कमी, कई सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों में घोर अक्षमता तथा खराब प्रौद्योगिक अद्यतनीकरण – ये समस्त कारण छठी योजना के दौरान औद्योगिक उत्पादन लक्ष्यों में गिरावट के लिए उत्तरदायी हैं।

सातवीं योजना के विनिर्माण क्षेत्र के लिए 8% की वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य निर्धारित किया था। वर्तमान संकेत प्रथम दो वर्षों के आधार पर इस वृद्धि दर की पुष्टि करते प्रतीत होते है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक उत्पादन सूचकांक के अनुसार 1985-86 तथा 1986-87 के संदर्भ में विनिर्माण उत्पादन क्रमशः 9.7% व 9.0% बढ़ा। हालांकि 1987-89 के दौरान यह वृद्धि घट कर 7.5% के रूप में उल्लेखनीय सुधार प्रस्तुत हुआ। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के एक आकलन के अनुसार 1989-90 के दौरान उद्योग जगत की 8 से 9% की वृद्धि दर अर्जित करने की प्रबल सम्भावना थी। उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 1960 व 1970 के दशकों के दौरान औद्योगिक उत्पादन में घटी वृद्धि दरों के 1980 के दशक में सम्भलने की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं।

1.7 अवर संरचनात्मक सुविधाओं में-वृद्धि की दर

कृषि संबंधी तथा औद्योगिक उत्पादन ऊर्जा परिवहन सम्प्रेषण व संचार, बैंकिंग व वित्त, विपणन, इत्यादि पर निर्भर करता है। ये समस्त सुविधाएं व सेवाएं अपने समग्र रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की अवर संरचना कहलाती है। इन्हें कुछ लोग 'आर्थिक लागतों' (इकानामिक ओवरहेड्स) की भी संज्ञा देते हैं। तीव्र कृषि व औद्योगिक वृद्धि के लिए ये समस्त सुविधाएं अनिवार्य पूर्व-शर्तें हैं।

भारतीय नियोजकों ने पहली योजना से ही अवरसंचरनात्मक सुविधाओं के विस्तार को उच्च प्राथमिकता प्रदान की। कुल योजना मद का 40 से 45% भाग अवर संरचनात्मक सुविधाओं के विकास के लिए सुरक्षित रखा गया। इस भारी निवेश के फलस्वरूप 1950-51 से लेकर अब तक अवरसंरचना वृद्धि के संबंध में यहां संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

1.7.1 ऊर्जा एवं शक्ति

विद्युत शक्ति आर्थिक विकास का एक अनिवार्य संघटक है। घरेलू तथा वाणिज्यिक उपयोग संबंधी विद्युत आपूर्ति की मांग आज कई गुना बढ़ गई है। यह वृद्धि जनसंख्या व आर्थिक विकास के सतत ऊंचे स्तरों के कारण विशेषतः प्रकट हो रही है। इसका एक अमिट लक्षण कृषि में विद्युत शक्ति का बढ़ता उपयोग है। इसके लिए ग्रामीण विद्युतीकरण, उत्थापक सिंचाई (लिफ्ट इरिगेशन) तथा पम्प सेटों के ऊर्जात्मक प्रयोग विषयक अनेक कार्यक्रम हाल के वर्षों में अधिकाधिक प्रवर्तित किए गए हैं। इनके परिणामस्वरूप, विद्युत शक्ति के कुल उपयोगीकरण में कृषि के भाग में नाटकीय वृद्धि प्रस्तुत हुई है। 1960-61 में यह भाग 6% था जो 1985-86 के दौरान बढ़ कर 19% हो गया। यह उल्लेखनीय है कि इसी अवधि में उद्योगों का हिस्सा 69% से गिर कर 54% ही रह सका। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि औद्योगीकरण अब सुस्त हो चला है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि उद्योग शक्ति के अन्य स्रोतों की ओर प्रयाण कर रहे हैं। यह अवश्य सच है कि बड़ी औद्योगिक इकाईयों ने अब अपनी स्वयं की शक्ति संसाधन प्रणाली इजाद कर ली है। वे अपने उत्पादन के लिए अब अपर्याप्त व अविश्वसनीय सार्वजनिक सुविधाओं पर ही आश्रित नहीं हैं।

शक्ति के उत्पादन व वितरण के विषय में दो तथ्यों को समझना और उन पर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम, विद्युत उत्पादन 1950-51 में 5 बिलियन किलोवॉट था जो बढ़ कर छठी योजना के अंत तक 16 बिलियन किलो वॉट तथा 1987-88 में 20 बिलियन किलो वॉट हो गया द्वितीय, किसी भी पंचवर्षीय योजना द्वारा अपने कार्य-काल में अतिरिक्त शक्ति-उत्पादन के लक्ष्यों को नहीं पाया जा सका। उपलब्धि में यह कमी 16% से लेकर 40% (चौथी योजना) तक रही है। नियोजन की

इस मूल क्षेत्र विषयक शिथिलता का यह सम्मिलित प्रभाव हुआ है कि शक्ति व ऊर्जा के संकट ने अर्थव्यवस्था की वृद्धि-प्रक्रिया का गला घोंटने तक की नौबत ला दी। आज बिजली की कमी और उसकी नियमित अनिवार्य कटौती ने प्रायः सभी राज्यों को त्रस्त कर रखा है इस दृष्टि से सर्वाधिक दुष्प्रभावी राज्य पश्चिम बंगाल है जिसकी राजनीतिक कारणों से केन्द्र सतत उपेक्षा कर रहा है।

शक्ति के अभाव की यह समस्या छठी योजना के बाद से शक्ति के क्षेत्र में प्रकट हुई नई प्रगतिशीलता के कारण अब कुछ सम्भलती/सुधरती जा रही है। तापीय विद्युत शक्ति में सतत सुधार व विद्यमान क्षमता के प्रभावी उपयोगीकरण ने इस प्रगतिशीलता को प्रस्तुत किया है। एक आकलन के अनुसार स्वयं छठी योजना की अवधि में ही विद्युत अभाव 16% से घट कर 6% रह गया था। योजना आयोग के एक ताज़े अनुमान के अनुसार सातवीं योजना काल में अतिरिक्त क्षमता बढ़ाने संबंधी कार्यक्रमों द्वारा शक्ति विषयक समस्त मांगें सातवीं योजना की समाप्ति तक संसाधित की जा सकेंगी।

1.7.2 परिवहन का संचार

भारतीय नियोजकों ने परिवहन व संचार के विकास को भी उच्च प्राथमिकता दी। पहली दो योजनाओं के दौरान परिवहन व संचार पर कुल व्यय का 27 से 28% भाग सुरक्षित रखा गया। बाद में यह आवंटन घटा दिया गया। इस आवंटन का अधिकांश रेलवे के विकास की ओर मोड़ दिया गया।

आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ से ही परिवहन क्षेत्र ने महत्वपूर्ण वृद्धि अंकित की है। भारतीय रेलवे ने टन भार के आधार पर लगाए गए माल भाड़े में प्रति वर्ष औसतन 3.1% की वृद्धि अंकित की है। हालांकि दूरी व लम्बाई के संदर्भ में यह वृद्धि घटी सिद्ध हुई जो कि वस्तुतः 0.4% प्रति वर्ष थी। सड़क मार्गीय नेटवर्क 4.5 की वार्षिक दर से बढ़ा है जबकि सड़क परिवहन साधनों में 6.8% की वृद्धि हुई है। जहाजरानी लदान (टन के अधिभार में) प्रभावशाली रूप से 11% बढ़ा है जबकि प्रमुख बंदरगाहों पर आवागमन 1951 के 19 मिलियन टन से बढ़ कर 1985 में 107 मिलियन टन हो गया। यह वृद्धि 5% की प्रभावकारी वार्षिक वृद्धि की द्योतक आधुनिक संचार प्रणालियां – डाक व तार सेवाएं, दूरसंचार प्रणाली रेडियो प्रसारण, टेलिविजन व सूचना सेवाएं – विकास प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग बन गई है। 1950-51 के बाद से समूचे देश में डाक सेवाओं का नेटवर्क लगातार बढ़ता जा रहा है। वह अब ग्रामीण, पहाड़ी तथा जनजातीय क्षेत्रों तक अपनी पहुंच बनाता जा रहा है। दूरसंचार क्षेत्र नई तकनीकों का अधिकाधिक समावेश कर रहा है जिनमें इलेक्ट्रोनिक्स, उपग्रह संचार व विविध प्रसारण नेटवर्क विशेष उल्लेखनीय हैं।

1.7.3 बैंकिंग एवं वित्त

जब से देश में आर्थिक नियोजन स्वीकार किया गया है, बैंकिंग व्यवस्था पर्याप्त रूप से लगातार बढ़ती जा रही है। इस वृद्धि का कुछ आभास अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की क्रियाशीलता से हो सकता है जिसे तालिका 1.3 प्रदर्शित कर रही है:

तालिका-1.3 : अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों की वृद्धि एवं क्रियाशीलता

वर्ष	बैंकों की संख्या	बैंकों में जमा राशि (करोड़ रु. में)	बैंक ऋण (करोड़ रु. में)
1950-51	430	82	580
1970-71	73	5,910	4,690

1988-89	275	140,000	81,000

[स्रोत : रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया, रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स (विविध अंक)]

1950-51 के बाद से बैंकों की संख्या में रिजर्व बैंक की छोटे बैंकों के विलय एवं समायोजन नीति के कारण कमी आई। इसका मंतव्य भारत में बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ करना है। 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपरांत भारत में बैंकिंग व्यवसाय में अत्यधिक विस्तार हुआ है। 1951 से 1971 की बीस वर्षों की अवधि में बैंकों में जमा राशि 7 गुना अधिक बढ़ी। 1971 से 1989 के अगले 18 वर्षों की अवधि में तो यह वृद्धि लगभग 30 गुना अधिक है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान जमा राशियों तथा ऋणों में व्यापक प्रसार हुआ है। बैंक वास्तव में विकास-उन्मुखी हो चले हैं। बैंकिंग अब बड़ी इकाईयों के बजाय छोटी इकाईयों पर अभिकेन्द्रित होती जा रही हैं। अनेक नए प्रयोग जैसे लीड बैंक योजना, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, आदि बैंकिंग प्रणाली को अधिकाधिक चरितार्थ कर रहे हैं। आर्थिक विकास के साथ-साथ उसे कार्यकारणत्व रूप में बैंकिंग व्यवस्था सतत विकसित हो रही है।

1951 के बाद से योजना आयोग ने अन्य वित्तीय संस्थाओं में शानदार वृद्धि होते देखी है। इनमें स्टॉक एक्सचेंज, छोटे निवेशकों के निवेश को बढ़ाने वाला यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया, जीवन बीमा निगम, आई.एफ.सी.आई., आई.डी.बी.आई. तथा आई.सी.आई.सी.आई. विशेष उल्लेखनीय है।

1.8 सारांश

इस इकाई में आपके अध्ययन को सुविधाजनक बनाने के लिए आज़ादी के बाद से अर्थव्यवस्था की समग्र वृद्धि दर तथा उसके विविध क्षेत्रों की क्षेत्रवार वृद्धि दरों का वितरण प्रस्तुत किया गया है। 1960 के दशक में महसूस किए जाने वाली वृद्धि में मंदी व शिथिलता की प्रक्रिया पर छठी योजना व उसके बाद कुछ प्रभावी अंकुश अवश्य लगा है। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था की उत्तरजीविता परिपुष्ट होती है।

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. रूद्र दत्त एवं के.पी.एम. सुन्दरम : इंडियन इकॉनोमी
2. भारत सरकार, योजना आयोग : छठी व सातवीं एवं आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं संबंधी दस्तावेज
3. रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया : रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाईनेन्स

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय अर्थव्यवस्था नियोजन के प्रथम दशक में अर्जित वृद्धि दर के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करें।
2. क्या आप मानते हैं कि द्वितीय योजना में औद्योगिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि अर्जित की थी? स कारण उत्तर दें।

इकाई 2

भारत में नियोजन एवं विकास प्रक्रिया-नियोजित विकास की समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 पंचवर्षीय योजनाओं के उददेश्य

2.3 नियोजित आर्थिक विकास की विशेषताएँ

2.4 नियोजन की प्रमुख उपलब्धियां

2.5 नियोजन के कुछ महत्वपूर्ण सबक

2.6 नियोजित विकास के अप्राप्त उद्देश्य

2.7 नियोजित विकास की विफलताएँ

2.8 सारांश

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

* जान सकेंगे कि भारत में नियोजन के क्या लक्ष्य रहे हैं?
* समझ सकेंगे कि इस काल में हमारी उपलब्धियों में क्या कमियां रहीं।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में यह जानने का प्रयास करेंगे कि भारत में स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक विकास की उपलब्धियां क्या व कितनी रहीं? विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य क्या रहे हैं एवं किस सीमा तक उन्हें प्राप्त किया गया है? इसी के साथ नियोजन की कमियों एवं विफलताओं पर भी आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे।

स्वतंत्रता से पहले देश की आर्थिक समस्याओं के निवारण एवं आर्थिक विकास के लिए कुछ योजनाओं का निर्माण एवं प्रकाशन किया गया था। इन योजनाओं में देश के आठ प्रमुख उद्योगपतियों द्वारा प्रकाशित 'बम्बई योजना', भारतीय श्रम-संघ द्वारा निर्मित एवं प्रकाशित 'जन योजना' अखिल भारतीय विनिर्माणक संगठन द्वारा प्रकाशित 'विश्वेश्वरैया-योजना' तथा गांधीजी ने आर्थिक विचारों पर आधारित श्रीमन्नारायण द्वारा निर्मित 'गांधीवादी योजना' प्रमुख है लेकिन इन सभी योजनाओं का केवल सेद्धांतिक महत्व ही है क्योंकि इनमें से किसी भी योजना का क्रियान्वयन नहीं हो सका।

अगस्त 1947 में भारत के स्वतंत्र होने पर सर्वप्रथम औद्योगिक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन का क्रम प्रारंभ हुआ। देश की प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा सरकार द्वारा अप्रैल, 1948 में की

जिसने मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाते हुए आर्थिक विकास के ढांचे की भावी रूपरेखा प्रस्तुत की गई। 26 जनवरी 1950 से स्वतंत्र भारत का संविधान लागू हुआ जिससे देशवासियों को मौलिक अधिकारों की प्राप्ति एवं राज्य को नीति निर्देशक तत्वों के अनुरूप देश का भावी विकास करने का पथ प्रशस्त किया गया। मार्च 1950 में सरकार ने योजनाओं के निर्माण एवं सीमित साधनों के कुशलतम उपयोग के लिए पं जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 'योजना आयोग' की स्थापना की। तभी से योजना आयोग द्वारा देश के आर्थिक विकास एवं आर्थिक-सामाजिक शोषण से मुक्ति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया जा रहा है। हमारे देश में 1 अप्रैल 1951 से प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरूआत हुई। 31 मार्च 1990 को सातवीं पंचवर्षीय योजना समाप्त हुई है एवं आठवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल 1992 से 1997 तक पूरी हुई। वर्तमान मे नौवीं पंचवर्षीय योजना चल रही है। यह अवधि योजनओं के विकास के लाभों का मूल्यांकन करने के लिए पर्याप्त है। इस अवधि के दौरान योजना प्रक्रिया को कुछ संकटों का सामना भी करना पड़ा फिर भी योजना आयोग द्वारा योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन का क्रम आज तक अनवरत जारी है जो तालिका - 2.1 से स्पष्ट है।

तालिका 2.1

भारत की योजनाएँ

योजना	अवधि	सार्वजनिक क्षेत्र का योजना परिव्यय (करोड़ रुपये)
पहली पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 51 से 31 मार्च 56	1960
दूसरी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 56 से 31 मार्च 61	4600
तीसरी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 61 से 31 मार्च 66	8577
तीन वार्षिक योजनाएँ	1 अप्रैल 66 से 31 मार्च 69	6626
चौथी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 69 से 31 मार्च 74	15,779
पांचवी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रैल 74 से 31 मार्च 79	39,426
वार्षिक योजना	1 अप्रेल 79 से 31 मार्च 80	12,177
छठी पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 8० से 31 मार्च 85	1,10,467
सातवीं पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 85 से 31 मार्च 90	1,78,570
आठवीं पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 92 से 31 मार्च 97	4,34,100
नौवीं पंचवर्षीय योजना	1 अप्रेल 97 से 31 मार्च 2002	8,59,000

इस प्रकार तीसरी पंचवर्षीय योजना के तुरंत बाद चौथी पंचवर्षीय योजना प्रारंभ नहीं हो सकी एवं तीन वर्षों के लिए (1966-69) वार्षिक योजनाएँ बनाई गई। इस अवधि को 'योजना से छुट्टी' के नाम से भी जाना जाता है। तीसरी योजना की अवधि में 1962 में चीन का आक्रमण हुआ, 1965 में पाकिस्तान से युद्ध हुआ एवं 1965-66 में भयंकर सूखा पड़ा। इनसे भारतीय अर्थव्यवस्था पर भारी दबाव पड़ा एवं चौथी योजना को निर्धारित समय पर शुरू नहीं किया जा सका। इसी प्रकार पांचवी योजना के दौरान केन्द्र में जनता सरकार के आने से पांचवी योजना को एक वर्ष पूर्व मार्च 1978 में ही समाप्त कर दिया गया एवं 1978-83 की अवधि के लिए छठी योजना बनाई गई। लेकिन जनता सरकार के पतन के बाद पुनः 1980-85 की अवधि के लिए नई छठी योजना बनाई गई। अतः 1978-79 के योजना-परिव्यय को पांचवी योजना में सम्मिलित किया जाता है एवं 1979-80 के परिव्यय को अलग से वार्षिक योजना के रूप में दर्शाया जाता है।

2.2 पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्य

इकाई के इस भाग में हम विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन करेंगे।

प्रथम योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे :–

1. देश के विभाजन से प्रभावित अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना
2. खाद्यान्न संकट को दूर करना एवं कच्चे माल की स्थिति को सुधारना।
3. मुद्रा स्फीति रोक लगाना।
4. आर्थिक पूंजी के निर्माण के लिए सड़क का निर्माण नहरों, तथा जलविद्युत एवं सिंचाई योजनाओं का निर्माण करना ताकि भविष्य में भारी विकास योजनाएं बनाई जा सकें।
5. विकास कार्यक्रमों के कुशलतम क्रियान्वयन के लिए उपयुक्त प्रशासनिक तंत्र की स्थापना करना।

द्वितीय योजना के प्रमुख उद्देश्य

पं नेहरू के समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना के स्वप्न को साकार करने के लिए 1956 में नई औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ द्वितीय योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए :–

1. लोगों का जीवन स्तर सुधारने के लिए राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि करना,
2. बुनियादी एवं भारी उद्योगों की स्थापना करते हुए देश का तेजी से औद्योगीकरण करना,
3. रोजगार के अवसरों का तेजी से विस्तार करना तथा,
4. आय तथा धन की असमानताओं में कमी करना।

तृतीय योजना के प्रमुख उद्देश्य

इस योजना के निर्माण के समय यह स्वीकार किया किया गया कि कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास को प्राथमिकता दिए बगैर देश का आर्थिक विकास संभव नहीं है। इसलिए तृतीय योजना का लक्ष्य आत्म निर्भर एवं स्वयं-स्फूर्त अर्थव्यवस्था रखा गया। इसके साथ निम्नलिखित उद्देश्य भी रखे गए:

1. राष्ट्रीय आय में पांच प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करना,
2. खाद्यान में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना,

3. आधारभूत उद्योगों, जैसे इस्पात, रसायन, ईंधन तथा ऊर्जा का विकास व विस्तार करना,
4. मानवीय साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिए रोजगार के अवसरों में पर्याप्त विस्तार करना,
5. लोगों को अधिक समान अवसर प्रदान करना एवं आय तथा धन की असमानताओं में कमी करना।

चौथी योजना के उद्देश्य

इस योजना में 'स्थिरता के साथ विकास' एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति की बात प्रमुखता से कही गई। इसके लिए निम्नलिखित उद्देश्य रखे गए–

1. राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत आर्थिक वृद्धि दर प्राप्त करना,
2. मुद्रा-स्फीति पर नियंत्रण के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था पर अंकुश लगाना,
3. आत्मनिर्भरता प्राप्त करने, निर्यात बढ़ाना एवं विदेशी सहायता को कम करना
4. सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता प्राप्त करने के लिए आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को कम करना,
5. रोजगार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराना।

पांचवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य

इस योजना में 'गरीबी उन्मूलन' एवं 'आत्म-निर्भरता की प्राप्ति' की बात जोर देकर कही गई, जिनके लिए निम्नलिखित उददेश्य रखे गए–

1. सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 5.5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करना,
2. उत्पादक रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना,
3. न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक राष्ट्रीय कार्यक्रम की शुरुआत करना,
4. सामाजिक कल्याण का विस्तृत कार्यक्रम शुरू करना,
5. आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का सरकारी संग्रहण एवं सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार करना ताकि निर्धन वर्गों को ये वस्तुएं उचित मूल्यों पर उपलब्ध हो सकें,
6. निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन पर जोर देना,
7. सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने के लिए संस्थागत, राजकोषीय एवं अन्य आवश्यक उपाय अपनाना,
8. गरीबी उन्मूलन की विकास विधि के रूप में घरेलू उत्पादन की दर को बढ़ाना एवं जनसंख्या की वृद्धि दर को घटाना।

छठी योजना के प्रमुख उद्देश्य

1977 में केन्द्र में जनता सरकार के आने से पांचवीं योजना को निर्धारित समय से एक वर्ष पूर्व ही समाप्त घोषित कर दिया गया एवं 1978-83 की अवधि के लिए, जनता सरकार द्वारा छठी योजना प्रारंभ की गई। परंतु जनता सरकार के पतन के बाद कांग्रेस सरकार ने भी जनता सरकार की छठी योजना को समाप्त कर दिया और 1980-85 की अवधि के लिए नई छठी योजना लागू की, जिसके निम्नलिखित उददेश्य निर्धारित किए गए :-

1. उत्पादकता में वृद्धि के साथ अर्थव्यवस्था की विकास दर में पर्याप्त वृद्धि करना,

2. आर्थिक एवं प्राविधिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों को सुदृढ़ बनाना,
3. ऊर्जा के संरक्षण एवं कुशल उपयोग के साथ ऊर्जा के घरेलू साधनों का तेजी से विकास करना,
4. न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम द्वारा पिछड़े कमजोर एवं सामान्य जनता के जीवन स्तर में निर्धारित अवधि में राष्ट्रीय दृष्टि से स्वीकृत स्तर प्राप्त करना,
5. गरीबी एवं बेरोजगारी में उत्तरोत्तर कमी लाना,
6. आय एवं धन की असमानता में कमी करने के लिए सार्वजनिक नीतियों एवं सेवाओं के पुनर्वितरण के आधार को देश की निर्धन जनसंख्या के पक्ष में सुदृढ़ करना,
7. क्षेत्रीय असमानताओं में उत्तरोत्तर कमी करना,
8. जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए स्वैच्छिक स्वीकृति के आधार पर प्रयास करना,
9. परिस्थितिकीय एवं पर्यावरणीय परिसंपतियों का संरक्षण एवं सुधार करना,
10. उपयुक्त शिक्षा एवं संचार आदि के द्वारा विकास की प्रक्रिया में जनता के सभी वर्गों की सहभागिता को बढ़ावा देना।

सातवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य

इस योजना में खाद्यात्र, रोजगार एवं उत्पादकता पर विशेष जोर दिया गया है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए योजना में निम्नलिखित कार्य-नीतियों का उल्लेख किया गया है।

1. अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादकता में वृद्धि के साथ, विद्यमान उत्पादन क्षमता का गहन उपयोग करना,
2. अधसंरचना संबंधी सुविधाओं की कमी को दूर करना,
3. विनियोजन प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना,
4. प्रशासनिक कार्यकुशलता को बढ़ाना,
5. आधुनिक तकनीक एवं विज्ञान का समुचित समन्वय करते हुए विकास करना,
6. निर्धन जनसंख्या, पिछड़े क्षेत्रों एवं राज्यों की उत्पादकता एवं आय में वृद्धि के विशेष प्रयास करना एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को जारी रखना,
7. स्वास्थ्य एवं शिक्षा सहित आधारभूत सुविधाओं का गुणात्मक सुधार करते हुए विस्तार करना,
8. जनसंख्या वृद्धि की दर को तेजी से कम करना,

इस प्रकार हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओ में विकास एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक साधनों के गरीबों के पक्ष में पुनर्वितरण पर भी जोर दिया गया है। इसके लिए गरीबी उन्मूलन, बेकारी निवारण एवं कीमत-स्थायित्व की बात कही जाती रही है तथा आत्मनिर्भरता एवं आधुनिकीकरण पर विशेष ध्यान दिया गया है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य (1992-97)

आठवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्मलिखित हैं।

1. अर्थव्यवस्था का तेजी से बहुमुखी विकास
2. राष्ट्रीय आय में वृद्धि
3. गरीबी दूर करना,
4. बेरोजगारों को ऊंचे आय स्तर पर उत्पादक रोजगार उपलब्ध कराना,
5. विभिन्न क्षेत्रों एवं वर्गों के बीच विषमताओं में कमी लाना
6. जन साधारण की जरूरतों को पूरा करना एवं उनकी जीवनकोटि में सुधार लाना,
7. विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के लिए प्रयास करना।

नौवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (1997-2002)

नौंवी पंचवर्षीय योजना के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं-

1. गरीबी निवारण एवं पर्याप्त उत्पादक रोजगार के निर्माण हेतु कृषि एवं ग्रामीण विकास को प्राथमिकता,
2. स्थाई मूल्यों के साथ-साथ अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर में तेजी लाना,
3. सभी के लिए खाद्य एवं पोषाहार सुरक्षा,
4. सुरक्षित पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा, प्राथमिक शिक्षा और आवास आदि मूलभूत सुविधाएं एक निश्चित समयावधि में सबके लिए उपलब्ध कराना।
5. जनसंख्या नियंत्रण,
6. जन भागीदारी द्वारा विकास प्रक्रिया में पर्यावरणीय सुरक्षा सुनिश्चित करना,
7. महिलाओं एवं कमजोर वर्गों का सामाजिक उत्थान,
8. पंचायती राज संस्थाओं, सहकारिताओं, स्वंयसेवी संस्थाओं को प्रोत्साहन,
9. स्वायत्तता निर्माण पर बल देना,

2.3 नियोजित आर्थिक विकास की प्रमुख विशेषताएँ

भारत में पिछले चार दशकों में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जो आर्थिक विकास हुआ, इस संबंध में दो प्रमुख विचारधारा हैं। पहली विचार धारा के अनुसार देश ने पर्याप्त आर्थिक विकास किया है एवं भारत 'विकासशील देशों में सबसे अधिक विकसित देशों की श्रेणी मे' आ गया है। दूसरी विचारधारा के अनुसार देश की अधिकांश जनसंख्या को विकास के लाभ की प्राप्ति नहीं हुई है। इस प्रकार पहली विचारधारा उत्पादन के भौतिक पहलू से संबंधित है जबकि दूसरी विचारधारा उत्पाद के वितरण पहलू से प्रभावित है। देश की योजनाओं का उददेश्य न केवल 'राष्ट्रीय-रोटी' के आकार को बढ़ाना है अपितु इस 'रोटी' में सभी वर्गों को समुचित हिस्सा प्रदान करना भी है ताकि सामाजिक न्याय की प्राप्ति के साथ आर्थिक असमानताओं में कमी हो सके।

भारतीय नियोजनकर्ताओं के विकास के निम्मलिखित तीन पथों में अंतिम पथ-भारी उद्योगों के विकास से औद्योगीकरण के पथ का चुनाव किया है।

1. स्वचालित स्वतंत्रता बाजार का पथ
2. मजदूरी वस्तुओं की प्रमुखता सहित कृषि एवं ग्रामीण विकास का पथ, और
3. भारी उद्योगों की स्थापना से औद्योगीकरण का पथ।

डॉ. ब्रह्मानंद एवं डॉ. पंचमुखी ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया के संबंध में निम्नलिखित तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है:

1. वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की वार्षिक दर जो सत्तर के मध्य तक 3.5 प्रतिशत थी। बाद में 4.5 प्रतिशत से भी कुछ अधिक हो गई। विकास दर में अस्थिरता का प्रमुख कारण कृषि क्षेत्र के उतार-चढ़ाव रहे हैं। सकल घरेलू उत्पादन एवं सरकारी व्यय का अनुपात जो पचास के प्रारंभिक वर्षों में 8 से 10 प्रतिशत के बीच था, अस्सी के मध्य तक 32-33 प्रतिशत तक पहुंच गया है। इसी प्रकार सकल घरेलू उत्पादन एवं कर-राजस्व का अनुपात इसी अवधि में 9-10 प्रतिशत से बढ़कर 16 से 18 प्रतिशत तक हो गया है। इसी अवधि में आय अनुपात की शुद्ध बचत का प्रतिशत 7-8 से बढ़कर 16-17 प्रतिशत हो गया है।
2. वृद्धिशील पूंजी उत्पादन अनुपात जो पचास के प्रारंभिक वर्षों में 2:1 था, बढ़कर अस्सी के मध्य तक 5:1 हो गया है।
3. मजदूरी-वस्तुओं की कुल पूर्ति की वार्षिक दर 3 एवं 3.5 प्रतिशत रही है तथा प्रतिव्यक्ति खाद्यात्र एवं खाद्य वस्तुओं का उपयोग बढ़ रहा है।
4. उपभोक्ता वस्तुओं की तुलना में विनियोग वस्तुओं की पूर्ति में विस्तार की दर दुगुनी है।
5. सार्वजनिक क्षेत्र की क्रियाओं का तेजी से विस्तार हुआ है तथा वर्तमान में कुल पूंजी भंडार का लगभग आधा सार्वजनिक क्षेत्र के स्वामित्व में है। लेकिन अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठान तीन प्रतिशत की औसत शुद्ध दर से प्रतिफल देने में भी सक्षम नहीं हैं।
6. बजट घाटे में तीव वृद्धि हुई है क्योंकि आर्थिक सहायता का भार बढ़ा है एवं सरकारी बचत अपर्याप्त है।
7. देश में काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था मौजूद है।
8. विश्व-निर्यात में भारत का हिस्सा गिर रहा है तथा क्षमता से अधिक आयात किया जा रहा है।
9. विकसित देशों की मुद्रा के संदर्भ में रुपये की विनिमय दर लगातार गिर रही है, लेकिन इससे निर्यात के विकास में मदद नहीं मिली है।
10. उच्चतम एवं निम्नतम वर्ग के वेतन अनुपात में वृद्धि होने से विषमता बढ़ी है। गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वालों का प्रतिशत कम हुआ है।
11. परिवार नियोजन कार्यक्रम पूर्णतः सफल नहीं रहा है। मृत्यु दर तेजी से घटी है, औसत उम्र बढ़ी है लेकिन जनसंख्या वृद्धि दर आज भी दो प्रतिशत से अधिक है।
12. सफल घरेलू उत्पादन में कृषि क्षेत्र का हिस्सा जो पचास के प्रारंभिक वर्षों में 50 से 55 प्रतिशत तक था, अस्सी के मध्य में घटकर लगभग 30 प्रतिशत ही रह गया है। जबकि कृषि क्षेत्र पर निर्भर जनसंख्या का प्रतिशत अभी भी लगभग 70 बना हुआ है। सकल घरेलू उत्पादन में उद्योग एवं सेवा क्षेत्र दोनों का हिस्सा बढ़ा है।
13. संगठित क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि की दर शहरीकरण में वृद्धि की दर से कम रही है। छिपी हुई बेराजगारी बढ़ रही है। ग्रामीण एवं गैर-पंजीकृत निर्माण क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरी दरों में वृद्धि संगठित क्षेत्र की तुलना में कम रही है।

14. प्रति इकाई वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि के लिए इनपुट (विद्युत, कोयला, तेल, परिवहन आदि) की आवश्यकता पहले से अधिक मात्रा में होती है।

15. खनिजों एवं धातुओं के भंडारों में वृद्धि की जानकारी बहुत कम हुई है लेकिन इनका खनन एवं शोषण तेजी से बढ़ा है। इसी प्रकार सिंचाई क्षमता के पूरे उपयोग के नजदीक तेजी से बढ़ रहे हैं।

16. वर्तमान दर के पूर्वानुमान बताते हैं कि अर्थव्यवस्था को शीघ्र ही पानी, खाद्य तेल, दालें, पेट्रोलियम उत्पाद एवं उच्च कोटि के कोयले की भयंकर कमी का सामना करना होगा।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त यह जानकारी भी जरूरी है कि नियोजन काल के वर्षों में, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में भारत की प्रगति क्या व कितनी रही है। इसके लिए हम कुछ चुने हुए वर्षों, जैसे 1950-51, 1960-61, 1970-71, 1980-81 एवं 1990-91 के आंकड़ों का उपयोग करेंगे।

आगे तालिका - 2.2 में भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ चुने हुए आर्थिक संकेतकों को दर्शाया गया है। इनसे पता चलता है कि स्वतंत्रता के बाद देश ने किस दिशा में कितनी प्रगति की है।

तालिका 2.2

भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख संकेतक

क्र.स.	संकेतक	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1993-94
1.	साधन लागत पर सकल घरेलू उत्पादन 1970-71 की कीमतों पर (करोड़ रु.)	17,536	25,534	36,736	1,22,427* (980-81 की कीमतों पर)	475604*	710233*
2.	प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन 1970-71 की कीमतों पर (रु.)	466	559	633	1630	4964*	7038*
3.	औद्योगिक उत्पादन	18.3	36.2	65.3	100	212.6	225.6

	सूचकांक (आधार 1980-81)						
4.	कृषि उत्पादन सूचकांक (आधार 1969-80 को समाप्त होने वाले तीन वर्ष)	58.5	86.7	111.5	135.3	192.2	-
5.	सकल घरेलू बचत (सकल उत्पादन के % के रूप मे)	10.2	13.7	16.8	21.2	23.9	24.2
6.	खाद्यान उत्पादन (मिलियन टन)	50.8	82	108.4	126.6	176.3	180.0
7.	तैयार स्टील (मिलि. टन)	1.04	2.39	4.64	6.82	10.65	
8.	सीमेन्ट (मिलियन टन)	2.7	8	14.3	18.6	52.0	57.3
9.	कोयला (मिलि. टन)	32.8	55	76.3	119	232.6	346.4
10.	क्रूड तेल (मिलियन टन)	.26	.45	6.8	10.5	30.4	

11.	थोक मूल्य सूचकांक (आधार 1970-71)	47.5	55.1	100	256.2	182.00 at 1980-81 Prices	247.8
12.	केंद्र का बजट घाटा (करोड़ रु.)	-33	-117	285	2576	6080	
13.	निर्यात (करोड़ रु.)	601	660	1535	6711	15,741	
14.	आयात (करोड़ रु.)	650	1140	1634	12,549	22,399	
15.	विदेशी मुद्रा भंडार (करोड़ रु.)	911	186	438	4,822	7,287	
16.	जनसंख्या (करोड़)	36.12	44.24	55.13	68.8	83.5	88.4
17.	जन्म दर (प्रति हजार)	39.9	41.7	36.9	33.9	29.0	
18.	मृत्यु दर (प्रति हजार)	27.4	22.8	14.9	12.5	10.0	
19.	जीवन प्रत्याशा पुरुष (वर्ष)	32.45	41.89	46.4	54.1	-	
20.	जीवन प्रत्याशा (महिला वर्ष)	31.66	40.55	54.7	54.7	-	
21.	साक्षरता दर का प्रतिशत	16.7	24	29.5	36.2	-	
22.	प्रति व्यक्ति प्रति दिन						

	शुद्ध उपलब्धि (ग्राम में)					
	(i) अनाज	334.2	399.7	417.6	416.2	408.2
	(ii) दालें	60.7	69	51.2	37.5	33.2
23.	प्रति व्यक्ति उपलब्धि (कि.ग्रा.)					
	(i) खाद्य तेल	-	3.2	3.5	3.8	5.9
	(ii) वनस्पति	-	0.8	1.0	1.2	1.3
	(iii) शक्कर	-	4.7	7.3	7.2	11.7
24.	केन्द्र सरकार के उद्यम					
	(i) इकाइयां	5	48	87	163	221
	(ii) कुल पंजी विनियोग (करोड़ रु.)	29	953	3,606	18,207	58125

*चालू कीमतों पर

2.4 नियोजन की प्रमुख उपलब्धियां

स्वतंत्रता के बाद देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए योजनाओं के मार्ग को अपनाने से अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में उल्लेखनीय उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं जहां स्वतंत्रता के पूर्व के पचास वर्षों में वास्तविक राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि की दर मुश्किल से दो प्रतिशत रही, वहां स्वतंत्रता के बाद के चालीस वर्षों में यह लगभग 3.6 प्रतिशत रही। योजना काल के प्रारंभिक 35 वर्षों में वास्तविक प्रति व्यक्ति आय की वार्षिक वृद्धि दर 1.4 प्रतिशत एवं वास्तविक निजी उपभोग की वृद्धि दर 1.3 प्रतिशत रही। इसी प्रकार कृषि उत्पादन 2.7 प्रतिशत, कृषि क्षेत्र 1.0 प्रतिशत तथा कृषि-उत्पादकता लगभग सात गुना एवं खाद्यानों का उत्पादन लगभग तीन गुना बढ़ गया। औद्यौगिक उत्पादन का सूचकांक 5.8 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ा। निर्यात में वृद्धि दर 8.7 प्रतिशत वार्षिक रही एवं एक भारतीय की औसत उम्र बढ़कर लगभग 53 वर्ष हो गई। इस अवधि में देश की जनसंख्या के लगभग दुगुनी हो जाने एवं

1987 में शताब्दी के भयंकर सूखे के उपरांत भी भारतीय अर्थव्यवस्था विकास के पथ पर अग्रसर है। नियोजन की कुछ प्रमुख उपलब्धियों का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

1. **खाद्यान्नों मे आत्मनिर्भरता** : स्वतंत्रता के समय देश में खाद्यान्न-उत्पादन एवं खाद्यान्न-आवश्यकता में बहुत अंतर था। भारतीय कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता था एवं खाद्यान्नों के आयात पर अर्थव्यवस्था निर्भर रहती थी। दूसरी एवं तीसरी योजना अवधि में पी.एल. 480 के अधीन खाद्यान्न का आयात किया जाता था। देश में आई हरित क्रांति के कारण, कुछ खाद्यानों का उत्पादन तेजी से बढ़ा। कुल मिलाकर अब भारत खाद्यान्नों के मामले में लगभग आत्मनिर्भर हो गया है, एवं पिछले कुछ वर्षों में तो खाद्यान्नों का थोड़ा बहुत निर्यात भी किया है।
2. **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार** : समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना करने के लिए स्वतंत्रता के बाद सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार किया गया। इससे अर्थव्यवस्था की औद्योगिक क्षमता का विविधकरण भी हुआ। शुरू में सार्वजनिक क्षेत्र अलाभदायकता के कारण आलोचना के पात्र बने, लेकिन धीरे-धीरे स्थिति में सुधार हुआ है एवं ये थोड़ा बहुत लाभ भी देने लगे हैं।
3. **अद:संरचना का विकास :** किसी अर्थव्यवस्था का विकास उसकी आर्थिक अध:संरचना पर निर्भर करता है। स्वतंत्रता के बाद देश में ऊर्जा, सिंचाई, परिवहन एवं दूर-संचार की सुविधाओं के व्यापक विकास से कृषि, उद्योग एवं व्यापार–सभी को पर्याप्त मदद मिली है। इस्पात तथा सीमेंट जैसी आधारभूत वस्तुओं के उत्पादन में देश आत्मनिर्भर है।
4. **तकनीकी विकास एवं आधुनिकीकरण :** पिछले कुछ वर्षों से तकनीकी विकास एवं आधुनिकीकरण पर जोर देने से कुछ सुखद परिणाम सामने आए हैं। इससे देश का औद्योगिक ढांचा मजबूत हुआ है एवं विदेशी विशेषज्ञों पर निर्भरता में काफी कमी आई है। भारतीय तकनीकी विशेषज्ञों की मांग विदेशों में भी होने लगी है।
5. **आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यात संवर्द्धन** : पहले भारत कुछ परंपरागत वस्तुओं का ही निर्यात करता था लेकिन अब निर्यात का पर्याप्त विविधिकरण हुआ है एवं गैर-परंपरागत वस्तुओं, पूंजीगत वस्तुओं, इंजीनियरी सामान आदि का निर्यात तेजी से बढ़ा है। इसी प्रकार खाद्यान, खाद, खनिज तेल, उपभोक्ता एवं पूंजीगत वस्तुओं का देश में ही उत्पादन होने से आयात का प्रतिस्थापन हुआ है।
6. **गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम** : पांचवी योजना में बेरोजगारी एवं निर्धनता पर प्रत्यक्ष प्रहार करने की वात कही गई। इसके लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम आदि अनेक कार्यक्रम लागू किए गए, जिनका गरीबी एवं बेरोजगारी के उन्मूलन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। सन् 1989-90 के बजट में 'नेहरू रोजगार योजना' लागू की गई है, जिसमें प्रत्येक गरीब परिवार के एक सदस्य को रोजगार देने की बात कही गई है।
7. **स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार** : योजना काल में मृत्यु-दर में उल्लेखनीय गिरावट हुई है। भारतीयों की औसत उम्र बढी है एवं सामान्य व्यक्ति को कुशल स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध हो रही हैं।

8. **शिक्षा में मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन :** शिक्षा प्रणाली के विकास से न केवल साक्षरता दर बढी है, अपितु प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान के विशेषज्ञों की संख्या भी बढी है, जिसका उपयोग देश के चहुमुखी विकास के लिए हो रहा है।
9. **सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विकास :** नियोजन काल की एक प्रमुख उपलब्धि, सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सफलतापूर्वक काम करना भी है। आवश्यक वस्तुओं का वितरण इस प्रणाली के माध्यम से उचित कीमतों पर होता है। उचित मूल्यों की दुकानें गांवों एवं शहरों सभी जगह लोकप्रिय हैं। इनसे उपभोक्ताओं को मुद्रा स्फीति के दुष्प्रभावो से पर्याप्त मात्रा में बचाया जाता है। वस्तुओं की बाजार में कृत्रिम कमी होने पर एवं प्रारतिक विपदा एवं सूखे के समय, यह प्रणाली पिछले वर्षों मे प्रभावी रही है।
10. **बैंकिंग प्रणाली का विस्तार :** बैंकों के राष्ट्रीकरण एवं ग्रामीण बैकों की स्थापना के बाद देश में बैंक शाखाओं का तीव्र विकास हुआ है। 30 जून 1969 को देश में, व्यापारिक बैकों की कुल शाखाएं केवल 8262 थीं, जो जून 1988 में बढ़कर 55,410 हो गई। इनके फैलाव से ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ एवं औद्योगीकरण में पर्याप्त मदद मिली।
11. **घरेलू उत्पादन में संरचनात्मक परिवर्तन :** शुद्ध घरेलू उत्पादन को तीन क्षेत्रों में बांटने की परंपरा रही है–(i) प्राथमिक क्षेत्र–जिसमें कृषि एवं वन, मत्स्य आदि संबंधित क्षेत्र सम्मिलित किए जाते हैं, (ii) द्वितीयक क्षेत्र–जिसमें विनिर्माण उद्योग एवं निर्माण आदि क्षेत्र सम्मिलित किए जाते हैं, और (iii) तृतीयक क्षेत्र–जिसमें व्यापार, परिवहन संचार, बैंकिंग, बीमा एवं विभिन्न सेवाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि अर्थव्यवस्था से, औद्योगिक अर्थव्यवस्था धीमी गति से प्रवेश कर रही है। आगे तालिका में स्थिर कीमतों पर (आधार 1970-71) शुद्ध घरेलू उत्पादन में वृद्धि की चक्रवृद्धि दरें दर्शाई गई हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह वृद्धि की दर प्राथमिक क्षेत्र में, अन्य दोनों क्षेत्रों की तुलना में आधी से कम रही। वृद्धि की दरों में यह अंतर आर्थिक विकास च्चई एक सामान्य विशेषता है।

तालिका 2.3

वृद्धि की चक्रवृद्धि दरें

क्षेत्र	**1950-51 से 1960-61 तक**	**1960-61 से 1970-71 तक**	**1970-71 से 1983-84 तक**	**1950-51 से 1983-84 तक**
प्राथमिक	2.93	2.26	1.98	2.35
द्वितीयक	5.36	5.02	4.16	4.78
तृतीयक	4.69	4.96	5.68	5.16
शुद्ध घरेलू उत्पादन	3.79	3.55	3.70	3.68

शुद्ध घरेलू उत्पादन में वृद्धि पहले दशक की तुलना में दूसरे दशक में कम हुई, तीसरे दशक में यह कुछ बढ़ी लेकिन पहले दशक की तुलना में यह कम ही थी। क्षेत्रानुसार विकास की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि द्वितीयक क्षेत्र की वृद्धि दर उत्तरोत्तर तीनों दशकों में कम होती जा रही है। इस प्रकार औद्योगीकरण की नीति पूर्णतः सफल नहीं रही है। प्राथमिक क्षेत्र की

वृद्धि दर में भी उत्तरोत्तर कमी हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि नहीं होने के कारण हरित क्रांति के लाभ पूर्ण रूप से नही मिल पाए हैं। तृतीय क्षेत्र के योगदान में उत्तरोत्तर वृद्धि पुनः आर्थिक विकास की प्रक्रिया के शुरूआत को पुष्ट करती है।

12. **जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण में अनुकूल परिवर्तन :** 1951 से 1971 के आंकड़े बताते हैं कि शुद्ध घरेलू उत्पादन में कृषि क्षेत्र का हिस्सा उत्तरोत्तर घटा लेकिन कृषि क्षेत्र पर निर्भर जनसंख्या मे कमी नहीं आई। लेकिन 1971-81 के दौरान इस प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ, जो अर्थव्यवस्था के विकास की दृष्टि से एक अनुकूल विशेषता मानी जा सकती है। आगे तालिका में हम अर्थव्यवस्था को केवल दो क्षेत्रों में बांट रहे हैं–कृषि एवं गैर कृषि क्षेत्र। तालिका से ज्ञात होता है कि शुद्ध घरेलू उत्पादन में कृषि का हिस्सा 1981 में घटकर 35.52 प्रतिशत हो गया, इसके साथ कुल श्रम शक्ति में, कृषि क्षेत्र में लगे श्रमिकों का हिस्सा भी पहली बार घटकर 66.69 प्रतिशत हो गया। यह स्थिति अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक परिवर्तन में आर्थिक विकास की सूचक है। यह बात अलग है कि इस परिवर्तन की शुरूआत होने में भारत को तीस वर्ष लगे।

तालिका 2.4

शुद्ध घरेलू उत्पादन एवं श्रम शक्ति में कृषि एवं गैर-कृषि क्षेत्र का योगदान

जनगणना वर्ष	कृषि क्षेत्र का हिस्सा (प्रतिशत)		गैर कृषि क्षेत्र का हिस्सा (प्रतिशत)	
	शुद्ध घरेलू उत्पादन	श्रम शक्ति	शुद्ध घरेलू उत्पादन	श्रम शक्ति
1961	49.3	69.5	50.7	30.5
1971	42.8	69.8	57.2	30.2
1981	35.5	66.7	64.5	33.3

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के बाद देश ने अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में तेजी से विकास किया है, जिसके कारण देशवासियों की आर्थिक स्थिति में पूर्वापेक्षा उल्लेखनीय सुधार हुआ है। योजनाओं ने देश का चहुंमुखी विकास करने में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है।

2.5 नियोजन के कुछ महत्वपूर्ण सबक

प्रो. डी. टी. लाकड़वाला ने नियोजन के अनुभवों का विश्लेषण करते हुए योजना अवधि के दौरान सीखे गए कुछ महत्वपूर्ण सबक गिनाए हैं:

1. संस्थागत परिवर्तन, जो प्रथम दृष्टि में आकर्षक प्रतीत हुए थे, उन्हें लागू करने के पूर्व पर्याप्त विचार करना चाहिए। खाद्यान संकट के समय खाद्यान्नों के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया गया, लेकिन सभी प्रयासों के बावजूद यह कदम असफल रहा। सरकारी एजेंसियों के लिए यह सरल नहीं था कि समस्त बाजार योग्य अधिशेष को खरीद सके एवं पूरे देश मे इसका समुचित वितरण कर सके। इसलिए इससे नरम कदम अधिक सफल रहा, जिसमें उचित कीमत एवं वितरण प्रणाली अपनाई गई। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कीमत एवं वितरण प्रणाली की समय-समय पर समीक्षा की जाए, जरूरत के अनुसार इसमें सुधार किया जाए और जब इससे किसी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो तो इसे छोड़ दिया जाए।

2. राज्य को इन्हीं उद्यमों को चलाना चाहिए जिनमें कार्यकुशलता के मानदंड के साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि भविष्य में इसमें सुधार की और संभावना है या नहीं। यह धारणा कि राज्य बीमार इकाइयों का अधिग्रहण करके उन्हें सफलता पूर्वक चला सकता है, सामान्यतया गलत साबित हुई है। कभी-कभी प्रतिस्पर्द्धात्मक निजी क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र की कार्यप्रणाली में आशानुकूल सुधार ला सकता है। उदाहरण के लिए अतिरिक्त स्टाफ की समस्या से निपटना सार्वजनिक क्षेत्र के लिए मुश्किल है।
3. आय एवं धन की असमानताओं को कम करने में अपनाए गए राजकोषीय उपाय प्रभावी नही रहे हैं तथा समुचित संस्थागत परिवर्तन होने में समय लगेगा। वर्तमान ऊँची दरों पर यदि सम्पन्न वर्ग की आय को बढ़ने दिया गया एवं इस वर्ग द्वारा यदि विलासिता-उपभोग पर नियंत्रण नहीं किया गया तो भविष्य में सामाजिक असंतोष एवं संघर्ष से इन्कार नही किया जा सकता, क्योंकि सम्पन्न वर्ग के संगठन अपने हितों की रक्षा हेतु बन रहे हैं, जिससे अन्य वर्गों के हितों की अनदेखी होती है।
4. भारत जैसे गरीब देश में, सीमित साधनों पर दबाव बहुत अधिक है। अतः साधनों के उपयोग के लिए प्राथमिकताओं के निर्धारण में पर्याप्त जांच पड़ताल जरूरी है। गरीबतम वर्ग के हितों पर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाए एवं दूसरे वर्गों की मांगों पर नियंत्रण रखा जाय।
5. गरीब-वर्ग के हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता इस तरीके से दी जानी चाहिए कि वे शीघ्र ही राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित हो जाएं, न कि वे हमेशा के लिए अपनी अलग पहचान बनाए रखें एवं विशेष अधिकारों के लिए दबाव बनाए रखें।
6. पिछले कुछ वर्षों से अर्थव्यवस्था का बचत अनुपात स्थिर हो गया है। बचत बढ़ने के लिए बचत की सीमान्त प्रवृत्ति को बढ़ना चाहिए। ऐसा तभी संभव है, जब उपभोक्ता-संस्कृति को नियंत्रित किया जाए। ऐसा नहीं हो सकेगा, यदि विलासिता की उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन तेजी से बढ़ता रहेगा, क्योंकि इसका मध्य आय वर्ग पर मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव स्पष्टतया प्रतीत होने लगा है।

इस प्रकार प्रो. लाकड़ावाला द्वारा रेखांकित किए गए उपर्युक्त तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं एवं इन्हें भावी योजनाओं का निर्माण करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। योजनाओं से संबंधित निर्णय शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से लिए जाने चाहिए न कि राजनैतिक दृष्टिकोण से। इस दृष्टिकोण के विकसित होने पर अर्थव्यवस्था के विकास में पर्याप्त मदद मिलेगी। विकास का पथ सदैव सीधा एवं सुगम नहीं होता, इसलिए आर्थिक नीतियों के निर्माण एवं क्रियान्वयन में सतर्कता जरूरी है। योजनाओं के अनुभवों से शिक्षा लेते हुए प्रगति का पथ प्रशस्त किया जाना चाहिए। भारत जैसे विकासशील देश के लिए तो यह अधिक जरूरी है।

2.6 नियोजित विकास के अप्राप्त उद्देश्य

योजना-काल में निर्धारित उद्देश्यों में से कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति पूर्णतः नहीं हो पाई है। निम्नलिखित उद्देश्यों को निर्धारित स्वीकृत मात्रा में प्राप्त नहीं किया जा सका है।

1. **त्वरित विकास :** यद्यपि पिछले लगभग चालीस वर्षों में उल्लेखनीय विकास हुआ है, फिर भी नियोजन-काल के उत्तरोत्तर प्रत्येक दशक में वास्तविक कुल आय की वृद्धि दर एवं

प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय की वृद्धि दर घटी है। प्रारंभिक तीन दशकों के प्रत्येक दशक में वास्तविक कुल आय की वृद्धि दर क्रमशः 3.8, 3.5 एवं 3.4 प्रतिशत एवं वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय की वृद्धि दर प्रत्येक दशक में क्रमशः 1.8, 1.2 एवं 1.0 प्रतिशत ही रही है।

2. **बेरोजगारी एवं अल्परोजगार में कमी :** श्रम बाजार में नये श्रमिकों के प्रवेश की तुलना में रोजगार के नये अवसरों का सृजन कहीं कम हो रहा है। प्रतिवर्ष लगभग 56 लाख श्रमिक, श्रम बाजार में प्रवेश करते हैं। छठी योजना के प्रारंभ में 120.2 लाख व्यक्ति अवशिष्ट बेरोजगार थे। योजना अवधि में रोजगार में 4.17 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि अनुमानित की गई लेकिन श्रम-शक्ति में लगभग इतने ही नव-प्रवेशकों के कारण योजना के अंत में 119.8 लाख व्यक्तियों के पुनः अवशिष्ट बेराजगारों के रूप में शेष रहने का अनुमान लगाया गया। इसी प्रकार सातवीं योजना अवधि 404 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने की बात कही गई है। इसके उपरान्त भी सातवीं योजना के अंत तक 72 लाख व्यक्ति अवशिष्ट बेरोजगार बने रहेंगे। इसी प्रकार सातवीं योजना के दौरान 94 लाख शिक्षित व्यक्तियों को नौकरी देने की आवश्यकता बताई गई है, लेकिन शिक्षित बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने के लिए योजना में कोई विशिष्ट नीति नहीं बनाई गई है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की व्यापक समस्या बनी हुई है।

3. **सामाजिक न्याय :** सभी योजनाओं से आर्थिक असमानता एवं आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को कम करने की अपेक्षा की गई है। लेकिन सामाजिक न्याय की प्राप्ति अभी तक देशवासियों को अपेक्षित मात्रा में नहीं हो पाई है।

   (i). **असमानता मे कमी** : एक अनुमान के अनुसार, उच्चतम दस प्रतिशत जनसंख्या को इस अवधि में बढ़ी हुई कुल व्यक्तिगत आय का दो तिहाई हिस्सा मिल गया है जबकि शेष 90 प्रतिशत जनसंख्या को एक तिहाई हिस्से पर ही संतोष करना पड़ा है। इस प्रकार यह उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सका है।

   (ii). **धन एवं आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण** : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के एक सर्वेक्षण के अनुसार (1971-72), 70 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास 1,000 रु. से भी कम की परिसंपतियां थी जो कुछ ग्रामीण परिसंपतियों का केवल एक प्रतिशत थी, जबकि दूसरी तरफ केवल चार प्रतिशत ग्रामीण-परिवारों के पास 50,000 रु. या अधिक की परिसंपतियाँ थीं, जो कुल का तीस प्रतिशत से भी अधिक था। इसी प्रकार उच्च बीस औद्योगिक घरानों की परिसम्पतियाँ इन वर्षों में न केवल बढ़ी हैं, अपितु इनकी अर्थव्यवस्था पर पकड़ भी पहले से मजबूत हुई है।

4. **गरीबी उन्मूलन :** सातवीं योजना का कहना है कि विकास प्रक्रिया एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के कारण गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों का प्रतिशत, जो 1984-85 में 36.9 था, 1989-90 तक घटकर 25.8 रह जाएगा। इस प्रकार निर्धनों की संख्या सातवीं योजना के अंत तक 21.1 करोड़ रह जाएगी। यदि सरकार के अनुमानों को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी निर्धनों की संख्या काफी अधिक है एवं गरीबी रेखा की अवधारणा को अब बदलने की जरूरत है क्योंकि यह अवधारणा बदली हुई विकास परिस्थितियों में काफी सँकुचित है, जो केवल उपभोग व्यय एवं कैलोरी उपयोग से संबंधित है।

5. **कीमत स्थायित्व :** यह नाम लिया गया है कि विकासशील देशों में मुद्रा स्फीति आवश्यंभावी है। योजनाओं में स्थिरता के साथ विकास की बात कही तो जाती है, परंतु इसका क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। कीमत स्तर में वृद्धि का सर्वाधिक दुष्प्रभाव असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों, बेरोजगारी, गरीबों एवं निश्चित आय-वर्ग के लोगों पर पड़ा है। इससे गरीबी रेखा से ठीक ऊपर गुजर-बसर करने वाले एकाएक गरीबी रेखा के नीचे ढकेले जाते हैं क्योंकि उनकी क्रय शक्ति कीमत वृद्धि के साथ-साथ घटती जाती है।
6. **क्षेत्रीय संतुलन :** भारत जैसे बड़े देश में प्रादेशिक असमानताएं योजनाओं के माध्यम से ही कम की जा सकती हैं, लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया है। कुछ राज्य अत्यधिक उन्नत हुए हैं एवं कुछ पिछड़े हुए ही हैं।

2.7 नियोजित विकास की विफलताएँ

भारत के नियोजित आर्थिक विकास के दौरान कुछ कमियों एवं विफलताओं को और देखा जा सकता है, यथा

1. चालीस वर्षों के प्रयासों के पश्चात भी भू-सुधार लागू नहीं किये जा सके हैं। अधिकतम जोत कानूनों के अंतर्गत जिस जमीन का कब्जा लिया जा चुका है, उसे मुकदमेबाजी के कारण पूरी मात्रा में वितरित नहीं किया जा सका है। सातवीं योजना में भी चकबंदी, काश्तकारी नियमन एवं भूमि-अभिलेखों को अद्यतन बनाने की बात कही गई है लेकिन राजनीतिक मनोबल के अभाव, नौकरशाही की उदासीन प्रवृत्ति, गरीब किसानों एवं कृषि मजदूरों की निष्क्रियता एवं असंगठन एवं भू-सुधारों के क्रियान्वयन में कानूनी बाधाओं के कारण भू-सुधारों में प्रगति असंतोषजनक रही है।
2. **अर्थव्यवस्था में काले धन की मौजूदगी** के कारण सामाजिक न्याय की प्राप्ति में सरकारी नीतियां असफल रही हैं। द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एंड पोलिसी के अनुमान के अनुसार सकल घरेलू उत्पादन में काली आय का अनुपात 18 से 21 प्रतिशत के बीच रहा है। 1983-84 में इस संस्थान ने 36786 करोड़ रु. की काली आय की उत्पत्ति का अनुमान लगाया है। तरक्की, कालाबाजारी एवं लाइसेंसिंग प्रणाली के कारण यह समस्या बनी हुई है एवं इससे निपटने के कारगर उपाय नहीं अपनाए जा सके हैं।
3. **नियोजन काल में व्यापार असंतुलन एवं भुगतान असंतुलन**–दोनों की समस्या विषम हुई है। सन् 1987-88 के कुल आयात 22,399 एवं कुल निर्यात 15,741 करोड़ रु. के ही अनुमानित किए गए है, इस प्रकार विदेशी व्यापार घाटा 6,658 करोड़ रु. का है। विदेशी ऋण-सेवा भार, जो 1980-81 में केवल 804 करोड़ रु. था, 1988-89 में 2,770 करोड़ रु. हो गया है। पिछले कुछ वर्षों में शुद्ध विदेशी सहायता की राशि, ऋण सेवा-प्रभार की तुलना में कम हो रही है। कुल विदेशी सहायता आधे से अधिक, ब्याज तथा ऋण की किश्त के भुगतान के रूप में चला जाता है। ऋण-जाल में फंसने के शुरूआती संकेत हैं। सन् 1987-88 में 3,422 करोड़ रु. का विदेशी ऋण था।

4. **भारतीय रुपये की क्रय शक्ति वर्ष-प्रतिवर्ष कम** होती जा रही है। अर्थव्यवस्था में व्याप्त मुद्रा-स्फीति एवं सरकार द्वारा अपनाई गई व्यापक घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण रुपये का मूल्य तेजी से घटा है। अन्य देशों की मुद्राओं के मुकाबले भी रुपया कमजोर हुआ है। वर्ष 1980-81 में अमरीकी डॉलर एवं ब्रिटिश पाउंड के लिए क्रमशः 7.9 रु. एवं 18.5 रु. ही देने पड़ते थे, जबकि जनवरी 1989 में एक डॉलर के लिए 15.1 रु. एवं एक पौंड के लिए 26.9 रु. दिए गए।
5. **पिछले वर्षों मे सरकारी-व्यय तेजी से बढ़ा है।** केन्द्र सरकार का कुल व्यय जो 1980-81 में केवल 22,495 करोड़ रु. था, बढ़कर 1988-89 (बजट) में 77,824 करोड़ रु. हो गया। वर्ष 1950-51 में यह व्यय केवल 504 करोड़ रु. ही था। केन्द्र सरकार का रक्षा व्यय एवं ब्याज के भुगतान पर व्यय 1980-81 में क्रमशः 3,571 एवं 2,253 करोड़ रु. था, जो 1989-90 (बजट) में क्रमशः 13,000 एवं 17,000 करोड़ रु. होने का अनुमान है। इस प्रकार रक्षा व्यय से भी ब्याज भुगतान का व्यय बढ़ रहा है, जो चिंताजनक है। इसी प्रकार खाद्यान, खाद एवं निर्यात संवर्द्धन के लिए केन्द्र सरकार की आर्थिक सहायता का व्यय भी 1989-90 के बजट में 7,472 करोड़ रु. प्रस्तावित है। इस प्रकार केन्द्र सरकार का अनुत्पादक व्यय तेजी से बढ़ा है।

   उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि योजनाओं से अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं हो सके हैं। प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारण योजनाओं का समुचित क्रियान्वयन नहीं हुआ है।

2.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय विकास योजनाओं को पूर्ण सफलता नहीं मिली है। खाद्यान्न में हम न केवल आत्म-निर्भर हो गए हैं अपितु यदा-कदा अनाज का थोड़ा बहुत निर्यात भी करने लगे हैं। शताब्दी के भयंकर सूखे का पिछले दिनों भारत ने सफलतापूर्वक सामना किया है। फिर भी कृषि विकास की दर संतोषजनक नहीं रही है। दालों एवं तिलहनों के मामले में हमारी प्रगति निराशाजनक रही है। औद्योगिक विकास अपेक्षाकृत अधिक तेजी से हुआ है। उपभोक्ता वस्तुओं से बाजार भर गया है एवं इन वस्तुओं की मांग को पूरा करने के लिए उद्योगों में अवांछनीय प्रतियोगिता भी हो रही है जिससे सीमित संसाधनों का दुरुपयोग हुआ है। बिजली, कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ, सीमेंट, इस्पात आदि वस्तुओं एवं परिवहन तथा संचार व्यवस्था पर भारी दबाव बना हुआ है। विदेशी व्यापार में आशातीत वृद्धि होने के उपरान्त भी विश्व व्यापार में भारत का हिस्सा कम हुआ है, जो इस बात का सूचक है कि अन्य देशों के मुकाबले हमारी गति धीमी रही है। अर्थव्यवस्था पर आंतरिक एवं बाह्य ऋण का भार जरूरत से ज्यादा है, जिसके वार्षिक ब्याज के आंकड़े ही चौंकाने वाले हैं। जनसंख्या वृद्धि एवं मूल्य वृद्धि के कारण विकास के लाभ सामान्य नागरिक को नहीं मिल पाए हैं। कानून एवं व्यवस्था की शोचनीय स्थिति एवं प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार का दुष्प्रभाव विकास योजनाओं के क्रियान्वयन पर पड़ा है। गरीबी एवं बेकारी की समस्या आज भी बनी हुई है जो योजनाओं के लिए असली चुनौती है। आवश्यकता इस बात की है कि योजनाओं को ईमानदारी से क्रियान्वित किया जाए ताकि विकास की गति भी बढ़े एवं मौजूदा वितरण प्रणाली के विकास के लाभ आम जनता को प्राप्त हो सके। इसके

अभाव में आय एवं धन की विषमताएं और बढ़ेंगी। संक्षेप में भारतीय अर्थव्यवस्था की समस्या योजनाओं के निर्माण की न होकर योजनाओं के समुचित क्रियान्वयन की है।

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल ए. एन. — भारतीय अर्थव्यवस्था, विकास

रूद्र दत्त, सुंदरम — भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चांद एंड कं.

एम. एल. झिंगन — विकास का अर्थव्यवस्था एवं आयोजन, कोणार्क पब्लिशर्स

श्री कृष्ण माहेश्वरी — भारत में आयोजन तथा आर्थिक विकास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

P.R. Brahamanand and V.R. Panchamukhi — The Development Process of the Indian Economy, Himalaya Publishing House, Bombay

G. O. I — Economic Survey.

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. "भारत ने पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा पर्याप्त आर्थिक विकास किया है।" इस कथन की सप्रमाण पुष्टि कीजिए।
2. भारतीय नियोजन के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन करते हुए बताइए कि इन्हें किस सीमा तक प्राप्त किया जा सका है?
3. भारतीय नियोजन की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए नियोजन की उपलब्धियों एवं विफलताओं का वर्णन कीजिए।
4. स्वतंत्रता के बाद' भारत की विकास प्रक्रिया को समझाते हुए, भावी योजनाओं के लिए अपने सुझाव दीजिए।

इकाई 3
विकास की व्यूहरचनाएं-भारी उद्योग बनाम मजदूरी-वस्तुएं-उद्देश्य व उपलब्धियां

इकाई को रूपरेखा

3.0 उदेश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भारी उद्योगों का आशय तथा उनको व्यूहरचना में प्राथामकता देने के उद्देश्य

3.3 भारी उद्योग-मॉडल की कमियां

3.4 मजदूरीं-वस्तुओं का अर्थ व उनको उच्च प्राथमिकता देने से लाभ (डा.पी.आर.ब्रह्मानंद के विचार)

3.5 भारत जैसी खुली अर्थव्यवस्या में मजदूरी-वस्तु मॉडल की सीमाएं

3.6 क्या योजना काल में विकास की प्रारम्भिक आधारभूत व्यूहरचना में कोई परिवर्तन किया गया है?

3.7 भारी उद्योग-मॉडल की उपलब्धियां व मूल्यांकन

3.8 भावी नियोजन की व्यूहरचना में इनका सापेक्ष स्थान क्या होना चाहिए?

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.10 प्रश्नों के उत्तर।

3.0 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

* समझ सकेंगे कि विकास की व्यूह रचना किसे कहते हैं?
* भारत में भारी उद्योग आधारित विकास बनाम मजदूरी वस्तु विकास के लिए क्या तर्क दिए गए है।

3.1 प्रस्तावना

विकास की व्यूहरचना का अर्थ

प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुसार विकास की व्यूहरचना तैयार करता है। यह दीर्घकालीन नियोजन के लिए हो सकती है, तथा एक पंचवर्षीय योजना की अवधि के भी हो सकती हैं। मोटे तोर पर व्यूहरचना के तीन बातें शामिल होती है (i) इसमें नियोजन के लक्ष्य (targets) निर्धारित कियें जाते है जिन्हें सरकार प्राप्त करना चाहती है; जैसे विकास को अमुक दर, रौजगार-संवर्धन, जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण, निर्यात-संवर्धन, आदि। (ii) इन लक्ष्यों को प्राथमिकता के क्रम में जमाया जाता है। इससे यह पता चलता है कि सरकार किन लक्ष्यो को सर्वोपरि मानती है और किनको गौण। (iii) अंत मे लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक नीतियां तय की जाती है जिनको कार्यान्वित करने से उनकी गति की जा सके। नीतियों का संबंध कई बार्तो से होता है, जैसे

योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए साधन किस प्रकार से जुटाये जायेंगे-इनमें घरेलू साधनों व विदेशी साधनों का क्या योगदान होगा; घरेलु साधनों में सार्वजनिक बचतों व निजी बचतों की क्या भूमिका होगी; विनियोग का प्रारूप (Pattern of investment) क्या होगा, अर्थात, कृषि उद्योग, ऊर्जा, परिवहन व सामाजिक सेवाओं पर साधनों का आवंटन कैसा होगा तथा उद्यागो में भी आधारभूत, मध्यवर्ती, पूँजीगत व उपभोक्ता उद्योगों में किस प्रकार का साधन आवंटन होगा, आदि, आदि।

इस प्रकार विकास की व्यूहरचना की धारणा काफी व्यापक होती है। एक तरह से 'विकास का मार्ग ' बतलाती है। इसमें उन प्रमुख प्रतिबंधों (constraints) को भी स्पष्ट कर दिया जाता है जिनके अंतर्गत उस अर्थव्यवस्था को कार्य करना होता है; जैसे भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में वर्षा की अनिश्चितता एक भारी प्रतिबंध माना जा सकता है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों का परम्परागत दृष्टिकोण, देश में उद्यमशीलता व पूँजी का अभाव, विदेशी विनिमय का अभाव, आदि कई प्रकार के प्रतिबंध पाये जाते है। एक अर्थव्यवस्था इन प्रतिबंधों के दायरे में रहती हुई अपना विकास करती है। वह कुछ सीमा तक इन प्रतिबंधों को तोड़ने या कम करने का भी प्रयास करती है।

कुल मिलाकर नियोजन की व्यूहरचना में विनियोग के प्रारूप (आर्थिक क्षेत्रवार साधन-आबंटन) का विशेष महत्व होता है और एक अर्थव्यवस्था विभिन्न प्रकार के प्रतिबंधों के दायरे में क्रमवार निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। इस प्रकार विकास की व्यूहरचना विकास की आधारभूत नीति व विकास- मार्ग को निर्धारित करती है।

भारतीय नियोजन में विकास की व्यूहरचना द्वितीय पंचवर्षीय में निर्धारित की गई थी जिसे नेहरू-महलानोबिस व्यूहरचना का नाम दिया गया है क्योंकि इसके निर्धारण में इन दोनों का योगदान रहा था। इसके मुख्य तत्व इस प्रकार थे : (i) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को प्राथमिकता, (ii) औद्योगीकरण पर अधिक जोर (iii) भारी पूँजीगत उद्योगों के विकास को सर्वोच्च स्थान, (iv) आयात-प्रतिस्थापन्न आधारित औद्योगीकरण का दृष्टिकोण अपनाना तथा (v) समाजवादी ढंग के समाज की ओर अग्रसर होना, ताकि अधिक रोजगार, अधिक आर्थिक सामाजिक व अवसर की समानता तथा अधिक उत्पादन की दशाएं प्राप्त की जा सकें।

यहां हम नेहरू-महलानोबिस व्यूहरचना में भारी उद्योगों की भूमिका का विशद विवेचन करेंगे।

3.2 भारी उद्योगों का अर्थ तथा उनको प्राथमिकता देने के उद्देश्य

भारी उद्योगों का अर्थ :- द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारूप (जुलाई 1955) में 'भारी उद्योग', मूलभूत उद्योग ', 'पूँजीगत उद्योग ' व 'उत्पादन वस्तुओं के उद्योग' एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये है। कही-कहीं 'मूलभूत पूँजीगत वस्तुओं ' एवं 'भारी पूँजीगत वस्तुओं ' के उद्योग जैसे शब्द भी प्रयुक्त हुए है। अतः भारी उद्योगों मे आधुनिक उपयोग्आधारित औद्योगिक वर्गीकरण (Use-based industrial classification) के अनुउसार मूलभूत उद्योग (basic industry) व पूँजीगत उद्योग (Capital industry) दोनों शामिल होते है। मूलभूत उद्योगों में कोयला, कच्चा लोहा, सीमेंट, लोहा व इस्पात, विद्युत, क्रुड तेल व पेट्रोल रिफाइनरी-उत्पाद लिये जाते है, तथा पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों में इन्जीनियरी (भारी यांत्रिक व हल्के यांत्रिक, विश्रुत व इलेक्ट्रोनिक्स) तथा धातुकर्मिक उद्योग (लोहे

व इस्पात के अलावा) 'शामिल होते है। पूँजीगत उद्योगों में मशीनें व परिवहन-उपकरण बनाने वाले उद्योग मुख्यतया लिये जाते है।

अतः द्वितीय योजना में जिन भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता दी गई थी उनमें लोहा व इस्पात, मशीनरी, विद्युत-उपकरण तथा भारी रसायन आदि शामिल किये गये थे। इनमें से लोहा व इस्पात व भारी रसायन तो मूलभूत उद्योगों की श्रेणी में आते है तथा मशीनरी व विद्युत-उपकरण पूँजीगत उद्योगों का सम्मिश्रण कहा जा सकता है। इनमें मशीनें बनाने की मशीनें ' बनाने (मातृ-मशीनें बनाने) (mother manchine) के उद्योग भी आ जाते है।,

भारी उद्योगो को प्राथमिकता देने के उद्देश्य :-

द्वितीय योजना में उद्योगीकरण को भावी आर्थिक विकास का आधार बनाने का निर्णय लिया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत औद्योगिक दृष्टि से काफी पिछड़ा दुआ था। औद्योगिक ढांचे में सूती वस्त्र उद्योग व जूट वस्त्र उद्योग का रोजगार व उत्पादन (जोड़े गये मूल्य में) लगभग 2/3 अंश था। देश में पूँजीगत उद्योगों का नितान्त अभाव था। भारत मशीनो के लिए विदेशों पर आश्रित रहता था। इस प्रकार औद्योगिक ढांचा काफी असंतुलित व विकृत-क़िस्म का था जिसे नियोजित विकास के माध्यम से ठीक करने की आवश्यकता थी। प्रो.महलागेबिस ने रूस के नियोजन के मॉडल पर भारत को भी तीव्र औद्योगीकरण के मार्ग पर डालने का निर्णय लिया ताकि निम्न उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके।

(i). पूँजी-निर्माण की ठोस आधारशिला रखने के लिए :-

भारी उद्योगों का विकास करके ही देश में पूँजी-निर्माण (Capital formation) की मजबूत आधारशिला रखी जा सकता थी और देश को अत्यावश्यक संयंत्र व उपकरणों के आयातों से मुक्त किया जा सकता था। जैसें विशाल देश का आर्थिक 'भविष्य सुरक्षित व सुनिश्चित करने के लिए देश में विभिन्न प्रकार के भारी उद्योगों की स्थापना आवश्यक समझी गयी ताकि देश -निर्भर बन सके और विकास की आधारभूत सामग्री स्वयं बना सके।

(ii). भारी उद्योगों के विकास के लिए भारत मे प्राकृतिक साधन विद्यमान है :-

आधारभूत उद्योंगों के विकास के लिए भारत के पास प्राकृतिक साधन विद्यमान है जैसे लोहे व इस्पात उद्योग के लिए कच्चा लोहा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इनके विकास के लिए पूँजी व दक्षता का आयात विकसित देशों से किया जा सकता है। इस प्रकार यह माना गया कि भारत में भारी उद्योगों के विकास से, अंतर्राष्ट्रीय विनिमय की सम्भावनाओं की उपेक्षा व अवहेलना नही लेती।

(iii). आयात-प्रतिस्थापन-आधारित औद्योगीकरण कीं नीति के अंतर्गत भारी उद्योगों को दी गई प्राथमिकता उचित

द्वितीय योजना में भारत ने निर्यात-चालित औद्योगीकरण। (export-led industrialisation) का मार्ग नहीं अपनाया क्योंकि नियोजकों में यह धारणा थी कि 'भारत निर्यात बढाने में ज्यादा कारगर नहीं हो सकता है। भारत में निर्यातों के संबंध में निराशावादी धारणा व्याप्त थी। इसीलिए आयातित मशीनों, रसायनों व अन्य उपकरणों के स्थान पर उनका देश में उत्पादन करने की नीति अपनायी गयी। इससे उनका आयात कम करना असंभव था।

देश इस्पात का उत्पादन बढ़ाकर इसका आयात कम कर सकता था तथा साथ में अन्य उद्योगों के लिए भी आधार बना सकता था।

(iv). खनन-साधनों का पूर्ण विदोहन परिवहन का विकास तथा दक्ष श्रमशक्ति का सदुपयोग करने के लिए भारी उद्योगों का विकास आवश्यक :-

भारी उद्योगों का विकास करने से ही भारत की विपुल खनिज-सम्पदा का पूर्ण विदोहन हो सकता था। देश में परिवहन की सुविधाओं का विकास भी काफी सीमा तक भारी उद्योगों पर ही निर्भर करना है। परिवहन-उपकरणों का निर्माण पूंजीगत उद्योगों की श्रेणी में आता है। भारत में दक्ष इंजीनियरों व उच्च तकनीकी क्षमता प्राप्त, व्यक्तियों की सेवाओं का उपयोग करने के लिए भी भारी उद्योगों को प्राथमिकता देना आवश्यक समझा गया था।

(v). **भारी उद्योगों का विकास मॉरिस डॉब के ' त्वरक विपरीत-दिशा में (accelerator-in-the-reverse) सिद्धान्त के अनुरूप है :** -

वेसे ऐतिहासिक दृष्टि से अधिकांश देशों में पहले उपभोक्ता वस्तु-उद्योगों में तीव्र प्रगति हुई तत्पश्चात् भारी पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का विकास हुआ। लेकिन इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का क्रम उलट कर भारी उद्योगों के विकास को प्राथमिकता भी दी जा सकती है। केम्ब्रिज के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मॉरिश डॉब ने अपने त्वरक विपरीत-दिशा में सिद्धांत के द्वारा यह समझाने का प्रयास किया है कि पूँजीगत वस्तुओं के विकास से किस प्रकार आगे चल कर उपभोक्ता-वस्तु-उद्योगों के विकास की गति अधिक तेज की जा सकती है। सीधे व सरल त्वरत सिद्धांत में उपभोक्ता वस्तुओं की माँग के बढ़ने से पूँजीगत वस्तुओं की माँग बढ़ती हैं। इस प्रकार त्वरक-विपरीत-दिशा में ' के सिद्धांत ने 'भारी उद्योग-पहले ' के दृष्टिकोण को समर्थन दिया है।

(vi). सार्वजनिक क्षेत्र, भारी उद्योग, आयात-प्रतिस्थापन, आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था व समाजवादी ढंग के समाज मे परस्पर गहरी कड़ी :-

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों का विकास करना आवश्यक समझा गया क्योंकि निजी क्षेत्र के पास इतना भारी पूँजीगत विनियोग करने के लिए साधन नहीं थे। भारत भी समाजवादी ढंग से समाज की स्थापना करके नियोजित विकास के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता था। सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था व भारतीय अर्थव्यवस्था में परस्पर कड़ी स्थापित करने के लिए भी हमारे देश में भारी उद्योगों का विकास करना आवश्यक था। इस प्रकार राजनीतिक कारणों व परिस्थितियों ने भी काफी उद्योगों को प्राथमिकता देने को पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

महलानोबिस के चार-क्षेत्र मॉडल में भारी विनियोग-वस्तु उद्योगों की भूमिका : -

महलानोबिस ने अपने चार-क्षेत्र मॉडल में K से आधारभूत विनियोग वस्तु-उद्योगों को; C_1 से फैक्ट्री उपभोग-वस्तु उद्योगों को; C_2 से पारिवारिक उद्योगों को (कृषि सहित) तथा C_3 से सेवा क्षेत्र को सूचित किया था।

उसने सार्वजनिक क्षेत्र में प्रस्तावित कुल विनियोग का 1/3 अंश आधारभूत विनियोग वस्तु-उद्योगों पर लगाने का सुझाव दिया था। उसका मानना था कि भारी उद्योग-व्यूहरचना से ही दीर्घकाल में राष्ट्रीय आय, उपभोग व रोजगार में वृद्धि-दर को अधिकतम किया जा सकता है। महलानोबिस

ने भारी विनियोग-वस्तु उद्योगों के लिए उत्पत्ति-पूँजी अनुपात (Output-capital ratio) 0.20 माना था, अर्थात यह माना था कि एक रुपये की पूँजी से 20 पैसे की उत्पत्ति सम्भव है, दूसरे शब्दो में पूँजी-उत्पत्ति अनुपात 5:1 माना था, अर्थात एक रुपये की उत्पत्ति प्राप्त करने के लिए पाँच रुपये की पूँजी की आवश्यकता मानी गई थी। इस क्षेत्र के लिए पूँजी-श्रम अनुपात 20 हजार रुपये प्रति श्रमिक आंका गया था। इन मान्यताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया था कि भारी उद्योगों के विकास से राष्ट्रीय आय की कुल वृद्धि का 12 .76 % अंश व रोजगार की कुल वृद्धि 8.18 % अश प्राप्त किया जा सकेगा।

स्मरण रहे कि महलानोबिस ने विकास की व्यूहरचना में एक तरफ भारी उद्योगों को व दूसरी ओर लघु पैमाने पर संचालित उपभोक्ता-माल उद्योगों व कृषि में खाद्यानों के उत्पादन को भी महत्व दिया ताकि भारी उद्योगों के विकास की अवधि में मुद्रास्फीति, बेरोजगारी व उपभोक्ता-वस्तुओं के अभाव की दशाओं पर नियंत्रण रखा जा सके। इनमें आवश्यक उपयोग वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा जिससे लोगों का जीवन-स्तर कायम रखा जा सकेगा। प्राय: महलानोबिस द्वारा सुझायी गई विकास-नीति में इस पहलू पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है जिससे अनावश्यक शंकाएं व आशंकाएं बढ़ जाती है।

3.3 भारी उद्योगमॉडल की कमियाँ-

वकील व ब्रम्हानंद ने अपनी पुस्तक-Planning for an Expanding Economy (जून, 1956) में महालानोबिस मॉडल में भारी उद्योगों की दी गई प्राथमिकता की तीव्र आलोचना की थी, तथा विकल्प के रूप में विकास का मजदूरी-वस्तु-मॉडल' (Wage goods model) सुझाया था। बाद में प्रोफेसर ब्रह्मनन्द ने Planning For A Futureless Economy (नवम्बर, 1978) में पुन: समन्वित मजदूरी-वस्तु मॉडल के समर्थन में अपने तर्क दिये तथा विभिन्न लेखों में भी 'भारी उद्योग-आधारित विकास की व्यूहरचना' को गलत बतलाया है जिसका विस्तृत विवेचन आगे चल कर किया गया है।

भारी उद्योगों को उन प्राथमिकता देने से निम्न समस्याएं उत्पन्न हो सकती है :

(i). भारी उद्योगों के उत्पादों की माँग ज्यादातर भारी उद्योगों में होने से अर्थव्यवस्था में असंतुलन :-प्रोफेसर ब्रह्मानंद का कहना है कि भारी उद्योगों के माल की अधिकांश माँग भारी उद्योगों के द्वारा की जाती है, जैसे अतिरिक्त इस्पात, परिवहन-उपकरण, कोयला, शक्ति, मशीन-निर्माण, आदि उद्योगो के माल की खपत स्वयं इन्हीं उद्योगों में की जाती है भारी उद्योगों के माल की कड़ी (Linkage) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन से नहीं बैठ पाती, जिससे अर्थव्यवस्था में पूँजीगत माल का उत्पादन अधिक और उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन कम होने की दशा उत्पन्न हो सकती है।

(ii). इस मॉडल को कार्यान्वित करने से देश में उपभोक्ता-वस्तुओं का अभाव निरंतर बना रहता है -' साम्यवादी देशों, विशेषतया सोवियत संघ का अनुभव यह बतलाता है कि 'भारी उद्योग पहले ' की नीति को कड़ाई से लागू करने पर आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं का अभाव निरंतर बना रहता है जिससे आम जनता का जीवन-स्तर ऊँचा करने में बाधा पहुंचती है, लोगों में असंतोष बना रहता है, जीवन की अनिवार्य वस्तुओं का अभाव रहने से भारत जैसी

खुली निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में इनके भाव बढ़ जाते है एवं उपभोक्ता-वर्ग को अनावश्यक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती है। यदि इस प्रकार के अभाव अल्पकाल अथवा थोड़े से वर्षो तक सीमित रहते तो जनता इनको बर्दाश्त कर लेती ताकि भविष्य को अधिक सुखमय बनाया जा सके। लेकिन जनाधिक्य वाले देशों में अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव दीर्घकाल में भी दूर नहीं होता और इसकी जिम्मेदारी उनकें नियोजन में पूँजीगत वस्तुओं को दी गई ऊँची प्राथमिकता पर डाली जाती है। विद्वानों का मत है कि विकास की व्यूहरचना में आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक ध्यान देने से कई प्रकार की आर्थिक समस्याओं से बचा जा सकता है।

(iii). बेरोजगारी की समस्या भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने से बढ़ती है -भारी उद्योग पूँजी-गहन, ऊर्जा-गहन, आयात-गहन व दक्षता-गहन, होते है, अर्थात् इनमें क्रमश पूँजी का उपयोग करना होता है, अधिक शक्ति का उपभोग किया जाता है इनके लिए विदेशों से मशीनों व कल-पुर्जो का आयात करने की आवश्यकता होती है तथा तकनीकी दृष्टि से दक्ष कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इसलिए ये श्रम-गहन नहीं होती और बेरोजगारी व अल्परोजगार की समस्या को हल करने की बजाय इसको अधिक तीव्र कर देती है।

(iv). **बचत की दर को बढ़ाने में कठिनाई -** भारी उद्योगों की ब्यूहरचना में घरेलू बचत को बढ़ाना बहुत आवश्यक होता है ताकि भारी विनियोग प्रोजेक्टों की वित्तीय व्यवस्था की जा सके। लेकिन निर्धन विकासशील देशों में आय का स्तर नीचा होंने से बचत की दर को ऊँचा करना काफी कठिन होता है। ऐसी स्थिति में विकास-कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए विदेशी साधनों का उपयोग करना आवश्यक हो जाता है।

(v). **विदेशी विनिमय का प्रतिबंध उत्पन्न हो जाता है -**भारी उद्योगों की रणनीति में देश के समक्ष शीघ्र ही विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित हो जाता है जैसा कि भारत में तृतीय पंचवर्षीय योजना में हो गया था। यदि भारी उद्योग-आधारित विकास की नीति लम्बी अवधि तक जारी रहती है तो देश विदेशी विनिमय के संकट में प्रवेश कर सकता है। कई वर्षो तक इस नीति के तहत विदेशों से कर्ज लेकर पूँजीगत माल मँगाने से देश कर्ज के जाल में फंस सकता है। अतः यह नीति विदेशी विनिमय के संकट का कारण बन सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत ने नियोजन के प्रारम्भिक वर्षो में आयात-प्रतिस्थापन पर अधिक बल दिया था तथा निर्यात-प्रोत्साहन पर कम दिया था। इससे आगे चलकर देश विदेशी विनिमय के संकट में फंस गया।

इस प्रकार भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति भारत में बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, भुगतान-असंतुलन, असमानता, पिछड़ेपन, निरक्षरता आदि को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। सम्भवतः यही कारण है कि अब भावी नियोजन की व्यूहरचना में अनिवार्य उपयोग वस्तुओं के उत्पादन पर विशेष ध्यान देना स्वीकार किया गया है। विनियोग का ऊँचा अंश भारी उद्योगों-जैसे इस्पात के कारखानों, एल्यूमिनियम, तांबा, तेल रिफाइनरीज, पेट्रोरसायन, भारी इंजीयरिग, पावर संयंत्रों आदि में लगाये जाने से कृषि, सिंचाई, बाढ़-नियंत्रण, शिक्षा, स्वास्थ्य व परिवार नियोजन आदि के लिए कम बचा पाया है। परिणामस्वरूप देश में मानवीय साधनों के विकास को धक्का पहुँचा है। भारी उद्योगों में सीमान्त पूँजी-उत्पत्ति अनुपात (ICOR) अन्य आर्थिक क्षेत्रों से ऊँचा पाया जाता है जिससे प्रति व्यक्ति वास्तविक

आय में वृद्धि-दर नीची पायी जाती है। इसलिए कुछ विद्वान भारत में भावी नियोजन की आधारभूत व्यूहरचना को भारी उद्योगों की दिशा से हटाकर कृषि व सम्बद्ध क्रियाओं तथा मानवीय साधनों के समुचित उपयोग व विकास की दिशा में मोड़ने का समर्थन करने लगे है।

बोध प्रश्न-1

1. योजना की व्यूहरचना में किन प्रमुख बातों पर बल दिया जाता है ?
2. भारी उद्योग, आधारभूत उद्योग व पूँजीगत उद्योग में अंतर करिए तथा 'भारी उद्योग-प्रथम ' नीति के तीन लाभ लिखिए?

3.4 मजदूरीवस्तुओं का अर्थ व उनको उच्च प्राथमिकता देने से लाभ-

(डा.पी.आर.ब्रह्मानंद के विचार)

प्रोफेसर ब्रह्मानंद ने विकास की व्यूहरचना में मजदूरी-वस्तुओं को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का प्रबल समर्थन किया हैं। मजदूरी-वस्तुएं सर्वसाधारण के उपयोग की आवश्यक वस्तुएं होती है। इनके निजी उपयोग के स्तर पर निम्न 14 वस्तुएं शामिल की जा सकती है : (i) खाद्यान, अनाज व दालें, (ii) दूध व दूध-उत्पाद, (iii) खाद्य-तेल, (iv) मछली, अंडे व मांस, (v) चीनी व चीनी से बने पदार्थ, (vi) फल व सब्जी, (vii) मसाले, (viii) चाय (ix) कोफी (x) कपड़ा, (xi) माचिस, (xii) साबुन, (xiii) नमक तथा (xiv) खाद्य तेल। इनके अधिकांश कृषिगत पदार्थ होते है तथा कुछ औद्योगिक पदार्थ थी। ये निजी उपभोग के स्तर पर जीवन की अनिवार्य वस्तुएं मानी जाती है। (Planning For a Futureless Economy,1978,पृ.180)। बाद के लेखों व वक्तव्यों में इन्होंने मजदूरी-वस्तुओं में सस्ता परिवहन, सुरक्षित पेयजल, आम दवाएं व औषधियाँ, स्कूल का सामान, शिक्षा व स्वास्थ सेवाएं, खेल का सामान, सांस्कृतिक व मनोरंजन की सुविधाएं तथा आमतोर से प्रयुक्त हेने वाली विशिष्ट (मेरिट) वस्तुएं; जैसे परिवार-नियोजन में सहायक वस्तुएं, आदि भी जोड़ी है। स्पष्ट है कि विकास के पथ पर आगे बढ़ते जाने पर इनकी संख्या भी बढ़ती जाती है। अतः मजदूरी-वस्तुओं की कोई अंतिम सूची नहीं होती। यह देश, काल, व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील होती है।

अतिरिक्त श्रम-शक्ति को कृषि से हटाकर अन्यत्र काम देने में मुख्य बाधा मजदूरी-वस्तु-अंतर (Wage-goods-gap) से बढ़ती है -

प्रो ब्रह्मानंद का मत है कि भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में छिपी हुई बेरोजगारी के हल में मुख्य बाधा मजदूरी-वस्तुओं के अभाव की होती है। अत इनका उत्पादन बढ़ाने से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देना सम्भव हो सकता है। एक श्रमिक को अन्य 'जगह काम देने पर जो मजदूरी-वस्तुएं देनी होगी, तथा छिपी हुई बेरोजगारी की अवस्था में वह जिन मजदूरी-वस्तुओं का उपयोंग कर रहा था-इन दोनों का अंतर मजदूरी (Wage-goods-gap) वस्तु-अंतर कहलाता है। मान लीजिए, एक श्रमिक पहले किसी खेत पर 250 रुपयों की मजदूरी-वस्तुएं (प्रतिमाह) (अनाज, गुड़, नमक, खाद्य-तेल, आदि) का उपयोग करता था और अब उसे खेत से हटाकर अन्यत्र किसी उद्योग या सार्वजनिक निर्माण-कार्य, आदि में लगाने के लिए 500 रुपयों की मजदूरी-वस्तुओं (प्रतिमाह) की आवश्यकता होती है, तो 5 00-250=250 रुपयों के बराबर मूल्य की अतिरिक्त मजदूरी-वस्तुओं की सरकार द्वारा व्यवस्था कर दिये जाने पर उस श्रमिक को खेत से हटाकर अन्यत्र काम पर लगाना सम्भव हो सकता है। इसमें एक आवश्यक

मान्यता यह है कि वह अपना पूर्व खेत वाला 250 रुपयों तथा मजदूरी-वस्तु, उपभोग दूसरी जगह भी जारी रख पाता है। इस प्रकार अतिरिक्त मजदूरी-वस्तुओं की पूर्ति बढ़ा कर रोजगार बढ़ाया जा सकता है। मजदूरी-वस्तु मॉडल के निम्न लाभ बतलाये गये है

(i). इसके माध्यम से तिहरा-पूर्ण रोजगार (triple-full employment) प्राप्त किया जा सकता है :-

मजदूरी-वस्तुओं व सेवाओं पर आधारित विकास-नीति में तीन तरह के पूर्ण रोजगार प्राप्त करने की दशा निहित मान जाती है। ये इस प्रकार होती है -

(अ) समस्त उपलब्ध श्रम को पूर्ण रोजगार मिल जाता है, अर्थात् सभी काम -चाहने वालों को काम मिल जाता है; (आ) उनको पूर्ण समय, अर्थात् पूरे वर्ष, के लिए काम मिल जाता है तथा (ई) पारिश्रमिक के अनुसार भी उनकी वास्तविक मजदूरी अथवा आमदनी इतनी होती है कि (विशिष्टि या मेरिट-वस्तुओं का उपयोंग करतें हुए) वे पूर्ण कार्यकुशलता से काम करने की स्थिति में होते है। इसे तिहरा-पूर्ण-रोजगार कहते है क्योंकि इसमें श्रमिकों की संख्या, काम की अवधि तथा वास्तविक मजदूरी तीनों पर एक साथ ध्यान दिया जा सकता है। इसका आशय यह हुआ कि जीवन की अनिवार्य वस्तुओं को विकास का केन्द्र-बिन्दु बनाने से सभी श्रमिकों को वर्ष पर पर्याप्त वास्तविक मजदूरी पर काम मिल जाता है जिससे उनकी कार्यदक्षता का सर्वाधिक उपयोंग हो जाता है। इस व्यवस्था में स्वरोजगार के अवसर बढ़ते है, अल्परोजगार की दशा में सुधार आता है और ऊपर वर्णित तिहरा-पूर्ण रोजगार प्राप्त होता हैं।

(ii). **मुद्रास्फीति पर नियंत्रण व जीवन-स्तर मे वृद्धि :-** मजदूरी-वस्तु, मॉडल में जीवन की अनिवार्य वस्तुओं जैसे अनाज, दाल,दूध ,चीनी, चाय, दवा, नमक आदि की सप्लाई को बढ़ाने का प्रयास जारी रहने से तथा जनसंख्या-नियंत्रण के लिए परिवार नियोजन की आवश्यक वस्तुओं का इस्तेमाल जारी रहने से एक तरफ मूल्यों पर नियंत्रण रहता है और दूसरी तरफ जीवन-स्तर में सुगमतापूर्वक वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार इसमें जनसंख्या-नियंत्रण पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

(iii). **बचत की दर में वृद्धि होती जाती है :-** इस मॉडल में बचत का आय से अनुपात निरंतर बढ़ता जाता है। नये-नये निर्माण में प्रोजेक्ट व विनियोग के प्रोजेक्ट अधिक मात्रा में हाथ मे लिये जाते है और उनको कार्यान्वित करने से उत्पादन, उपभोग, बचत व विनियोग निरंतर बढ़ते जाते है।

(iv). **असमानता का अनुपात (disparity ratio) कम किया जा सकता है :-** इस मॉडल में ऊपर समूहों की औसत आमदनी व निचले समूहों की औसत आमदनी में अनुपात किसी मान्य स्तर तक अधिक आसानी से लाया जा सकता है क्योंकि मुद्रास्फीति भी नियंत्रण में रहती है और आमदनी-नीति लागू की जा सकती है।

(v). इसमें परिवेश-असंतुलन कायम रखा जा सकता है क्योंकि जल, मिट्टी, पशु व मांग के बीच असंतुलन उत्पन्न करने वाले अधिक तत्व भारी उद्योगों के विकास की व्यूहरचना से अधिक जुड़े हुए है। इस मॉडल में गांव व शहर के बीच की खाई भी कम की जा सकती है। यह नव-गांधीवादी विचारधारा के अधिक अनुकूल होता है और विकेद्रित नियोजन की पद्धति के अनुरूप होता है।

देखिए डा.ब्रह्मानंद का लेख, Wage goods Planning,Financial Express, अगस्त 8, 1989

(vi). **विदेशी भुगतान मे संतुलन व आत्म-निर्भरता के अनुकूल :-** इस मॉडल में विदेशी सहायता पर इनती आश्रितता नहीं होती जितनी भारी उद्योगों के मॉडल में होती है। इसलिए इसमें विदेशी भुगतान की समस्या जटिल रूप धारण नहीं करती और देश सच्चे अर्थ में आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण की ओर आगे बढ़ता जाता है।

(vii). **विकास की ऊँची वार्षिक दर :-** डा.ब्रह्मानंद का मत है कि मॉडल में मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि-दर वर्तमान में 3.5% से बढ़ा कर 6-7% कर देंने से समग्र आर्थिक विकास की वृद्धि-दर भी 7% तक प्राप्त की जा सकती है। इसलिए यह विकास की वार्षिक दर को ऊँचा रखने में भी सहायक होता है। मजदूरी-न्ग्गु विकास-नीति में कृषि व सम्बद्ध क्रियाओं जैसे पशुपालन, मछलीपालन, वानिले आदि में वर्षिक विकास-दर कम से कम 6070 प्राप्त करनी होगी। राह वर्तमान स्तर से अनी २.२..। होगी। इसलिए आठवीं योजना में कृषि व ग्रामीण रोजगार पर कुल परिव्यय का अधिक अंश कम किया जाना चाहिए। यही मजदूरी-वस्तु विकास ब्यूहरचना व प्रणाली का स्तर है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन को नियोजन में प्राथमिकता देने से विकास की दर, रोजगार, बचत, विनियोग आदि चल राशियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ते है, और मुद्रास्फीति के नियंत्रण, भुगतान-संतुलन की स्थिति को नियंत्रित करने, धन व आय की असमानता के अनुपात को घटाने, जनसंख्या को नियंत्रित करने तथा परिवेश व पर्यावरण-संरक्षण में काफी मदद मिलती है। इस प्रकार 'भारी उद्योग-प्रथम' की नीति के स्थान पर भविष्य में 'मजदूरी-वस्तुएं प्रथम की नीति अपनाने का समय आ गया है। इससे अधिक उत्पादन व सामाजिक न्याय, आर्थिक स्थिरता व भुगतान-संतुलन तथा पर्यावरण-संरक्षण आदि लक्ष्यों को प्राप्त करने में अधिक सफलता मिलने की आशा है। इससे गांवों में रोजगार के अवसरों का अधिक तेजी से विस्तार किया जा सकेगा जिससे जनसंख्या का गांवों से शहरों की ओर पलायन रुकेगा।

यहां इस बात पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है कि मजदूरी-वस्तु मॉडल में हम पहलें आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं व सेवाओ की माँग का अनुमान लगाते है। फिर उनके उत्पादन की व्यवस्था करते है तथा इस संबंध में आवश्यक पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन व सप्लाई की व्यवस्था करते है। इसलिए यह सोचना गलत होगा कि मजदूरी-वस्तु मॉडल में पूँजीगत उद्योगों को बिल्कुल भुला दिया जाता है, अथवा उनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसमें भी मशीनों व उपकरणों का उत्पादन किया जाता है, लेकिन यह उपभेक्ता-वस्तुओं के प्रत्यक्ष पूरक व सहयोगी के रूप में होता है। इसके विपरीत भारी उद्योग मॉडल में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर अपर्याप्त ध्यान दिया जाता है जिससे देश में इसका अभाव बना रहता है और लोगों को कई प्रकार की कठिनाइयां झेलनी पड़ती है।

विद्वानों का मत है कि आज भारत की स्थिति 1956 की तुलना में काफी बदल गयी है, और अब मजदूरी-वस्तु मॉडल को लागू करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।

3.5 भारत जैसी खुली अर्थव्यवस्था में मजदूरीवस्तु मॉडल की सीमाएं-

मजदूरी-वस्तु मॉडल को अपनाने से भी कई प्रकार की कठिनाईयां उत्पन्न हो सकती है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जनाधिक्य वाले देश में मजदूरी-वस्तुओं जैसे अनाज व दालों,

चीनी, चाय, खाद्य-तेल, नमक, आदि के उत्पादन व सप्लाई को बढ़ाने की आवश्यकता से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता, लेकिन विकास के मॉडल को अत्यधिक मात्रा में मजदूरी-वस्तु मॉडल की तरफ खिसकाने के संबंध में मतभेद हो सकते है। व्यवहार में इसकी सम्भावना के संबंध में आशंका प्रकट की जा सकती है तथा इसको अपनाने से कुछ खतरे भी उत्पन्न हो सकते है।

डा.चरन वधवा (Charan Wadhva) ने भारत जैसी खुली अर्थव्यवस्था में मजदूरी-वस्तु मॉडल की निम्न सीमाएं बतलायी है -

(i). **भारत में पिछले वर्षो में टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं (Consumer durables) का उत्पादन काफी तेजी से बढ़ा है** क्योंकि देश में लगभग 20 करोड़ मध्यम-श्रेणी के व्यक्तियों की मांग की पूर्ति करने के लिए इस दिशा में विनियोग बढ़ाया गया है। अब इसे मजदूरी-वस्तुओं की तरफ भारी मात्रा में मोड़ सकना सम्भव नहीं लगता।

(ii). इस समय देश में सरकार के पास वित्तीय साधनों का अभाव होने से साधनों का संकट बना हुआ है। इसलिए प्रश्न उठता है कि मजदूरी-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए भारी मात्र में विनियोग के लिए साधन कहां से आयेंगें? परोक्ष कर बढ़ाने से मुद्रास्फीति होगी, तथा प्रत्यक्षकरों से साधन बढ़ाने में भी कठिनाईयां पायी जाती है।

यदि मजदूरी-वस्तुओं पर विनियोग बढ़ाने के, लिए ऊर्जा, इन्फ्रास्ट्रक्चर या अन्य प्रमुख भारी उद्योगों पर विनियोग में कटौती की गई तो इन क्षेत्रों में पूर्ति के बंधन, (supply-constraints) उत्पन हो जायेंगे जिससे नई समस्याएं खड़ी हो जायेंगी। देश में गैर-उपभोग टिकाऊ उद्योगों में पूर्ति की कमी हो जायगी।

(iii). आम जनता भी उपभोग के लिए अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करती है जिससे मजदूरी-वस्तुओं की माँग पर प्रभाव पड़ता है :-

यह मान कर चलना भी गलत होगा कि जो मजदूरी-वस्तुएं उत्पन्न की जाती है वे ही आम आदमी को पसंद आ जायेंगी, और वे इनका उपयोग करने लग जायेंगे। व्यवहार में प्राय: यह देखा गया है कि निम्न मध्यम श्रेणी के व्यक्ति अथवा निर्धन व्यक्ति भी अब उपयोग-वस्तुओं की खरीद में अपनी पसंद व्यक्त करने लगे है; जैसे बाजार में मोटे जनता वस्त्र से बनी सूती कमीजों के स्थान पर पोलियेस्टर / पोलीवस्त्र की कमीजें ज्यादा पसंद की जाती है। इसी प्रकार साधारण मीडियम वेव रैडियो के स्थान पर 'टू-इन-वन' या 'थ्री-इन-वन' चलने लगे है। 'ब्लेक एण्ड व्हाइट' टीवी की जगह रंगीन टीवी', साइकिल की जगह स्कूटर तथा कोरे ठंडे पानी की जगह लिष्का या अन्य ठंडे पेय पदार्थो की माँग बढ़ रही है।

इसलिए विद्वानों का मत है कि 1990 के भारत में यदि मजदूरी-वस्तुओं की तरफ औद्योगिक विकास की जबरन मोड़ दिया गया तो औद्योगिक जगत में मंदी आ जायेगी, क्योंकि इससे पिछले वर्षों में विकसित किये गये आधुनिक टिकाऊ उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों के उत्पादन को धक्का पहुंचेगा। इससे निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में औद्योगिक विनियोग पर बुरा असर पड़ेगा, स्टॉक बाजार में गिरावट आयेगी तथा

पूँजी-बाजार गतिहीन हो जायेगा और अंत में हमारे निर्यातों पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(iv). निर्यातों को प्रोत्साहन देने मे बाधा :-

इस प्रकार मजदूरी-वस्तु मॉडल की भी अपनी सीमाएं है जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस मॉडल को अपनाने का सबसे बड़ा खतरा यह है कि भारत अपने निर्यात बढ़ाने में कठिनाई महसूस करेगा। आज एशिया के तथाकथित प्रथम चार टाइगर्स-दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, तैवान व हांगकांग-में इसका नाम नहीं आता तथा एशिया के टाइगर के बच्चों-मलयेशिया, थाईलैण्ड, आदि-में भी इसकी गिनती नहीं होती। ऐसी हालत में विकास-नीति को एकदम मजदूरी-वस्तुओं की तरफ मोड़ देने से अर्थव्यवस्था के और पिछड़ जाने का भय है, जिससे इन्कार नही किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारी उद्योगों व मजदूरी-वस्तु उद्योगों की आर्थिक विकास में अपनी-अपनी भूमिका होती है। दोनों के संबंध में एकतरफा दृष्टिकोण अपनाने से आर्थिक विकास में कठिनाईयाँ उत्पन्न होती है। इसलिए इनके संबंध में काफी संतुलित व प्रावेगिक दृष्टिकोण अपनाया जाना आवश्यक है जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी।

3.6 क्या योजनाकाल मे विकास की प्रारम्भिक आधारभूत व्यूहरचना में कोई परिवर्तन किया गया है?

मोटे तोर पर यह कहा जाता है कि भारत में विकास की नेहरू-महलानोबिस व्यूहरचना जो द्वितीय पंचवर्षीय से आरंभ की गई थी, वह आगामी योजनाओं में भी जारी रखी गयी है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति भारतीय नियोजन की मुख्य लक्षण मानी जा सकती है। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि योजनाओं में कृषि, खाद्यान्न व आम जरूरत की उपयोग्य वस्तुओं के उत्पादन की उपेक्षा की गई है। सच पूछा जाय तो स्वयं महलानोबिस ने विकास की प्रारम्भिक व्यूहरचना में आम जरूरत की उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन घरेलू व लघु उद्योगों में बढ़ाने पर जोर दिया था, ताकि इनका अभाव न रहे तथा मुद्रास्फीति व बेरोजगारी को भी अंशतः नियन्त्रित किया जा सके। महलानोबिस के मॉडल में आगे चल कर उपभोक्ता-माल के उत्पादन की व्यवस्था आधुनिक किस्म के बड़े पैमाने के कारखानों में करने की कल्पना की गई थी।

विकास की व्यूहरचना में हुए कुछ परिवर्तन :-

(i). हरित क्रान्ति योजना के 15 वर्षो के बाद भारत में कृषिगत विकास की नई नीति का प्रादुर्भाव हुआ।1966 सें देश में हरित क्रान्ति की शुरूआत हुई जिसके अंतर्गत फसलों में अधिक उपज देनें वाली किस्मों, उर्वरकों, सिंचाई, कीटनाशक दवाओं, साख की सुविधाओं, लाभप्रद वसूली मूल्यों व सरकारी खरीद आदि का प्रयोग बढ़ा जिससे कृषि अपना परंपरागत स्वरूप छोड़ कर व्यावसायिक स्वरूप ग्रहण करने लगी। इससे भारत में गेहूँ व चावल का उत्पादन विशेषतया बढ़ा और भारत खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर हो गया। कृषि में यंत्रीकरण आधुनिकीकरण व व्यवसायीकरण का प्रभाव बढ़ा जिससे विकास की गति पर भी असर आया। लेकिन साथ में अन्तर्क्षेत्रीय व अन्तर्वर्गीय असमानताएं भी उत्पन्न

हो गईं, और कृषकों के लिए इन्पुटों की सप्लाई बढ़ाने की समस्या भी उत्पन्न हों गई। विकास के दौरान ये तनाव उत्पन्न होने स्वाभाविक थे।

(ii). पाँचवी पंचवर्षीय योजना (19 74-79) में विकास के साथ-साथ वितरणात्मक न्याय पर भी जोर दिया जाने लगा तथा निर्धनता व बेरोजगारी को दूर करने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता स्वीकार की गई। पहले यह सोचा गया था कि विकास के लाभ स्वत: निर्धनता-निवारण व रोजगार-संवर्धन के रूप में ढलकने (trickle-down) लगेंगे। लेकिन जब ऐसा कुछ नही हुआ तो गरीबी व बेरोजगारी पर प्रहार करने के लिए अलग से विशेष कार्यक्रम अपनाये जाने लगे। आगे चल कर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (गरीबी दूर करने के लिए) तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम एवं ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (बेकारी कम करने के लिए) आदि ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रम चालू किये गये ताकि क्षेत्रीय पिछड़ापन दूर किया जा सके तथा पिछड़े वर्गों की आर्थिक दशा भी सुधारी जा सके।

(iii). इस प्रकार भारतीय नियोजन की यात्रा में आये के चरण में हरित क्रान्ति व वितरणात्मक न्याय के समावेश से नियोजन को एक नया मोड़ व नया आयाम अवश्य मिला, लेकिन मूलतः विकास की रणनीति में भारी उद्योगों की प्रधानता को बरकरार रखा गया। इसीलिए छठी व सातवीं योजनाओं में भी ऊर्जा, इस्पात पेट्रोल, भारी इन्जीनियरी उद्योगों, भारी रसायन उद्योगों, आदि पर बराबर विकास के दबाव बने रहे। अतः विकास के दौरान सामयिक परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुसार नियोजन की आधारभूत व्यूहरचना को नया मोड़ मिला।

बोध प्रश्न- 2

1. मजदूरी-वस्तु मॉडल का आशय बतलाइए तथा प्रमुख मजदूरी-वस्तुएं लिखिए।
2. मजदूरी-वस्तुओं पर आधारित विकास की ब्यूहरचना के तीन प्रमुख गुण बताइए।
3. मजदूरी-वस्तु मॉडल की तीन प्रमुख कमियां दर्शाइए।
4. क्या आप यह मानते है कि भारतीय नियोजन के चार दशकों में विकास की भारी उद्योगों पर आधारित व्यूहरचना में कोई आधारभूत परिवर्तन हुआ है?

3.7 भारी उद्योगमॉडल की उपलब्धियां व मूल्यांकन-

भारत मे भारी उद्योग-मॉडल सोवियत् संघ के नमूने पर अपनाया गया था। वहाँ भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति काफी सफल हुई क्योंकि इसको अपनाकर सोवियत संघ में विद्युत, तेल, गैस, कोयला, इस्पात, खनिज उर्वरक, सीमेंट, रसायन, आदि के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुईं और वह विश्व की महान आर्थिक शक्तियों में अपना स्थान बना सका। आज इसके उत्पादन में उसका स्थान अमेरिका के बाद आता है। रूस में कोयले का उत्पादन 1940 में 16 .6 करोड़ टन के बढ़ कर 1987 में 76 करोड़ टन हो गया, तथा इस्पात का 1940 में 1 .8 3 करोड़ टन से बढ़ कर 1'987 में 16.2 करोड़ टन हो गया। इस प्रकार भारी उद्योगों को प्राथमिकता देकर रूस नें अपनी अर्थव्यवस्था की तकनीकी क्षमता तथा सुरक्षा उद्योगों को काफी सुदृढ़ कर सका है, हालांकि इसकी वजह से विकास के शुरू के वर्षों में उसे उपभोग्य वस्तुओं के अभाव का सामना करना पड़ा था, जिसे अब अनाज, मांस,

दूध, अण्डों, फल-सब्जी, आदि का उत्पादन बढ़ाकर काफी सीमा तक ठीक कर लिया गया है, और भविष्य में इसें और सुधारे जाने की आशा है।

भारत में भी भारी उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देने से कई आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, इनमें बहुधा विकास की वार्षिक दर ऊँची रही है जिसके फलस्वरूप औद्योगिक ढांचे में इनका स्थान पहले से ऊँचा हो गया है। आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों के क्षेत्र में मुख्य उपलब्धियां इस प्रकार रही है :

(i). **उत्पादन में वद्धि :-** प्रमुखी भारी उद्योगों में उत्पादन की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है

तालिका 3.1

भारी उद्योगों में उत्पादन

	1950-51	1970-71	1988-89	1988-89 में उत्पादन1950-51 का गुना
(अ) तैयार इस्पात(मिलियन टन)	1.0	4.6	10.9	11
(आ) सीमेंट (मिलियन टन)	2.7	14.3	41.8	15
(इ) कोयला (लिग्नाइट सहित)(मिलियन टन)	32.8	76.3	207	6.3
(ई) कूड तेल (मिलियन टन)	0.26	6.8	32	123

योजनाकाल में (1950-51 से 1988-89 तक) कोयले का उत्पादन 6 .3 गुना, सीमेंट का 15 गुना तथा इस्पात का 11 गुना एवं कूड तेल का 123 गुना हो गया। इसी अवधि में रासायनिक उर्वरकों, विविध प्रकार की मशीनरी, परिवहन-उपकरणों आदि का उत्पादन भी बढ़ा है।

(ii). विभिन्न श्रेणी के उद्योगों मे आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों में वार्षिक वृद्धि-दरें निम्न तालिका में दी जाती है।

तालिका 3.2

वस्तु समूह	1955-60	1960-65	1965-76
(अ) आधारभूत वस्तुएं	12.1	10.4	6.5
(आ) पूँजीगत वस्तुएं	13.3	19.6	2.6
(इ) पटसन वस्तुएं	6.3	6.9	3.0
(ई) उपभोग्य वस्तुएं	4.4	4.9	3.4

(स्रोत : सी.पी.चन्द्रशेखर का लेख, EPW, विशेष अंक, नवम्बर 1988, पृ.2365)

तालिका से स्पष्ट होता है कि 1955-56 तक की अवधि में आधारभूत वस्तुओं व पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की वार्षिक दरें अन्य उद्योग-समूहों से ऊँची रहीं है। बाद के वर्षो में वृद्धि-दरों में उतार-चढ़ाव आते रहे है।

1980 के दशक में आधारभूत वस्तु उद्योगों में विकास की वार्षिक दर 1984-85 11.17 रही जो सर्वाधिक थी। पूँजीगत वस्तु-उद्योगों में 1986-87 में यह 18 .27% रही जो सर्वाधिक थी। इस प्रकार भारी उद्योगों को विकास में प्राथमिकता देने से इनका उत्पादन बढ़ा है, जो अन्यथा सम्भव नहीं था।

(iii). औद्योगिक ढांचे में भारी उद्योगों का योगदान पहले की तुलवा में ऊँचा हुआ है :- योजनाकाल में भारत का औद्योगिक ढांचा काफी बदल गया है जिसका परिचय निम्न तालिका से मिलता है।

(जोड़े गये मूल्य (value-added) में प्रतिशत अंक) (स्थिर भावों पर)

तालिका 3.3

उद्योग की श्रेणी	1960-61	1979-80
(अ) आधारभूत उद्योग	27 } 38	31 } 49
(आ) पूँजीगत उद्योग	11	18
(इ) मध्यवर्ती उद्योग	21	16
(ई) उपभोक्ता उद्योग	41	35
कुल	100	100

इस प्रकार योजनाकाल में श्रेणी (अ) + श्रेणी (आ) का योगदान, अर्थात भारी उद्योगों का योगदान, लगभग 1/3 से बढ़कर 1/2 हो गया है। (1960-61 से 1979-80 की अवधि में)। अत: भारत के औद्योगिक ढांचे में भारी उद्योगों की दिशा में परिवर्तन आया है।

(iv). **भारतीय पूँजीगत वस्तुओं की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता मे भी सुधार हुआ है :-** प्राय: यह माना जाता है कि भारतीय मशीनें घटिया होती है और इनकी लागत बहुत ऊँची होती है। लेकिन यह धारणा भी ज्यादातर मामलों में सही नहीं है। कई स्वतंत्र -अध्ययनों से प्रमाणित हुआ है कि कुल घरेलू पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों, जैसे गैर-विद्युत मशीनरी, -रेलवे परिवहन, मशीनरी, कुछ खनन-उपकरणों, आदि में हमारी लागते अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी प्रतिस्पर्धात्मक रही है। अत: भारतीय उत्पादक कार्यकुशल भी प्रमाणित हुए है। हालांकि इस दिशा में अभी अधिक प्रगति करने की काफी गुंजाइश है।

इस प्रकार भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता देने से योजनाकाल के लगभग 35 वर्षो में यह क्षेत्र विकसित हुआ है, जिससे औद्योगिकरण की नींव सुदृढ़ हुई है और भारत आगामी वर्षो में आत्म-निर्भर औद्योगिक विकास की दिशा में अग्रसर होने की स्थिति में पहुंच गया है।

मूल्यांकन-यद्यपि देश में पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों की प्रगति हुई है फिर भी इनके संबंध में कुछ समस्याएं भी सामने आयी है, जिन्हें भावी योजनाओं में हल करना होगा। ये इस प्रकार है:-

(i). **उत्पादन-क्षमता का अल्प प्रयोग :-** प्राय: यह देखा जाता है कि भारतीय उद्योग कुछ कारणों से अपनी प्रतिस्थापित उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। इसके निम्न

कारण हो सकते है, जैसे माँग की कमी, कच्चे माल का अभाव, टेक्नोलोजी के परिवर्तन, विद्युत का अभाव, औद्योगिक विवाद, आदि। विभिन्न पूँजीगत उद्योगों की वैयक्तिक समस्याओं को हल करके इनकी उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग किया जाना चाहिए।

(ii). **पूँजीगत वस्तुओं के आयातों में वृद्धि :-** भारत में पिछले वर्षो में धातु निर्मित वस्तुओं, मशीनरी, परिवहन, उपकरणों व प्रोजेक्ट-वस्तुओं (उर्वरक-सयंत्र आदि) के आयात में काफी वृद्धि हुई है। 1987-88 में इनका आयात 6285 करोड़ रु.का हुआ तथा 1988-89 में 6939 करोड़ रु.का हुआ। 1988-89 में पूँजीगत वस्तुओं का अयात कुल आयात का लगभग 1/4 था। इस प्रकार भारत में आज भी पूँजीगत माल का भारी मात्रा में आयात किया जाता है जिसे प्रयत्न करके स्वदेशी उत्पादन बढ़ा कर कम किया जाना चाहिए।

(iii). **पूँजीगत उद्योगों में तकनीकी कार्यकुशलता बढ़ाने की आवश्यकता :-** भारते में' पूँजीगत उद्योगों में तकनीकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए विदेशों से टेक्नोलोजी का अयात किया जाना चाहिए। प्रयत्न करके भरतीय पूँजीगत उद्योगों के माल का निर्यात भी बढ़ाया जा सकता है (विकासशील देशों में)। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि व्यूहरचना में भारी उद्योगों को ऊँचा स्थान देने की नीति 1956 की परिस्थितियों में समयोचित थी। लेकिन आाठवी योजना की पूर्व संख्या पर देश की आर्थिक दशाएं व आवश्यकताएं काफी बदल गई है। इसलिए इन परिवर्तन परिस्थितियों में अधिक अनुकूल विकास ही नई ब्यूहरचना का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने पर उचित बल देना होगा।

3.8 भावी नियोजन की व्यूहरचना में इनका सापेक्ष स्थान क्या होना चाहिए?

भारत में विकास की व्यूहरचना में काफी लंबा अवधि तक भारी उद्योगों-आधारभूत व पूँजीगत उद्योगों-पर बल दिया गया है। इसकी उपलब्धियों का ऊपर मूल्यांकन किया जा चुका है। अब प्रश्न उठता है कि भावी नियोजन की व्यूहरचना में पूँजीगत उद्योगों व आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों का सापेक्ष स्थान क्या होना चाहिए?

यहाँ पर स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि नियोजन के 50 वर्षो के बाद देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति के प्रमुख लक्षण निम्नांकित है जिनको ध्यान में रखकर ही नई विकास-नीति निर्धारित करनी होगी :-

(i). देश की जनसंख्या जून 1990 में लगभग 84 करोड़ हो चुकी थी, जिसमें आज भी 2% से अधिक वार्षिक दर से वृद्धि हो रही है। प्रतिवर्ष श्रम-शक्ति सें 80 लाख से अधिक व्यक्ति जुड़ जाते है। गांवों से नगरों व महानगरो की तरफ जनसंख्या के पलायन को रोकना अब ज्यादा जरूरी हो गया है।

(ii). देश में गरीबी, बेरोजगारी, अल्परोजगार व असमानता की समस्या काफी प्रबल रूप धारण करती जा रही है।

(iii). आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं की माँग काफी बढ़ गई है और उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इनकी कीमतें भी ऊँची हो गई है जिससे मुद्रास्फीति की काफी जटिल हो गई है। आवश्यक वस्तुओं

व सेवाओं की कीमतों को नियन्त्रित रखना बहुत जरूरी हो गया है। इसके लिए इनकी सप्लाई में निरंतर वृद्धि करना नितान्त आवश्यक है। यदि इनकी पूर्ति घरेलू उत्पादन बढ़ा कर नहीं की जा सकती तो इनका आयात विदेशों से करना आवश्यक हों जाता है।

(iv). पूँजीगत वस्तुओं की गुणवत्ता बढ़ाने व लागत घटाने की आवश्यकता है।

(v). देश में टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन व माँग तो काफी बडे है, लेकिन आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं का प्राय: अभाव पाया जाता है। भारत ने एक तरफ खाद्यानों का उत्पादन बढ़ा कर इनका आयात कम कर लिया है, लेकिन खाद्य-तेलों का आयात बढ़ाना पड़ा है क्योंकि देश में तिलहन का उत्पादन पर्याप्त नही रहा है। वर्तमान आर्थिक स्थिति के उपुर्यक्त लक्षणों को ध्यान में रखते हुए 1990 के दशक के लिए विकास की नीति के निर्धारण में निम्न बातों का समावेश किया जाना चाहिए।

(i). आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन व वितरण पर ध्यान देना होगा। इनका उत्पादन सार्वजनिक, निजी तथा सहकारी क्षेत्रों प्रोत्साहित करना होगा। साथ में इनका उत्पादन बड़े पैमाने, लघु पैमाने तथा कुटीर उद्योगों सभी में परिस्थितियों के अनुसार करना होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-पदार्थों की प्रोसेसिंग करने की योजनाएं संचालित की जासकतीहै जैसे फलों को डिब्बों में भरने की योजना संचालित की जा सकती है।

(ii). कृषिगत उत्पादन-विशेषतया खाद्यानों के उत्पादन कों बढ़ाने पर अधिक ध्यान देना होगा। खाद्यान्न मजदूरी-वस्तुओं में सर्वोच्च स्थान रखते है।

(iii). पूँजीगत वस्तुओं की गुणवत्ता सुधारने तथा चुने हुए ढंग पर इनका विस्तार करने की नीति जारी रखनी होगी। कृषि व उद्योग, लघु व वृहद उद्योग, सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र, आदि में परस्पर गहरा सम्पर्क स्थापित करना होगा।

(iv). परिवहन, संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल आदि का भी समुचित विकास करना होगा वर्तमान सरकार कृषि व ग्रामीण विकास पर सार्वजनिक व्यय का लगभग आधा भाग, आवंटित करना चाहती है। आठवीं योजना को रोजगारोमुखी, ग्रामोन्मुखी व गरीबोन्मुखी बनाया जा रहाहै। अत: अबबहुत्कुछमजदूरी-वस्तु व सेवा आधारित विकास-व्यूहरचना का समय आ गया है, हालांकि इसको लागू करते समय: आवश्यक पूँजीगत उद्योगों की उपेक्षा करना गलत होगा। वास्तव में हमारी परिस्थितियों में 'यह या वह' का दृष्टिकोण न रखकर 'यह एवं वह' का दृष्टिकोण अपनाना अधिक श्रेयष्कर होगा, क्योंकि विकास के लिए आवश्यक पूँजीगत माल व आवश्यक उपभोक्ता-माल दोनों की समान रूप से आवश्यकता होती है।

बोध प्रश्न : 3

1. भारी उद्योगों के क्षेत्र में उपलब्धियाँ बताइए।
2. भारतीय नियोजन में भारी उद्योगों को दी गई प्राथमिकता सही प्रमाणित हुई?
3. भावी नियोजन में विकास की व्यूहरचना का आधार क्या हो?
4. क्या भावी नियोजन को मजदूरी-वस्तु मॉडल पर आधारित करना राष्ट्र हित में होगा?

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

[1] Mishra & Puri,Indian Economy.7th ed.,1989,ch.15.

[2] P.R. Brahmananda,Planning For AFuture less Economy,1979,ch.15 and other relevant chapter.

[3] V.G.Bhatia,Eighth Plan,An Alternative Approach Economic Times,July 31,1989.

[4] PR Brahmananda,Wage goods Planning,(2 parts) Financial Express,August 8 &9,1989.

[5] Charan Wadhva,Economic Advisory Council's Report on the Economic An Apprarised,EPW,March 3,1990,PP.453-455,(for wage -good model's weaknesses).

[6] CP Chandrashankhar,Aspects of Grwth and Structured change in Indian Industry,EPW,Special Number 1988.

[7] Sukhamoy Chakravarty,1987,ch.2 and 3.

प्रश्नों के उत्तर

[1] (i) योजना के लक्ष्य (ii) उनकों प्राथमिकता के क्रम में जंचाना (iii) प्राप्त करने के लिए उचित नीतियों व उपाय अपनाना।मूलत: व्यूहरचना में विनियोग के प्रारूप पर सर्वाधिक बल दिया जाता है तथा आर्थिक नीतियों में साधन-संग्रह, राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों तथा विदेशी पूँजी पर बल दिया जाता है।

[2] द्वितीय योजना के फ्रेमवर्क (1956) में भारी उद्योग, आधारभूत (बेसिक) उद्योग व पूँजीगत उद्योग एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये थे। लेकिन आजकल उपयोग-आधारित औद्योगिक वर्गीकरण के अनुसार भारी उद्योग में आधारभूत उद्योग (सीमेंट, इस्पात, उर्वरक आदि) तथा पूँजीगत उद्योग (मशीनें व परिवहन-उपकरण, आदि) दोनों शामिल होते है।

'भारी उद्योग-प्रथम' की नीति से (i) पूँजी निर्माण की ठोस आधारशिला रखी जाती है, (ii) प्राकृतिक साधनों का विदोहन होगा (iii) आयात-प्रतिस्थापन व आत्म-निर्भरता प्राप्त होगी।

[3] भारी उद्योग मॉडल की तीन कमियाँ : (i) उपभोक्ता-वस्तुओं का निरंतर अभाव, (ii) बेरोजगारी की समस्या का उचित हल नहीं (iii) विदेशी विनिमय की कठिनाई।

[4] (i) मजदूरी-वस्तु मॉडल में कुल विनियोग में अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक अंश आबंटित किया जाता है। खाद्यान-मोटा अनाज व दालें, साधारण कपड़ा, खाद्य-तेल, अंडे, मांस, मछली, गुड-'चीनी, चाय, कॉफी, माचिस, नमक, साधारण किस्म की दवाएं, खेल का सामान, परिवहन की सुविधा, पेयजल, वगैर: मजदूरी-वस्तुएं व सेवाएं मानी जाती है।

[5] (i) तीन तरह का पूर्ण रोजगार मिलता है.सभी श्रमिकों को वर्षपर तथा पर्याप्त वास्तविक मजदूरी पर, (ii) मुद्रास्फीति पर नियंत्रण व जीवन-स्तर में वृद्धि (iii) विदेशी भुगतान की समस्या से मुक्ति।

[6] (i) विनियोग के साधनों का अभाव (ii) लोगों की रूचि मजदूरी-वस्तुओं से हटकर उत्तम व आरामदायक उपभोक्ता-माल के पक्षमें होने से माँग की कमी तथा (iii) अर्थव्यवस्था में औद्योगिक मंदी, बाजार में गिरावट, आदि का भय।

बोध प्रश्न 2

[1] भारी उद्योगों में उत्पादन बढ़ा, (ii) इन उद्योगों में विकास की वार्षिक वृद्धि-दरें सामान्यतया ऊँची रही, (iii) औद्योगिक ढांचे में इनका योगदान 1/3 से बढ़कर 1/2 हो गया है।

[2] कुल मिलाकर सही प्रमाणित हुई क्योंकि इससे विकास का आधार सुदृढ़ हों गया।।

[3] (i) जनसंख्या व वार्षिक वृद्धि-दर, (ii) उपभोक्ता काल की मांग में वृद्धि (iii) गरीबी, बरोजगारी, असमानता की समस्याएं (iv) पूँजीगत माल की गुणवत्ता बढ़ाने की आवश्यकता तथा (v) टिकाऊ उपभोक्ता-माल के साथ-साथ आवश्यक उपभोक्ता-माल के उत्पादन पर बल देने की आवश्यकता।

[4] मजदूरी-वस्तुओं के उत्पादन व देशव्यापी सार्वजकि वितरण पर यथोचित ध्यान दिया जाना चाहिए। विकास-मॉडल को रोजगार-आधारित बनाना अधिक लाभकारी होगा। चुने हुए ढंग पर पूँजीगत माल के उत्पादन पर भी ध्यान देना होगा। कुल मिलाकर आवश्यक उपभोक्ता-माल व आवश्यक पूँजीगत माल के उत्पादन पर संतुलित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

इकाई 4
विकेन्द्रित नियोजन-पद्धति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 केन्द्रित व विकेद्रित नियोजन में मुख्य अंतर

4.3 विकेन्द्रिएत नियोजन की कार्य-पद्धति (methodology)पंचायती राज संस्थाओं से संबंध

(अ) योजना कैसे बनायी जाती है?

(ब) योजना की मशीनरी कैसी होती है?

4.4 विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में प्रगति व अनुभव-कर्नाटक, पश्चिमी बंगाल व गुजरात में विकेन्द्रित नियोजन

4.5 विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में बाधाएं व समस्याए

4.6 विकेन्द्रित नियोजन की सफलता की आवश्यक शर्ते

4.7 भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य व सुझाव

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.9 बौध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विकेन्द्रित नियोजन पद्धति के अर्थ एवं उद्देश्यों से आपका परिचय कराना है।

4.1 प्रस्तावना

एक देश के आर्थिक साधनो का निर्धारित सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करने की विधि को नियोजन की पद्धति कहते है। इसके कई रूप है। इनमें से केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन के रूप में विशेष चर्चा के विषय रहे है। केन्द्रित नियोजन को 'ऊपर से नियोजन' (Planning from above) भी कहते है। भारतमें योजना-आयोग द्वारा अब तक जो पंचवर्षीय योजनाएं बनायी गयी है वे इसी श्रेणी मे आती है। इसमें केन्द्रीय व राज्यीय स्तरों पर योजनाओं का निर्माण होता है। योजना-आयोग विभिन्न राज्य सरकारों से विचार-विमर्श करके उनकी योजनाओं के लिए सार्वजनिक व्यय की राशि स्वीकृत करता है। इस प्रकार केन्द्र व राज्यों के बीच आवश्यक सलाह से योजना बनायी जाती है। लेकिन इस पद्धति में राज्य-स्तर से, नीचे योजना की प्रक्रिया पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसके विपरीत विकेन्द्रित नियोजन को'नीचे से नियोजन' (planning for bottom) अथवा 'ग्रासरूट प्लानिंग' (grassroot planning) भी कहते है, जिसमें योजनाका निर्माण वस्तुतः ग्राम-स्तर से ऊपर खण्ड या तालुका-स्तर, फिर जिला-स्तर से ऊपर तथा आगे राज्य-स्तर के केन्द्र-स्तर की तरफ किया जाता है।"

इस प्रकार विकेन्द्रित नियोजन में योजना का निर्माण व क्रियान्वयन दृष्टि से सबसे छोटी इकाई, अर्थात् गांव, से आरंभ होता है, हालांकि व्यवहार नियोजन की इकाई 'जिला' या 'खण्ड' रखी जाती है, ताकि नियोजन की कार्यकुशलता बनी रही। स्मरण रहे कि विकेन्द्रित नियोजन व पंचायत राज संस्थाओं का परस्पर गहरा संबंध होता है, क्योंकि इस पद्धति में आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण भी आवश्यक माना गया है।

भारत जैसे विशाल देश के लिए विकेन्द्रित नियोजन निम्न कारणों से, विशेष रूप से, आवश्यक माना गया है।

(i). भारत के कुछ जिलों की जनसंख्या का अधिक होना :-

भारत में विकेन्द्रित नियोजन के पक्ष में प्रथम कारण यह दिया जाता है कि नियोजन अत्यावश्यक हो जाता है। हमारे देश में कई राज्यों की जनसंख्या व क्षेत्रफल फ्रांस व जर्मनी से अधिक है। ऐसे देश में नियोजन की प्रक्रिया को राज्य-स्तर पर रोक देने से आर्थिक विकास में बाधा पड़ सकती है, क्योंकि इससे राजनीतिक व आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(ii). सभी लोगों को विकास की धारा में शामिल करने के लिए :-

अब तक के नियोजन का अनुभव रहा है कि कुछ लोग आर्थिक क्रिया व आर्थिक विकास की मुख्य धारा से बाहर रह गये थे। उन्हें विकास-कार्यक्रमों से या तो कोई लाभ नही मिला, अथवा अपर्याप्त लाभ मिला, जिससे विकास की दृष्टि से अन्तर्क्षेत्रीय व अंतर्वर्गीय असमानताएं बढ़ी। भावी नियोजन में इस कमी को दूर करने के लिए जिला व खण्ड नियोजन की तरफ बढ़ना आवश्यक माना गया है। ऐसा करके अब तक विकास के लाभों से वंचित लोगों को भी विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है।

(iii). विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही स्थानीय साधनों व स्थानीय आवश्यकताओं में आवश्यक ताल-मेल बैठाया जा सकता है।

विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक साधन व उनकी आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न होती है। उनके विकास के स्तरों में भी काफी अंतर पाये जाते है। किसी खण्ड तालुका में ट्यूब-वेल की जरूरत होती है, तो किसी में जल-विकास की, किसी में पशु-चिकित्सा की तो किसी में संचार की, आदि। इसलिए स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय नियोजन ही अधिक उपयुक्त होता है। राष्ट्रव्यापी या राज्यव्यापी नियोजनों में क्रमश: देश व राज्यों की आवश्यकताओं का तो ध्यान रखा जा सकता है, लेकिन इससे नीचे के स्तरों की अलग-अलग प्रकार की जरूरतों पर ध्यान दे पाना दुष्कर होता है।

(iv). नियोजन की प्रक्रिया में आम आदमी की भागीदारी को प्रोत्साहन देने के लिए :-

विकेन्द्रित नियोजन के पक्ष में एक प्रबल तर्क यह है कि इसी के माध्यम से आम लोगों को नियोजन की प्रक्रिया में शामिल किया जा सकता है। जब ग्राम-स्तर पर नियोजन किया जाता है तो लोगों को योजना के निर्माण के समय अपनी बात कहने का अवसन मिलता है, और बाद में इसके क्रियान्वयन में भाग लेने का अवसर मिलता है, जो अन्यथा सम्भव

नहीं था। इससे नियोजन अधिक व्यावहारिक, लचीला व परिणामोमुख बनाया जा सकता है।

(v). विकेन्द्रित नियोजन के अनुकूलतम परिणाम : -

वर्तमान समय में राज्य सरकारों के विभिन्न विभाग जिला-स्तर पर अपने-अपने काम देखते है, जैसे कोई सिंचाई का, कोई पशु-पालन का, कोई भू-संरक्षण का, आदि। इनमें प्राय: परस्पर ताल-मेल का अभाव रहता है। दूसरी तरफ सरकारी विभागों व पंचायती राज संस्थाओं में भी ताल-मेल की कमी रहती है। इस परिस्थिति में सरकारी व्यय का पूरा लाभ नहीं मिल पाता और काफी व्यय के निरर्थक चले जाने की अधिक सम्भावना रहती है। विकेद्रित नियोजन की प्रक्रिया में सरकारी एजेंसियों व जन प्रतिनिधि-एजेंसियों में अधिक ताल-मेल व समन्वय होने से व्यय से अनुकूलतम परिणाम निकल सकते है।

(vi). ऊर्जा-नियोजन की दृष्टि से विकेन्द्रीकरण लाभदायक :-

अक्टूबर 1983 में आर्थिक सलाहकार परिषद् ने विकास-नियोजन व क्रियान्वयन के विकेन्द्रीकरण पर प्रधानमंत्री को जो रिपोर्ट दी थी, उसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि भारतीय गांवों में ऊर्जा का प्रभावपूर्ण नियोजन विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही सफल बनाया जा सकता है। ऊर्जा के परम्परागत साधनों (कोयला, जल-विद्युत, तेल) तथा गैर परम्परागत साधनों (वायु, लकड़ी, सौर-ऊर्जा, आदि) का सर्वोत्तम उपयोग ग्रामीण नियोजन के माध्यम से ही संभव है। गांवों की ऊर्जा-समस्या का हल भी इसी विधि से निकाला जा सकता है। गांवों में गोबर-गैस के चूल्हों का फैलाव इस दिशा में प्रगति का सूचक है।

(vii). गांवों को परस्पर जोड़ना तथा गांवों व छोटे कस्बों को परस्पर जोडना संभव :-

भारत के अधिकांश गांवों में जनसंख्या बहुत थोड़ी पायी जाती है और वे एक दूसरे से काफी दूर-दूर बसे होते है। उनमें परस्पर कड़ी स्थापित करने तथा उनको पास के छोटे शहरों सें जोड़ने के लिए इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास की आवश्यकता होती है जैसे, सड़क, गोदाम, व परिवहन की सुविधाएं आदि। ये काम विकेन्द्रित नियोजन से ही संभव हो सकते है जहाँ प्रत्येक क्षेत्र अपनी आवश्यकताएं.ठीक से पहचान पाता है और उनको पूरा करने में स्थानीय साधनों का भी योगदान दे सकता है।

(viii). मिट्टी, धरातल व जलवायु की विभिन्नताओं के कारण स्थानीय नियोजन जरूरी -

प्राय: एक राज्य के विभिन्न भागों में जलवायु, वर्षो, मिट्टी आदि के अंतर पाये जाते है जिससे उनकें नियोजन में अंतर करना आवश्यक हो जाता है। भू-स्वामित्व, भूजोतों के अपखण्डन व वितरण, आदि के प्रश्न बड़े जटिल होते है। अतः विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही इन विभिन्न प्रकार की दशाओं में अधिकतम आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि विकेन्द्रित नियोजन के माध्यम से ही; हम आर्थिक विकास की दर को ऊँचा कर सकते है, रोजगार-संवर्धन व निर्धनता-निवारण के कार्यक्रम अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लागू कर सकते है, ऊर्जा व इन्फ्रास्ट्रक्चर के नियोजन को अधिक सफल

बना सकते है, तथा लोगों की आवश्यकताओं के मुताविक नियोजन को अपनाकर उसमें उनकी भागीदारी को भी बढ़ा सकते है। कहने का आशय यह है कि भारत जैसे विशाल देश में, जो लोकतांत्रिक मूल्यों को विशेष आदर देता है, विकेन्द्रित नियोजन व पंचायती राज संस्थाओं के विकास से ही देशवासियों का जीवन-स्तर बेहतर बनाया जा सकता है। ग्रामवासियों, वनवासियों, गिरीवासियों अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों, खेतिहर मजदूरी, हरिजनों व अन्य पिछड़ी जातियों के आर्थिक कल्याण के लिए सरकार को आगामी कई वर्षो तक विकेन्द्रित नियोजन की प्रक्रिया व पद्धति के माध्यम से संघर्षरत रहना होगा, तभी वांछित सफलता मिल सकेगी।

4.2 केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन में मुख्य अंतर

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारत विकेन्द्रित नियोजन की पद्धति को अपना कर अधिक लाभ उठा सकता है। योजना-आयोग के वर्तमान उपाध्यक्ष श्री रामकृष्ण हेगड़े ने आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में विकेन्द्रित नियोजन-प्रणाली को अपनाने पर बल दिया है। जैसा कि कहा जा चुका है भारत अब तक मूलत केन्द्रित नियोजन के मार्ग पर ही चलता रहा है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना योजना-आयोग द्वारा एक विशेष मॉडल के आधार पर केन्द्रीय स्तर पर तैयार की गई है।

केन्द्रिय नियोजन की पद्धति का व्यापक रूप से प्रयोग सोवियत संघ में किया गया है। भारत ने भी द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरंभ से नेहरू-महलानोबिस विकास-नीति के तहत सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों पर आधारित औद्योगीकरण का मार्ग ग्रहण किया था। तब से सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष 1989-90 तक देश केन्द्रित नियोजन की पद्धति पर ही चलता रहा है, हल्लांकि सातवीं योजना (1985 -90) में कुछ राज्यों, जैसे कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, गुजरात आदि के विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में कुछ कदम उठाये है। नीचे केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन में मुख्य अंतर बतलाये गये है -

केन्द्रित नियोजन	**विकेन्द्रित नियोजन**
(i). इसका निर्माण सीधे राष्ट्रीय स्तर पर योजनाधिकारीकरतेहै। फिरनिचले स्तरों जैसे.राज्यीय स्तर, जिला-स्तर आदि पर विकास-कार्य किये जाते है।	(i). इसका निर्माण वस्तुतः ग्राम-स्तर से आरम्भ होता है, फिर खण्ड या तालुका- स्तर व जिला स्तर पर योजनाएं -बनायी जाती है। तत्पश्चात् राज्यीय योजनाए बनती है और अंत में राष्ट्रीय योजना बनती है। अतः इसकी निर्माण प्रक्रिया केन्द्रित नियोजन से विपरीत होती है।
(ii). इसमें नियोजित विकास की वार्षिक दर का निर्धारण विनियोग की राशि व पूँजी-उपत्ति अनुपात (Capital-out-put ratio) तथा जनसंख्या की वृद्धि, आदि के आधार पर निकाला जाता है। इसमें समग्र दृष्टिकोण अपनाया जाता है।	(ii). इसमें व्यष्टि-दृष्टिकोण से प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि गांव की योजना कार्यक्रम व प्रोजेक्टों से चालू करके खण्ड स्तर पर, फिर जिला-स्तर पर, और अंत में राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचते है। अतः इसमें विकास की दर का अनुमान बाद में लगाया जाता है।
(iii). इसमें राजनीतिक केन्द्रीकरण हो जाता है।	(iii). इसमें राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण हो जाता है,

केन्द्रके हाथों में आर्थिक सत्ता सिमट जाती है।	अर्थात् पंचायती राज संस्थाओं, जैसे जिला परिषदों, पंचायत-समितियों व ग्राम-पंचायतों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।
(iv). यह ज्यादातर अधिनायक तंत्र में सफल हो पाती है जैसे रूस की साम्यवादी अर्थव्यवस्था	(iv). यह ज्यादातर लोकतंत्र में जनसहयोग के आधार पर संचालित होने पर अच्छे परिणाम देती है।
(v). इसका निर्माण अपेक्षाकृत सरल व शीघ्रगामी होता है।	(v). इसका निर्माण जटिल होता है तथा उसमें सम भी अधिक लगता है।
(vi). यह बहुधा आम जनता की आकांक्षाओं व अभिलाषाओं का पर्याप्त ध्यान नहीं रख पाती।	(vi). यह सर्वसाधारण की आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान दे पाती है।

इस प्रकार केन्द्रित व विकेन्द्रित दोनों प्रकार की योजनाओं के अपने-अपने लक्षण होते है। प्रत्येक देश को अपनी राजनीतिक व्यवस्था, आकार, विकास की अवस्था व आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजन की पद्धति का चुनाव करना चाहिए। स्मरण रहे कि केन्द्रित व विकेन्द्रित दोनों प्रकार की योजना-पद्धतियों में राष्ट्रीय स्तर पर योजना होती है, लेकिन उसके बनने की प्रक्रिया में अंतर होने के कारण उसमें गुणात्मक भेद पाया जाता है जो काफी महत्वपूर्ण होता है, विकेन्द्रित योजना केन्द्रित योजना का सहायक व पूरक होती है।

4.3 विकेन्द्रित नियोजन की कार्य) पद्धति-methodology (तथा पंचायती राज संस्थाओं से संबंध:

(अ) योजना कैसे बनायी जाती है?

जैसा कि पहले कहा जा चुका है विकेन्द्रित नियोजन में योजना का निर्माण नीचे से ऊपर की और चलता है। इसमें हम ग्राम-स्तर से प्रारम्भ कर सकते है। अतः इसमें सर्वप्रथम गाँवों के लिए योजनाएं बनायी जाती है। इन ग्राम्य योजनाओं में खण्ड या तालुका-स्तर पर आवश्यक संशोधन करके खण्ड-योजनाएं (block plans) बनायी जाती है। आगे चलकर खण्ड-योजनाओं को इकट्ठा करके जिलेवार योजनाएं बनती हैं। यही कम आगे राज्य व केन्द्र-स्तर पर जारी रख कर राष्ट्रीय योजना का निर्माण होता है।

(i). खण्ड स्तर नियोजन (Block- level planning) :-

यदि गांवों के लिए पृथक योजनाएं न बनाकर सीधे खण्ड-स्तर पर ही योजना बनायी हो तो थोड़ा भिन्न तरीके से चलना होगा। पूर्व जनता शासनकाल में छठी पंचवर्षीय योजना के संशोधित प्रारूप (1978 -8 3) (उस समय योजना आयोग के उपाध्यक्ष डा.डी.टी.लकड़ावाला थे) में खण्डस्तरीय योजना के निर्माण के लिए यह आवश्यक माना गया था सर्वप्रथम उस खण्ड के भौतिक व आर्थिक साधनों, मानवीय साधनों, आधार ढांचें (इन्फ्रास्ट्रक्चर) की सुविधाओं तथा संस्थागत व्यवस्थाओं का सर्वेक्षण कराया जाय। खण्ड-स्तर की योजना का वित्तीय आकार निर्धारित करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय-(1) राज्य-योजना का कोई निश्चित प्रतिशत, जैसे 10% खण्ड-योजना के लिए नियत किया जाय, (ii) समन्वित ग्रामीण विकास के लिए स्वीकृत केन्द्रीय अनुदान, (iii) राज्यों द्वारा संचालित

खण्ड स्तरीय स्कीमों के लिए धन की व्यवस्था, (iv) स्थानीय वित्तीय साधन, (v) संस्थागत कर्ज (बैंकों आदि से)

खण्ड-स्तर की योजना में निम्न कार्यक्रम शामिल किये जा सकते है :- (i) उत्पादन के कार्यक्रम, जनशक्ति-नियोजन व दक्षता-विकास, आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताएं व संस्थागत-सहयता, (ii) विभिन्न इन्फ्रास्ट्रक्चर-विनियोग कार्यक्रमों के स्थान-चयन के लिए क्षेत्रीय नियोजन, (iii) प्रमुख प्रोजेक्टों व उनके सहायक प्रोजेक्टों के लिए स्थान-चयन, (iv) आधारभूत इन्फ्रास्ट्रक्चर की व्यवस्था तथा (v) संगठन की स्थापना। खण्ड स्तरीय नियोजन में अदक्ष श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्यो की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ii). जिला-नियोजन के निर्माण की प्रक्रिया :-

जिला-नियोजन की प्रक्रिया या तो खण्ड-योजनाओं को एकल करने व उनकी छानबीन व संशोधन के माध्यम से हो सकती है, अथवा, सीधे जिला-स्तर पर ही योजना बनायी जा सकती है। यह परिस्थितियों के अनुसार तय किया जा सकता है। चूँकि हमारे देश में जिला-नियोजन, खण्ड-नियोजन तथा ग्राम-नियोजन के लिए कोई निर्धारित व सुनिश्चित स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया हैं, इसलिए राज्य-स्तर से नीचे योजना के विकेन्द्रीकरण के कई स्वरूप सुझाए जा सकते है। यदि जिले को नियोजन की इकाई माना जाता है तो सीधे जिला-योजना बनाने के लिए निम्न पहलुओं पर ध्यान देना होगा-

(अ) स्थानीय साधन-उनका वर्तमान उपयोग व विकास की सम्भावनाएं,

(आ) स्थानीय लोगों की आवश्यकताएं

(इ) उस जिले में विभिन्न खण्डों के विकास में असमानताएँ तथा उनको नियोजन की प्रक्रिया के द्वारा कम करने के उपाय

(ई) मानवीय साधनों का विकास तथा बेरोजगार व अल्परोजगार को कम करने के उपाय

(उ) निर्धनता कम करने के उपाय

(ऊ) योजना के निर्माण व क्रियान्वयन में लोगों की भागीदारी के सुनिश्चित करने के उपाय।

इस प्रकार जिले की योजना को ठोस, विशिष्ट, व्यावहारिक व लचीला रूप दिया जाना चाहिए। योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उचित मात्रा में वित्तीय साधनों को जुटाने तथा संस्थागत व तकनीकी परिवर्तनों के लिए तैयारी की जानी चाहिए।

इस प्रकार योजना चाहे किसी भी स्तर पर बनायी जाय, उसकी मूलभूत प्रक्रिया में नौतिक व आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण, स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं का अनुमान, मानवीय साधनों का उपयोग, बरोजगारी व निर्धनता दूर करने के लिए ठोस कार्यक्रम, संस्थागत व तकनीकी परिवर्तन, योजना के लिए आवश्यक मात्रा में वित्त का प्रबंध, आदि शामिल होते हैं। यह तो विकेन्द्रित नियोजन की चुनी गई प्रक्रिया पर निर्भर करेगा कि उसे गांव से प्रारंभ करके ऊपर खण्ड व जिले की ओर लाया जाय, अथवा खण्ड-स्तर से प्रारम्भ करके जिले की और लाया जाय, अथवा प्रारम्भ ही जिला-स्तर से किया जाय। विकेन्द्रित नियोजन के व्यापक रूप में इसे ग्राम-स्तर से प्रारम्भ करके खण्ड-स्तर, राज्य-स्तर व राष्ट्र-स्तर की तरफ लाते है।

(ब) योजना की मशीनरी कैसी होती है?

विकेन्द्रित नियोजन की मशीनरी का भी कोई एक निश्चित व अंतिम स्वरूप नहीं होता। यह पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना पर भी निर्भर करता है। हम जानते है कि गाँवों में ग्राम-सभा व ग्राम-पंचायतें होती है। ग्राम-पंचायतों में सरपंचों सदस्यों का सीधा चुनाव हो सकता है, अथवा केवल सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव तथा सरपंच का पत्यक्ष चुनाव (स्वयं चुने हुए सदस्यों द्वारा) हो सकता है। खण्ड या पंचायत-समिति के अध्यक्ष सदस्यौं का भी प्रत्यक्ष चुनाव हो सकता है, अथवा केवल सदस्यो का प्रत्यक्ष चुनाव हो सकता हो सकता है। जिला-परिषद् के लिए केवल सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव हो सकता है, अथवा अध्यक्ष का प्रत्यक्ष चुनाव कराया जा सकता है।

ग्राम-पंचायतों, पंचायत समितियों व जिला-परिषदों की नियोजित विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

जिला-परिषदों में पार्लियामेण्ट के सदस्य, एम एल.ए गण जिला परिषद् के अध्यक्ष, आदि भी होते है। स्मरण रहे कि जिला-परिषद ग्रामीण क्षेत्रों के लिए योजनाएं बनाती है। लेकिन सम्पूर्ण जिले की योजना का काम जिला-नियोजन-बोर्ड (District Planning Board) को करना होता है। इसलिए जिला-नियोजन-बोर्ड को जिला-परिषद् की योजनाओं की समीक्षा करनी होती है तथा उनको जिले की तथा राज्य की योजना से समन्वित करनी होती है तथा उनको जिले की तथा राज्य की योजना से समन्वित व समायोजित करना होता है । इनको जिले के नगरीय क्षेत्रों की योजनाओं से भी समन्वय स्थापित करना होता है। जिला-नियोजन-बोर्डों के सदस्यों में निम्न शामिल होते है-एक राज्य का मंत्री (अध्यक्ष), एम पी, एम एल ए गण, जिला परिषदों के कुछ सदस्य, आदि। जिलाधीश इसका सदस्य-सचिव होता है। इस प्रकार नियोजन की मशीनरी में जिला-परिषद् व जिला-नियोजन-बोर्ड के परस्पर संबंध पर ध्यान दिया जाना चाहिए। ("पंचायती राज व जिला-नियोजन" पर जिला मजिस्ट्रेटों / जिलाधीशों की वर्क शॉप की रिपोर्ट, जुलाई, 1988 में प्रस्तावित) इसे चित्रवत् रूप में आगे दर्शाया गया है।

जिला-परिषद् व जिला-नियोजन-बोर्ड का परस्पर प्रस्तावित संबंध (Proposed relation)

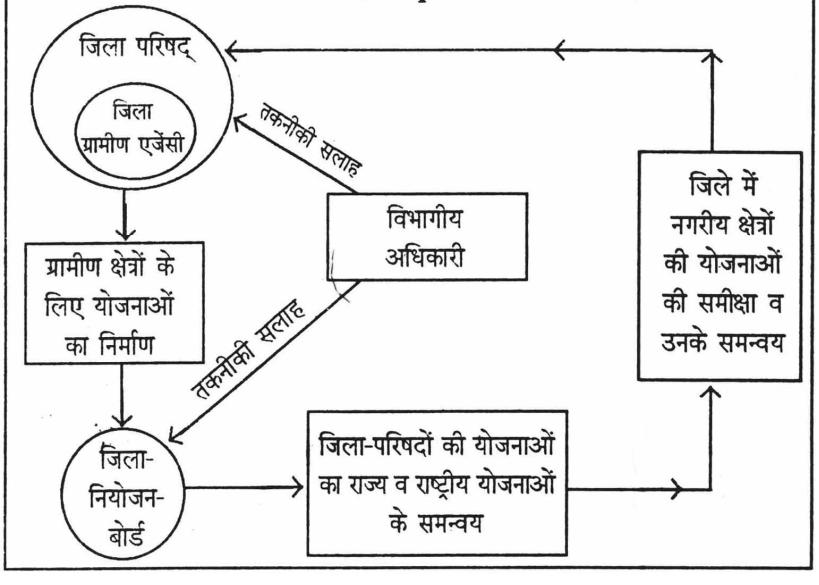

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट होता है कि जिला-स्तर पर जिला-नियोजन-बोर्ड के गठन से एक तरफ जिला-परिषदों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निर्मित योजनाओं का राज्यीय योजनओं से समन्वय बैठाना तथा दूसरी तरफ नगरीय योजनाओ के साथ भी समन्यय बैठाना सम्भव होगा। अतः तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित सदस्यों के रूप में इनको पूरा सहयेग मिलना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए योजना बनाने में जिला-ग्रामीण-विकास-एजेंसियों (DRDAs) का यगेदान भी मिलता है, जो ऊपर जिला-परिषद् के साथ छोटे गोले में दर्शाया गया है।

बोध प्रश्न- 1

1. विकेन्द्रित नियोजन का अर्थ लिखिए।
2. विकेन्द्रित नियोजन के तीन प्रमुख उद्देश्य या लाभ लिखिए।
3. .केन्द्रित व विकेन्द्रित नियोजन में तीन आधारभूत अंतर करिए।
4. जिले की योजना बनाने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए,?
5. जिला नियोजन बोर्ड के गठन व कार्य का परिचय दीजिए।

4.4 विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में प्रगति व अनुभव

भारत में विकेन्द्रित नियोजन पर जितनी चर्चा हुई है उसके मुताबिक व्यवहार में काम नहीं हो पाया है। इसमें स्थानीय संस्थाओं का चुनावों के आधार पर निर्माण किया जाता है, उनको अधिकार व वित्तीय साधन हस्तान्तरित किये जाते है, और सरकारी अधिकारी तथा जन-प्रतिनिधि परस्पर सहयोग करके विकास-कार्य सम्पन्न करते है। यह क्रिया ऊपर से तो सुगम लगती है लेकिन व्यवहार में इसका क्रियान्वयन काफी जटिल होता है। हमारे देश में सभी राज्यों में विकेन्द्रित नियोजन व पयाचती राज संस्थाओं का विकास एक सा नहीं हो पाया है। इस दिशा में कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आध प्रदेश आदि में विशेष प्रगति हुई है। इनके अनुभवों का लाभ उठाकर भविष्य में अना राज्य भी विकेन्द्रित नियोजन की पद्धति को अपना सकते है। नीचे कर्नाटक, पश्चिम बंगाल व गुजरात व विकेन्द्रित नियोजन की प्रगति का उल्लेख किया जाता है।

(i). **कर्नाटक मे विकेन्द्रित नियोजन :-** कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन का प्रयोग 1987-88 से किया गया था। वहां मंडल-पंचायतों व जिला-परिषदों के प्रत्यक्ष चुनाव होते है। ग्रामसभा में गांव के 18 वर्ष से ऊपर के सभी व्यक्ति एकत्र होकर समय-समय पर विकास की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते है। एक मण्डल में कई गांव होते है जिनकी कुल जनसंख्या 8 हजार से 12 हजार के बीच होती है। इनके प्रधान व उप-प्रधान चुने हुए सदस्यों द्वारा चुने जाते है। इनमें स्त्रीयों की सदस्यता का अंश 25 %, तथा अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के सदस्यों व्य अंश 18 % रखा गया है। जिला-परिषदों को जिलों के विकास व कल्याण-प्रशासन में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इनके चुने हुए सदस्य ही अध्यक्ष व उपाध्यक्षों का चुनाव करते है। स्मरण रहे कि कर्नाटकमॉडल में ग्राम-पंचायतों के गठन का प्रावधान नहीं रखा गया है। जहां तक तालुक पंचायत समिति का प्रश्न है वह नामजद सदस्यों की संख्या होती है जिसमें मंडलों के सभी प्रधान, एम एल ए गण वगैर होते है। यह समिति विभिन्न मंडलों में समन्वय स्थापित करती है।

कनार्टक में जिला-परिषद से ऊपर जिला-नियोजन-बोर्ड जैसी कोई शीर्ष संस्था नहीं रखी गयी है, जैसा कि पहले प्रस्तावित कार्यक्रम सुझाया गया था। जिला-परिषद् का अध्यक्ष इसका कार्यकारी अध्यक्ष, व जिला-विकास-कार्यक्रम-समिति का चेयरमैन होता है। यह योजना के सभी क्षेत्रों में विकास की समीक्षा करती है। कर्नाटक में 1988 -8 9 में जिला व मंडल स्तरों पर योजनाएं बनायी गयी थी। राज्य की योजना के व्यय का जिलेवार-विवरण जनसंख्या (50%), विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के पिछड़ेपन, कमजोर वर्गों की समस्याओं तथा विशिष्ट क्षेत्रीय समस्याओं के आधार पर किया गया है। इसी प्रकार जिलों से मंडलों की ओर वित्तीय साधनों का आबंटन जनसंख्या (50%) क्षेत्रफल (15 %), सूखा क्षेत्र, खेतिहर मजदूरों की संख्या (10%) तथा प्रतिव्यक्ति सृजित साधन (10%) के आधार पर किया गया है। इस प्रकार कर्नाटक में जिला-परिषद् जिला-स्तर पर नियोजन का निर्माण व क्रियान्वयन करने वाली अन्तिमन प्रमुख सस्था मानी जाती है। कनार्टक में राजकीय वित्त आयोग की स्थापना काफी प्रावधान है। यह राष्ट्रीय वित्त आयोग के नमूने पर स्थापित किया जाता है और यह राज्य सरकार की ओर से जिलों को वित्तीय साधनों के हस्तांतरण के बारे में सलाह देता है। कर्नाटक में जिला-ग्रामीण-विकास समितियों कों (DRDAs) को समाप्त कर दिया गया है।

कर्नाटकमॉडल की एक विशेषता यह है कि इसमें जिलाधीश के अधिकार-क्षेत्र में केवल कानून व व्यवस्था ही रखे गये है, तथा विकास-कार्य जिला-मुख्य-सचिव को सौंपा गया है। कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में ठोस प्रगति हुई है और इससे ग्रामीण विकास में मदद मिली है। इस मॉडल को अन्य राज्यों में भी अपनाने की आवश्यकता है। योजना आयोग के पूर्व उपाध्यक्ष श्री रामकृष्ण हेगड़े ने कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन की आधारशीला रखने में भूतकाल में काफी योगदान दिया है।

(ii). **पश्चिम बंगाल में विकेन्द्रित नियोजन**-वेसे साम्यवाद में 'केन्द्रीयता' पर विशेष बल दिया जाता है, लेकिन पश्चिम बंगाल में 1978 में पंचायती व्यवस्था में श्रीगणेश कर दिया गया था। वहां पंचायतों के चुनाव दलगत आधार पर 1978, 1983 व 1988 में किये जा चुके है। वहां भूमि सुधारों के अंतर्गत बटाईदारों को भूमि व साख प्रदान की गई है तथा सीलिंग से ऊपर की भूमि का भूमिहीन श्रमिकों में बंटवारा किया गया है।

पश्चिम बंगाल में विकेन्द्रित नियोजन की वास्तविक शुरूआत 1985-86 से हुई जो सातवीं पंचवर्षीय योजना का प्रथम वर्ष था। इस प्रकार वहां सातवीं योजना के दौरान विकेन्द्रित नियोजन के अनुभव प्राप्त हुए है। वेसे 1978 के पंचायती चुनावों के बाद ग्रामीण निर्माण कार्यो का नियोजन तथा ग्रामीण श्रमिकों को जुटाने के काम पंचायतों के सुपुर्द कर दिये गये थे बाद में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी-कार्यक्रम, सूखा-राहत कार्यक्रम आदि भी पंचायतों को सौंपे गये। वहां जिला व खण्ड-स्तर पर नियोजन-मशीनरी काम कर रही है। वहां जिले की योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण व शहरी जनता को समन्वित विकास करने का प्रयास किया गया है। पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या यह भी ध्यान दिया गया है। वहां साख-योजना बनाने पर विशेष ध्यान दिया गया है। कुल मिलाकर पश्चिम बंगाल में क्षेत्रीय नियोजन (area plamming) की ओर नियोजन को मोड़ा गया है।

1985-86 की जिला-योजनाएं काफी कुशलता से तैयार की गई थी। लेकिन वित्तीय साधनों के अभाव तथा राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी के कारण वांछित सफलता नहीं मिल पायी है। वहां जिला-स्तर पर जिला-नियोजन व समन्वय समिति (DPCC) तथा जिला-नियोजन-समिति (DPC) होती है। DPCC में केबिनेट मंत्री अध्यक्ष होता है तथा एम पी व एम एल ए इसके सदस्य आदि होते है। DPCC के होने से नौकरशाही का प्रभाव बूढा'है और पंचायती राज संस्थाओं का कम हुआ है। अत पश्चिम बंगाल को कर्नाटक के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए जहां जिला-नियोजन-बोर्ड की सर्वोपरि होता है।

(iii). **गुजरात में विकेन्द्रित नियोजन :-** हाल में भारत सरकार द्वारा गुजरात के जिला-नियोजन की काफी सराहना हुई है। वहां विकेन्द्रित नियोजन का प्रयोग 198 0- 81 से आरम्भ हो गया था। 1980-81 से 1988 -8 9 तक की अवधि में वहाँ जिला-नियोजन-बोर्डो को लगभग 288 करोड़ रुपये आवंटित किए गये जिनका उपयोग करके वहाँ क्लास-रूप, जल-पूर्ति कार्यक्रम, लिंक-सड़कें, विद्युतीकरण, आदिकार्य सम्पन्नकिये गये है। वहाँ राज्य-स्तर के जिला-स्तर तथा जिला-स्तर से तालुका-स्तर की ओर कोषों का आवंटन निश्चित सूत्र के आधार पर किया जाता है। वहाँ पिछड़े तालुकों के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। वहाँ राज्य की योजना का लगभग 173 व्यय जिला-स्तर की स्कीमों के लिए निर्धारित किया जाता है। इस एक-तिहाई का 2 0% जिला-नियोजन बोर्डो द्वारा चलायी जाने वाली व कार्यान्वित की जाने वाली योजनाओं के लिए नियत होता है तथा शेष 80% सामान्य जिला-स्तर की स्कीमों के लिए होता है। जों 20% राशि जिला-नियोजन-बोर्डो के पूर्ण-अधिकार क्षेत्र में होती है उसमें से 15% विवेकाधीन व्यय-राशि (discretionary outlay) होती है तथा 5% प्रेरणा-व्यय-राशि (incentive outlay) होती है। प्रेरणा-राशि के लिए यह शर्त होती है कि उसमें आम-जनता का भी योगदान होगा जो तालुका के पिछड़ेपन के अनुपात में होगा। जैसे सबसे ज्यादा पिछड़े तालुका के लिए आम जनता को योगदान 1 0% तथा सरकार का 90% उससे कम पिछड़े क्षैत्र के लिए जनता का 25% तथा सरकार का 75%, तथा सबसे कम पिछड़े क्षेत्र के लिए जनता का योगदान 50%, तथा सरकार का भी 5%। इस प्रकार प्रेरणा-व्यय-राशि की व्यवस्था से स्थानीय योगदान का अवसर भी उत्पन्न हो जाता है। इससे स्थानीय स्तर पर जनता की सीधी भागीदारी होने से उसकी रूचि विकास-कार्यक्रमों में काफी बढ़ जाती है। गुजरात के विकेन्द्रित नियोजन में जिला-स्तर पर राजकीय योजना का 1/3 अश आवंटित किया जाना एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ प्रशासनिक सत्ता, अधिकार, कोषों आदि के हस्तान्तरण की दिशा में ठोस कदम उठाये गये है। प्रेरणा-व्यय-राशि की व्यवस्था से लोगों की स्थानीय नियोजन नें प्रत्यक्ष भागीदारी हो गई है। आशा है, आठवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में अन्य राज्य भी कर्नाटक, पश्चिम बंगाल व गुजरात आदि के जिला-नियोजन व पंचायती राज संस्थाओं के अनुभवों से लाभ उठाकर इस दिशा में अग्रसर होंगे।

4.5 विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग मे बाधाएं व समस्याएं

भारत में विकेन्द्रित नियोजन के बड़े गुणगान हुए है, लेकिन वास्तविक जगत में इसकी प्रगति बहुत-कुछ नगण्य ही रही है। हमें उन कारणों की जानकारी करनी चाहिए जिन्होंने इसके मार्ग में बाधाएं पहुंचायी है ताकि भविष्य में उनको दूर करके विकेन्द्रित नियोजन को अधिक साकार रूप दिया जा सके तथा सफल बनाया जा सके। भारत में विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में निम्न प्रकार की बाधाएं आयी है

(i). **राज्य स्तर से नीचे की इकाइयों को संवेधानिक इकाई न मानकर मात्र प्रशासकि इकाई ही माना गया :-** प्रोफेसर सी टी.कुरियन का मत है कि भारत में दो-स्तर वाले संघवाद में राज्यों को तो केन्द्र से जोड़ दिया गया, लेकिन राज्य-स्तर से नीचे की इकाइयों को केवल प्रशासनिक इकाइयां ही माना गया। उनको संविधान की दृष्टि से कोई 'स्टेटस' नहीं मिली, जिससे देश में विकेन्द्रित नियोजन की सम्भावनाएं सदैव सीमित ही बनी रही। यदि जिला, तालुका, आदि नीचे के स्तरों की इकाइयों को 'संवेधानिक स्टेटस ' मिलती तो इन स्तरों पर नियोजन को भी निस्संदेह बल मिलता।

(ii). **पंचायती चुनावों का राजनीतिकरण :-** भारत में पंचायती राज-संस्थाओं जैसे जिला-परिषदों ,पंचायत-समितियों तथा ग्राम-पंचायतों के चुनाव दलगत राजनीति के आधार पर कराये गये जिससे उनमें जनता के सच्चे प्रतिनिधि न पहुंच कर पार्टियों के नुमाइंदे ही पहुंच पाये परिणामस्वरूप इनको पर्याप्त बल नहीं मिल पाया। यदि इनके चुनाव दलविहीन पद्धति पर कराये जाते तो सम्भवत अधिक योग्य व ईमानदार व्यक्ति पहुंच पाते और इनके विकास में मदद मिलती। पंचायती राज संस्थाओं के चुने हुए सदस्यों ने पुराने शक्तिसंतुलन व आर्थिक अंतरों को बनाये रखा जिससे इनके विकास का मार्ग प्रशस्त न हो सका। इममें स्थापित व निहित स्वार्थ वाले वर्ग का प्रभुत्व बना रहा जो विकास में बाधक था। कई बार राज्य सरकारों ने इनके चुनाव समय पर नहीं कराये और उनको बार-बार टालने से ये निष्क्रिय व निष्प्राण होती गयी।

(iii). **राज्य-स्तर पर विभागीय प्रशासन अपना वर्चस्व छोड़ने को तत्पर नही-**विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में एक बाधा यह भी रही कि राज्य-स्तर पर नौकरशाही व अफसरशाही (bureaucracy) अपने अधिकार व सत्ता नीचे के स्तरों पर जन-प्रतिनिधयों को साँपने से सदैव कतराती रही है। अतः सत्ता का नीचे की ओर हस्तान्तरण (devolution of Power) नहीं हो पाया। कर्नाटक में इस दिशा में प्रगति हुई जिससे पंचायती राज संस्थाओं के प्राणों का संचार हुआ। लेकिन देश के सभी लोगों में ऐसा नहीं हो पाया। वास्तव मे सरकारी तंत्र व जनतंत्र के परस्पर सहयोग व तालमेल में कई बाधाएं रही है।

(iv). **पंचायती राज संस्थाओं के पास पर्याप्त कोषों का अभाव :-** जिस प्रकार राज्य केन्द्र पर आश्रित रहते, उसी प्रकार पंचायती राज संस्थाएं धन व वित्तीय साधनों के लिए राज्य-सरकारों के मुंह की ओर देखती रहती है। उनके पास कोषों का अभाव पाया जाता है तथा उनके पास काम की जिम्मेदारियां अधिक होती है। उनके स्वयं के साधन भी सीमित होते है। वे उत्पादक परिसम्पत्तियों का निर्माण करके अपनी आमदनी नहीं बढ़ा पाती है। पिछड़े क्षेत्रों का

विकास-कार्य काफी जटिल होता है। वहाँ इन्फ्रास्ट्रक्चर का अभाव पाया जाता है। पिछड़े क्षेत्रों के लोग कम आय के कारण अपना वित्तीय सहयोग भी नहीं दे पाते। इस प्रकार पर्याप्त कोषों के अभाव में इनकी प्रगति रूक जाती है।

(v). **संस्थागत व सामाजिक परिवर्तनों का अभाव-**जब तक गांवों में भूमि-सुधार ठीक से लागू नहीं होतें तब तक वहां भूमि का आवंटन असमान बना रहता है। गांवों की आर्थिक व्यवस्था में सामन्ती तत्वों का बोलबाला होता है। महाजन, व्यापारी व प्रशासन ग्रामीण जनता के आर्थिक हितों की अनदेखी करते रहते है। गांवों में बरोजगारी, अल्परोजगार, निर्धनता व असमानता वहां की अर्थव्यवस्था के अटूट अंग बन चुके है। अतः संस्थागत व सामाजिक परिवर्तन की लहर के बिना पंचायती राज संस्थाएं भी स्वार्थी व सिद्धान्तहीन लोगों के प्रभाव क्षेत्र में जकड़ी रहती है और अपने मूल उद्देश्य से भटक जाती है।

इस प्रकार विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में कई प्रकार की बाधाएं व कठिनाइयां रही है और इनमें से आज भी कुछ कायम है अत: सामाजिक - आर्थिक तथा संवेधानिक व प्रशासनिक ढांचों में आधारभूत परिवर्तन करके ही उनके विकास का मार्ग खोला जा सकता है।

बोध प्रश्न- 2

1. कर्नाटक में विकेन्द्रित नियोजन की प्रमुख बातें लिखिए।
2. विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में तीन मुख्य बाधाएं क्या रही है?
3. गुजरात में विकेन्द्रित नियोजन की प्रगति ने भारत सरकार को सबसे ज्यादा क्यों प्रभावित किया?

4.6 विकेन्द्रित नियोजन की सफलता की आवश्यक शर्ते

हमने अब तक के विवेचन में देखा कि विकेन्द्रित नियोजन के प्रति देश में एक प्रकार का भावनात्मक लगाव है। गांधीजी के 'ग्राम-स्वराज ' की अवधारणा में भी राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रियकरण की मान्यताएं विद्यमान है। भारत में प्राचीन काल में पंचायत-प्रणाली सक्षम व कुशल ढंग से काम करती थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया है। अतः प्रश्न उठता है कि नियोजन के चार दशक बाद तक भी देश विकेन्द्रित नियोजन की दिया में सराहनीय प्रगति क्यों नहीं कर सका और इसकी सफलता की आवश्यक शर्तें क्या है? हम ऊपर इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं का उल्लेख कर चुके है। यहाँ इसकी सफलता के लिए आवश्यक आधारों का विवेचन किया जायेगा।

(i). **सर्वप्रथम केन्द्र से राज्यों की तरफ सत्ता, अधिकारों, निर्णय की प्रक्रिया व कोषों का पर्याप्त व संतोषजनक हस्तान्तरण किया जाय :-** राज्यों से जिलों व इनके नीचें के स्तरों पर राजनीतिक व आर्थिक सत्ता व साधनों का हस्तान्तरण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले केन्द्र से राज्यों की तरफ इस प्रकार के हस्तान्तरण पूरे किये जाएं। विद्वानों का मत है कि आज भी राज्यों के ऊपर दायित्व से ज्यादा हें, लेकिन उनको निभाने के लिए उनके पास पर्याप्त कोष नहीं है, और वे केन्द्र पर बहुत ज्यादा आश्रित है। इसलिए केंन्द्रराज्य सम्बन्धों को अधिक व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

(ii). **योजना आयोग व योजना-तंत्र का पुनर्गठन :-** योजना आयोग को स्वायत्त संस्था बनाना चाहिए ताकि इसके कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप न हो। साथ में राज्य-स्तर, जिला-स्तर व इसके नीचे के स्तरों पर भी योजना की इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए। अभी तक सभी राज्यों व संघीय प्रदेशो में योजना-बोर्ड काम नहीं कर रहे है। दीर्घकालीन नियोजन पर तो काम केवल महाराष्ट्र, तमिलनाडु,, जम्मू व कश्मीर, कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश में ही कुछ सीमा तक हो पाया है। अतः पहले सभी राज्यों के स्तर पर नियोजन-तंत्र को स्थापित किया जाना चाहिए ताकि उनके आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण करके उनके उचित संरक्षण, विदोहन व उपयोग की बात सोची जा सके।

(iii). **स्थानीय संस्थाओं-**जिला-परिषदों, पंचायत समितियों व ग्राम-पंचायतों का गठन किया जाय तथा उनके चुनाव निश्चित अवधि में करवाए जाएँ ताकि वे सक्रिय बनी रहें। इसमें ढील न दी जाय, अन्यथा इनके प्रति कोई गम्भीरता नहीं रह जायगी। इसको प्रशासनिक अधिकार व वित्तीय अधिकार सौपे जाएँ तथा लोगों का भविष्य स्वयं उनके हाथों में दे दिया जाय ताकि वे अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर सकें। सरकारी प्रशासन व स्थानीय निकायों के कार्यो में पूरा ताल-मेल बैठाया जाय। सरकार के प्रशासनिक विभागों में राज्य-स्तर व जिला-स्तर के बीच समन्वय स्थापित किया जाय; तथा जिला-स्तर पर कार्यरत विभिन्न विभागों में परस्पर समन्वय स्थापित किया जाय। इन प्रक्रियाओं को क्रमश : लम्बवत् एकीकरण (Vertical integration) व क्षैक्षित एकीकरण (Horizontal intigration) कहा जाता है।

(iv). **विकेन्द्रित नियोजन की सफलता तभी संभव हो सकती है जब गाँवों में भूमि-सुधार कार्यक्रम पूर्णतया लागू हो :-** कुछ लोगों का विचार है कि जब तक भूमि-सुधार लागू नहीं किये जाते तब तक गाँवों में सामन्ती वातावरण बना रहेगा और भूमि के वितरण की असमानता बनी रहने से सम्पनं भूस्वामी, जमींदार महाजन, साहूकार व व्यापार किसान का शोषण करते रहेंगे, और स्थानीय संस्थाओं में इन्हीं का प्रभाव व प्रभुत्व बना रहेगा। ये विकास के लाभ हडपते जायेंगे जिससे गाँवों के निर्धन लोग इनसे वंचित रह जायेंगे। इसलिए गाँवों के गरीबों का राजनीतिक संगठन होना चाहिए जो उनको उचित लाभ दिला सकें। सहकारी सुयुक्त खेती, चकबंदी व काश्तकारी सुधारों पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। भूमि-सुधारों जैसे संस्थागत सुधारों की आवश्यकता इतनी अधिक है कि कुछ विचारक यह भी मानते है कि इनके होने पर राजकीय स्तर तक ही नियोजन काफी रहेगा और अन्य नीचे के स्तरों पर नियोजन को ले जाने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(v). **जनता की भागीदारी,** स्थानीय वित्तीय साधनों का उपयोग व स्थानीय आवश्यकताओं में कड़ी स्थापना की जानी चाहिए। इससे लोगों की विकास-कार्यों में रूचि बढ़ेगी और वे पदाधिकारियों के कार्यों पर कड़ी निगरानी रख सकेंगे।

(vi). **नियोजन की इकाई सुनिश्चित की जानी चाहिए :-** वेसे विकेन्द्रित नियोजन की अन्तिम व आधारभूत इकाई गाँव होती है, लेकिन परिस्थितियों व साधनों को ध्यान में रख कर जिला व खण्ड पंचायत या 'गाँवों के एक समूह (cluster of villages) को नियोजन की इकाई के लिए चुना जा सकता है। लेकिन जो भी इकाई चुनी जाय उसके आर्थिक साधनों का समुचित सर्वेक्षण आवश्यक होता है ताकि उचित विकास-कार्यक्रम निर्धारित किये जा सके।

(vii). **इसमें कोई दो मत नही कि विकेन्द्रित नियोजन की भावी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसमें भाग लेने वाले सभी व्यक्ति-**सरकारी अधिकारी व जन-प्रतिनिधि-अपने सीमित स्वार्थों से ऊपर उठकर लोककल्याण की भावना से ओत-प्रोत हों। अन्यथा भ्रष्टचार के व्याप्त रहने से इसकी प्रक्रिया निष्प्राण व निर्जीव बनी रहेगी। अतः राजनीतिक दलों, ऐच्छिक संगठनों व स्थानीय नेताओं तथा नागरिकों को राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मान कर कार्यरत रहना पड़ेगा।

(viii). स्थानीय आर्थिक साधनों जैसे उपजाऊ भूमि, जल-स्रोत, बन-सम्पदा व खनिज-सम्पदा का सार्वजनिक उपयोग सुनिचित किया जाय:-

डा.वी.एम.राव का मत है कि यदि गाँव के आर्थिक साधन जैसे भूमि जल, वन, खनिज-पदार्थ आदि स्थानीय या बाहरी व्यक्तियों के अधिकार में चले जाते है तो विकेन्द्रित नियोजन के लिंए विकास (growth) के क्षेत्र में बहुत कम काम रह जायगा। इसलिए गाँव के अप्रयुक्त उत्पादन साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व रहने से स्थानीय नियोजन का महत्व बढ़ जाता है। लेकिन निजी स्वामित्व की दशा में भी स्थानीय नियोजन साधनों के उपयोग को नियमित व नियन्त्रित अवश्यक कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विकेन्द्रित नियोजन क़ी सफलता के लिए कई प्रकार की शर्तो का पूरा होना आवश्यक है। सच पूछा.जाय तो इसमें 'सम्पूर्ण क्रान्ति ' (Total revolution) की भावना निहित है इसके दायरे में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व प्रशासनिक तथा नैतिक सभी, के क्षेत्र आ जाते है। किसी भी बिन्दु पर कमी रह जाने से उसकी सफलता सन्देह के घेरे में आ जाती है।

4.7 भारत मे विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य व सुझाव

हमारे देश में 1989 में आम चुनावों से पूर्व कांग्रेस (आई) सरकार ने संविधान में संशोधन करके पंचायती राज संस्थाओं को सुदढ करने का कार्यक्रम अपनाया था। इसके अंतर्गत पंचायतों के निर्धारित अवधि में चुनाव कराने, तथा इनमें स्त्रियों, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को उचित प्रतिनिधित्व देने पर जोर दिया गया था। यह संशोधन अब पारित हो चुका है। पंचायती राज व विकेन्द्रित नियोजन के मूलभूत मुद्दे अभी विद्यमान है और इस दिशा में कदम उठाये जाने का इन्तजार है।

भारतीय लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए यहाँ विकेन्द्रित नियोजन को सफल बनाना होना। इसका कोई विकल्प नहीं प्रतीत होता। लेकिन इसके लिए भारी.प्रयास भी आवश्यक होगी। सच पूछा जाय तो यह काम ऊपर से काफी सरल व सुगम लगता है, क्योंकि इसमें वस्तुतः एक ही बात निहित है कि स्थानीय संस्थाओं को सत्ता, शक्ति, निर्णय का अधिकार व कोषों का सच्चे अर्थ में हस्तान्तरण किया जाय। अतः केन्द्र-स्तर की ओर, तथा राज्य-स्तर से जिला-स्तर व अन्य नीचे के स्तरों की ओर ये हस्तान्तरण शीघ्र व पूर्ण रूप में सम्पन्न किये जाएं।

स्मरण रहे कि विकेन्द्रित नियोजन को एक समुचित दायरे में नही देखना है; जैसे ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रमो समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय विकास रोजगार कार्यक्रम, सूखा सम्भवित क्षेत्र कार्यक्रम, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, आदि-को सम्पन्न करने-: लिए ही इसका उपयोग नही करना है, बल्कि इसे एक व्यापक व गहन कार्यक्रम व प्रक्रिया के रूप में लेना है जिससे राष्ट्र का सम्पूर्ण राजनीतिक व आर्थिक कार्यकलाप बदला जा सकै, और लोगों का जीवन-स्तर ऊचा

किया जा सके। अत: इसे केवल ग्रामीण क्षेत्रों में राहत-कार्यक्रमों को चलाने व जनता की भागीदारी को बढ़ाने का मामूली साधन न मानकर सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन ' का सूत्रधार मानना चाहिए।

भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य उज्जवल बनाया जा सकता है। वर्तमान सरकार ने आठवीं योजना में विकेन्द्रित नियोजन का दृष्टिकोण अपनाया गया है।

सुझाव :- योजना-आयोग के पूर्व सदस्य डा.सी.एच.हनुमन्ध राव ने अपने एक लेख में विकेन्द्रित नियोजन के लिए निम्न पाँच कार्यक्षेत्रों (areas of action) पर बल दिया है, ताकि इसकी सफलता सुनिश्चित की जा सके। ये कार्यक्षेत्र इस प्रकार है :

(i). **केन्द्रचालित योजनओं में उचित संशोधन-**योजनाकाल में केन्द्रचालित योजनाओं की संख्या बढ़ने से राज्यों की स्वायत्तता पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। इनका सम्बन्ध कृषि, ग्रामीण विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा व निर्धनता-निवारण से होता है। इसलिए भविष्य में इन पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए, तथा इनकी संख्या यथासम्भव कम की जानी चाहिए। इससे स्थानीय नियोजन का महत्व बढ़ जायगा। नियोजन में केन्द्र का वर्चस्व भी कम हो जायगा।

(ii). **प्रादेशिक स्तर पर नियोजन के उपाय :-** प्रादेशिक असमानताएं कम करने के लिए, प्रादेशिक स्तर पर नियोजन अधिक प्रभावपूर्ण होता है। बड़े राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों के विकास में जिला व खण्ड-नियोजन से काफी लाभ मिल सकता है तथा उनकी स्थानीय समस्याएं हल की जा सकती है। निर्धनता-निवारण कार्यक्रमों को लागू करने में स्थानीय नियोजन से मदद मिलती है।

(iii). **चुनावी स्तर होने चाहिएं ताकि निर्धनों को प्रतिनिधित्व मिल सके :-** प्राय: स्थानीय संस्थाओं में लघु व सीमान्त कृषकों, खैतिहार श्रमिकों, ग्रामीण कारीगरों,आदि के प्रतिनिधि पर्याप्त मात्रा में नही पहुंच पाते जिससे इनके हितों की रक्षा नहीं हो पाती। स्त्रियों, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को उचित आरक्षण देकर इनके हितों पर ध्यान देना सम्भव हो सकता है।

(iv). **ग्रामीण निर्थनों की शोषण से मुक्ति होनी चाहिए :-** देहातों में आज भी भूस्वामी, साहूकार व ठेकेदार गरीब लोगों का शोषण करते। अभी तक वहाँ संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हो पाये है। इसलिए भूमि-सुधार, न्यूनतम मजदूरी कानून व संस्थागत साख की व्यवस्था करके इनको शोषण से मुक्त करना चाहिए। एक शोषणविहीन समाज की रचना ही विकेन्द्रित नियोजन की सफलता का आधार प्रस्तुत कर सकती है।

(v). **जनता की भागीदारी :-** निर्धनों का संगठित करके उनके हितों की रक्षा की जा सकती है। निहित स्वार्थी वर्ग से उनको संघर्ष के लिए तैयार किया जा सकता है। विकेन्द्रित नियोजन के लिए जनता की भागीदारी का विकास करना बहुत जरूरी है। लोग योजना के निर्माण व क्रियान्वयन में भाग लेते है और कई बिन्दुओं पर विकास-कार्यों के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट करते है। इससे उनमें आत्म-विश्वास व सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है।

आशा है वर्तमान सरकार विकेन्द्रित नियोजन की दिशा में ठोस कदम उठायेगी और उसको आवश्यक वैधानिक आधार दे पायेगी। भारत का आर्थिक भविष्य लोकतंत्र, सहकारिता, विकेन्द्रीकरण वं संस्थागत तथा तकनीकी परिवर्तनों की सफलता पर निर्भर करता है। ग्रामीण विकास में जिला-नियोजन की अहम भूमिका हो सकती है और होनी चाहिए।

बोध प्रश्न- 3

1. विकेन्द्रित नियोजन को सफल बनाने के लिए तीन उपाय बताइए।
2. संस्थागत सुधारों के अभाव में विकेन्द्रित नियोजन के मार्ग में किस 'प्रकार बाधा उपस्थित होती है?
3. क्या भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य उज्जवल.है?

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

[1] C.H. Hanumantha Rao,Decentralised Planning : Anoverview of Experience and Prospects ,EPW,February 25,1989

[2] V.M.Rao,Decentralised Planning : Priority Economic Issues EPW,July 24,1989.

[3] Arun Ghose,Decentralised Planning : West Bengal Experience EPW,March 26,1988.

[4] Report of Workshop of District Magistrates/collectors on Responsive Administration,Panchayati Raj and District Planning ,July 1988.(mimeographed)

[5] Amitava Mukherjee,Denaturalised Planning,I &II,A rejoined, in the Economic Times of Dec.12 &14,1989.

[6] L.C.Jain,Central Planning and Karnataka's Decentralised Planning,II Mainstream ,May 2,1987,pp.16-17.

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

[1] विकेन्द्रित नियोजन में 'नीचे से ऊपर की ओर:' होता है; जैसे ग्राम-योजना, खण्ड-योजना, जिला-योजना, राज्य-योजना तथा अन्त में राष्ट्रीय योजना। इसे 'ग्रासरूट प्लानिंग' भी कहते है।

[2] (i) कुछ जिलों की जनसंख्या व क्षेत्र से अधिक होने से इनका पृथक नियोजन आवश्यक,
(ii). सभी लोगों को विकास की मुख्य धारा में लाना सम्भव,
(iii). स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप नियोजन।

[3] (i) केन्द्रित नियोजन ऊपर से नीचे तथा विकेन्द्रित नियोजन 'नीचे से ऊपर की ओर'
(ii). केन्द्रित नियोजन में 'समष्टि दृष्टिकोण' तथा विकेन्द्रित मे व्यक्ति-दृष्टकोण
(iii). प्रथम की सफलता के लिए अधिनायकतंत्र तथा द्वितीय के लिए लोकतांत्रिक पद्धति व सहकारिता तथा सक्रिय जन सहयोग आवश्यक।

[4] जिले के भौतिक व आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण व अध्ययन, लोगों का आधारभूत आवश्यकताएं, बेरोजगारी, निर्धनता व खण्डवार असमानताएं कम करने के कार्यक्रमों ''पर जोर इन्फ्रास्ट्रक्चर

का विकास संस्थागत व तकनीकी परविर्तन,वित्त व्यवस्था आदि। जिला-नियोजन बौर्ड व जिला-परिषद का सफल संचालन व परस्पर सहयोग आवश्यक

[5] **जिला-नियोजन-बोर्ड का गठन :--** इसका अध्यक्ष राज्य का.मंत्री जिलाधीश- सदस्य-सचिव; एम.पी.एम.एल.ए. गण जिला-परिषद के चुने हुए सदस्य(रोदेशन से), पंचायत-समीतियों के अध्यक्ष (रोदेशन सें), जिला-परिषद् का अध्यक्ष, नगरीय प्राधिकरणों के अध्यक्ष, आदि।

जिला नियोजन बोर्ड जिला-परिषद् द्वारा तैयार ग्रामीण योजना की समीक्षा करेगा तथा उसका समन्वय राजकीय योजना से स्थापित करेगा। इसी प्रकार वह नगरीय योजनाओं की भी समीक्षा करेगा और उनका भी राजकीय योजना से उचित समन्वय स्थापित करेगा।

बोध प्रश्न-2

[1] (i) वहाँ मंडल पंचायतों व जिला-परिषदो के ही चुनाव होते है। ग्राम--पंचायतों का गठन नहीं किया जाता, (ii) वहाँ जिला-नियोजन-बोर्ड सर्वोपरि होते है (iii) वहाँ जिलाधीश कानून व व्यवस्था सम्हालते है तथा जिला-मुख्य-सचिव (District chief secretary) विकास व नियोजन का काम देखते है।

[2] (i) राज्य-स्तर से नीचे की इकाइयों को सदैव मात्र प्रशासनिक इकाई माना गया, उन्हें संवैधानिक स्टेट्स नहीं मिली।

(ii). राजकीय नौकरशाही उनको प्रशासनिक सत्ता व अधिकार सौपने से कतराती रही,

(iii). इनके पास कोषों का अभाव बना रहा।

[3] गुजरात में 1980-81 से अब तक जिला-नियोजन-बोर्डो को काफी धनराशि दी गई है। यह राज्य स्तर पर प्रस्तावित योजना-व्यय का 1/3 होती है। इसका 20% जिला-नियोजन-बोर्ड अपने निर्णयानुसार व्यय कर सकते है। जिसका 5 %अंश प्रेरणा-व्यय माना जाता है जिसके साथ जनता का योगदान भी शामिल किया जाता है। जिला-नियोजन-बोर्डो द्वारा व्यय किये जाने से ग्रामीण सडकों, स्कूलों, पेयजल आदि की सुविधा बढ़ाने में प्रगति हुयी है।

बोध प्रश्न- 3

[1] (i) केन्द्र से राज्यों की ओर सत्ता, अधिकार, निर्णय की प्रक्रिया व कोषों का पर्याप्त व संतोषजनक हस्तान्तरण किया जाय,

(ii). योजना-तत्र का पुर्नगठन,

(iii). स्थानीय संस्थाओं का गठन व निश्चित अवधि के बाद अनिवार्य चुनाव।

[2] संस्थागत सुधारों के अभाव में भूमि-सुधार नहीं होने से भूमि के वितरण में असमानता बनी रहती है। गाँवों में साधन सम्पन्न व साधनहीन दो वर्ग बन जातें है। स्थानीय संस्थाओ में सम्पन्न वर्ग का वर्चस्व हो जाता है, जिससे वे गरीबों के हितों की उपेक्षा करते है और केवल अपने हितों का पोषण करते रहते है। इससे विकेन्द्रित नियोजन कामयाब नहीं हो पाता।

[3] भारत में विकेन्द्रित नियोजन का भविष्य उज्जवल बनाया जा सकता है। इसके लिए राजनीतिक व प्रशासनिक सत्ता, अधिकार निर्णय, की प्रक्रिया व कोषों का हस्तान्तरण सही रूप में जिला व इससे नीचे के स्तरों पर करना होगा। निर्धनों को शोषण से मुक्त करना होगा, उनका राजनीतिक संगठन भी करना होगा और स्थलीय विकास-कार्यो में जनता की विकसित करनी

होगी, ताकि ग्रामीण निर्माण के कायं सम्पन्न किये जा सकें एवं कृषि, कुटीर उद्योग, सड़क, शिक्षा, चिकित्सा, पेयजल, आवास, आदि की सुविधाएं बढ़ सकें।

इकाई 5
भारत में शिक्षा का विकास

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 संरचना की विशेषतायें
5.3 संरचना का विकास व शिक्षा
5.4 कृषि संरचना पर शिक्षा का प्रभाव
5.5 औद्योगिक संरचना एवं शिक्षा
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य कृषि व औद्योगिक संरचना के विकास में शिक्षा के योगदान के महत्व को बताना है। इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो जाएंगे:

* कृषि एवं औद्योगिक संरचना के विकास में शिक्षा कैसे एक महत्वपूर्ण योगदान करती है।
* सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था में संरचना सेवाओं को प्रदान करने की विभिन्न विधियाँ।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम सर्वप्रथम यह देखेंगे कि संरचना से तात्पर्य क्या है, संरचना की विशेषतायें क्या है? तथा शिक्षा संरचना उद्योगों के विकास में कैसे योगदान कर सकती है। इसके उपरान्त हम कृषि व औद्योगिक संरचना पर शिक्षा के प्रभाव का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

5.2 संरचना की विशेषतायें

संरचना किसी देश की पूंजी सम्पत्ति का एक हिस्सा होती है। इसको सामाजिक ऊपरी पूंजी के नाम से जाना जाता है जो प्रत्यक्ष उत्पादक पूंजी से अलग होता है। संरचना से हमारा तात्पर्य उन उत्पादकों को मिलने वाली सेवाओं से होता है जोकि वास्तविक जीवन में यातायात, संचार, उर्जा, जल आपूर्ति, सिंचाई तथा विकास व्यवस्था से तथा संरचना उद्योग जैसे- कोयला, रसायनिक खाद, सीमेन्ट तथा लोहा आदि से होता है। परन्तु जैसे कि योगस्योन का क्यन है कि सीधा निष्कर्ष यह है कि सामाजिक ऊपरी पूंजी वस्तुओं का एक सेट नहीं अपितु सम्पत्तियों का एक सेट है। "संरचना की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह बाह्य' बचतों का स्रोत है। इसी कारण एडम् स्मिथ ने संरचना के प्रावधान को

सरकार के द्वारा किए जाने वाले कार्यो में रखा है। एडम स्मिथ का कहना था कि उनके अतिरिक्त सरकार अन्य उत्पादकता करने में कम सक्षम है। अतः उसको निजी क्षेत्र के लिये छोड़ा जाना चाहिये अर्थात् उसको अदृश्य हाथ के लिये छोड़ दिया जाना चाहिये। जब एक सड़क का निर्माण होता है तो इसका लाभ उन समस्त देश वासियों को होना है जो उस सड़क मार्ग पर रहते है। जब एक ऊर्जा संचार का सृजन किया जाता है तो उससे उन समस्त लोगों को लाभ पहुंचता है जो उससे लाभ प्राप्त कर सकते है। सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त ने वस्तुओं का विभाजन निजी वस्तु तथा सार्वजनिक वस्तु में किया गया है। निजी वस्तुयें वे वस्तुयें होती है जिनका प्रयोग कुछ विशेष व्यक्तियों तक ही सीमित होता है या जो आम जनता को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं हो पाती। जबकि सार्वजनिक वस्तुओं का प्रयोग साधारण जन मानस को प्राप्त होता हैं और इस प्रकार इसका लाभ देश में अधिकतम देशवासियों को होता है। संरचना के लिये प्रदान की गयी सेवायें इस प्रकार की सार्वजनिक वस्तुओं में आती है। प्रो. रैगनर नर्कसे ने इस प्रकार की पूंजी की एक और विशेषता यह बतायी है कि इसके अंतर्गत बड़े स्तर पर मूल्यवान संरचनाओं का जन्म होता है। इस प्रकार इन मूल्यवान सेवाओ को प्रदान करने में सरकार का महत्व अत्यधिक है। विकासशील देशों में जहां आमतौर पर पूंजी की कमी है और देश के तीव्र विकास के लिये आधुनिक तकनीकी की आवश्यकता पड़ती है, सरकार पर इन सेवाओं को प्रदान करने का दायित्व अधिक आ जाता है। इसकी तुलना में विकसित राष्ट्रों में स्थिति ऐसी नहीं है।

5.3 संरचना का विकास व शिक्षा

अब हम यह देखेंगे कि शिक्षा का प्रसार संरचना के विकास को किस प्रकार प्रभावित करता है। किसी समाज में ज्ञान का भण्डार उसके निवासियों में निहित होता है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होता जाता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान के भण्डार में वृद्धि तथा उसकी किस्म में सुधार भी होना चाहिये ताकि मनुष्य में, संसार में होने वाली बातों को समझने की शक्ति अधिक हो सके और इस प्रकार मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों को और अधिक नियंत्रित करने के योग्य बन सकें ताकि संसार की तीव्र गति से बढ़ती हुयी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। शिक्षा को इसी प्रकार की भूमिका निभानी है। अतः इसके अंतर्गत अधिकाधिक नवयुवकों के लिए पढ़ाई लिखाई का प्रावधान होना चाहिये तथा सेवारत लोगों के लिये ऐसा प्रशिक्षण दिया जाये कि वे उत्पादन विधि को भली भाँति समझ सकें। जब संसार के विकसित देशों में आर्थिक विकास की लहर आई तो इन देशों में उत्पादन के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के नव निर्माण देखने में आये जिंनका आधार वैज्ञानिक आविष्कार था। धीरे-धीरे यह नव आविष्कार वैज्ञानिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये और इनको सुचारू रूप से लागू किया जाने लगा। इन तमाम उपलब्धियों के लिये एक उच्चतम शिक्षा प्रणाली का होना आवश्यक था जिसके अंतर्गत गणित इत्यादि के साथ--साथ प्राकृतिक व सामाजिक शक्तियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की क्षमता होनी चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली का विकास विकसित राष्ट्रों में प्रारम्भिक अवस्था में धीमा था। परन्तु बाद में इसमें तेजी आयी और अन्त में इन देशों में शिक्षा व्यापक रूप से फैल गयी तथा विश्वव्यापी प्रारम्भिक शिक्षा स्थापित हो गयी।

विकासशील राष्ट्रों में, जो पाश्चात्य शक्तियों की गुलामी में थे, शिक्षा वा प्रसार एक छोटे से क्षेत्र तक ही सीमित रहा जिसका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी सरकार ' शासन चलाने के लिये अधिकारी तथा क्लर्क बनाना था। साथ ही साथ इसके द्वारा लाभ क्षेत्र को पहुंचा जो आधुनिक उद्योगों में थे तथा विदेशी व्यापार में लगे थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन राष्ट्रों में अपनी सरकारें आयी तो शिक्षा के विकास पर ध्यान दिये जाने की बात की जाने लगी ताकि देश का आर्थिक विकास सम्भव हो सके। दुर्भाग्यवश शिक्षा का विकास उस गति से न हो पाया जैसा कि ' होना चाहिये था क्योंकि सरकार ने इसको प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथ में न रखकर इसमें विकास तथा वृद्धि की जिम्मेदारी निजीक्षेत्र पर डाल दी। अपने निहित स्वार्थों के कारण निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने शिक्षा के प्रसार व उसकी विभा को आम जनता तक पहुंचाने में सफल न हो सके) शिक्षा मुख्य रूप से उच्च शिक्षा केवल कुछ ही लोगों तक सीमित होकर रह गयो और यही कारण है कि आज देश के सामने बड़ी समस्या शिक्षा के प्रसार की है। इसकी कमी के कारण आम जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उन्माद है जो हमारी समस्त आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का मूल कारण है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय शिक्षा की स्थिति को देखने के पश्चात् अब हम यह अध्ययन करेंगे कि शिक्षा के प्रसार का प्रभाव कृषि तथा औद्योगिक विकास की संरचना पर कैसे पड़ता है। भारत वर्ष में शिक्षा की दर 1981 की जनगणना के अनुसार 36.12% जो 1991 की जनगणना के अनुसार लगभग 50% हो गयी है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि इतने वर्षों के प्रयास के उपरान्त आज भी शिक्षा का समुचित प्रसार न हो सका जबकि दुनिया के अन्य विकसित राष्ट्रों में शिक्षा की दर लगभग 100% है।

यदि हम यह प्रश्न करें कि शिक्षा से क्या लाभ होता है तो हमें निम्नलिखित दो बातों पर ध्यान देना होगा।

(1) शिक्षा व्यक्ति विशेष की कार्यशक्ति में वृद्धि करती है।

(2) यह सरंचना की मांग को बढ़ाती है जैसे ऊर्जा तथा सिंचाई की खपत रासायनिक खाद तथा जल आपूर्ति इत्यादि। इसी प्रकार शिक्षा के प्रसार का प्रभाव यातायात, संचार सड़क यातायात के साधनों का प्रयोग बिजली के सामान का प्रयोग, लोहे की वस्तुओं का प्रयोग, घर बनाने के लिये सीमेन्ट आदि का इस्तेमाल करना पड़ता है।

5.4 कृषि संरचना पर शिक्षा का प्रभाव

कृषकों के जीवन-स्तर में सुधार लाने में शिक्षा का उतना ही महत्व है, जितना कि आर्थिक विकास का। आर्थिक विकास का प्रभाव यह होता है कि कृषक अपने बच्चों को शिक्षा के लिये स्कूल भेजते है तथा उन्हें उच्च शिक्षा भी प्रदान कराने की चेष्टा करते है, जिससे उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि होती है तथा उनकी योग्यता में सुधार होता हो इसका प्रभाव यह होता है कि किसान नये-नये तरीकों को अपनाता है और कृषि में उत्पादकता को बढ़ाता है। वास्तव में शिक्षा तथा तकनीक का विकास ही कृषि क्षेत्र में सुधार का एकमात्र साधन है। इसीलिये ये कहा जाता है कि आर्थिक विकास एक जटिल प्रगतिशील प्रक्रिया है, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ शिक्षा जैसे कारकी का भी अधिक महत्व है। इस प्रकार के कृषक न केवल कृषि में सुधार में सफल होता है। यहाँ पर यह बात समझने के योग्य है कि शिक्षा से होने वाले लाभों को आसानी से तथा सही तरीके से मापा नहीं जा सकता। शिक्षा पर व्यय एक विनियोग के रूप में है जिसका लाभ दीर्घकाल में होता है, अर्थात् उसको हम मानवीय पूँजी में विनियोग कह सकते है। बच्चों में माता-पिता अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की कटौती करके जो शिक्षा पर व्यय करते है उसका लाभ दीर्घकाल में प्राप्त होता है क्योंकि शिक्षा मनुष्य को न केवल अधिक

उत्पादक बना देती है, वरन् उसे पारिवारिक क्षेत्र में ऐसे मूल्य प्रदान करती है जिससे वो अधिक सुखी तथा सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकता है। यह है वर्तमान त्याग का भविष्य में लाभ।

अब प्रश्न ये उठता है कि कृषि के आधुनिकीकरण में शिक्षित कृषकों का क्या योगदान है?

(i). शिक्षित युवक निमलिखित लाभ प्राप्त कर सकता है :-

(i). शिक्षा से उसे कृषि के बारे में सही समुचित सुचनायें प्राप्त होती है। वह यह जान लेता है कि सुविधायें कहीं, कब और कैसे प्राप्त हो सकती है?

(ii). शिक्षित कृषक लागत तथा मूल्य-विश्लेषण करके यह जान सकता है कि उसके लिए कौन सी सूचना अधिक लाभदायक हो सकती है?

(iii). शिक्षित कृषक इन सूचनाओं को शीघ्रता से प्राप्त कर सकता है तथा उसका प्रयोग कृषि में लाभदायक रूप से कर सकता है।

(iv). शिक्षित कृषक बोयी जाने वाली फसलों का अनुकूलतम समन्वय प्राप्त कर सकता है, तथा किस प्रकार की आधुनिक कृषि विधि अथवा तकनीक को कम से कम लागत पर लागू कर सकता है।

(v). यदि किसी कृषि यंत्र के आयात का मामला हो तो इसके बारे में भी यह निर्णय ले सकता है और कृषि में महान नव-प्रवर्तन ला सकता है।

(vi). कृषि विधियों को कम से कम लागत लागू करके अधिकतम उत्पादन किया जा सकता है।

इस प्रकार शिक्षा से कई महत्वपूर्ण बातें निकलती है, जैसे :-

(अ) नव प्रवर्तन प्रभाव, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

(ब) साधनों का सही रूप से आवंटन और जिसका लाभ व केवल अधिक उत्पादन में मिलता है, बल्कि फसल को अच्छे से अच्छे दामों पर बेचने में सहायता मिल सकती है।

(स) इसका प्रभाव कृषकों की तथा खेत में काम करने वाले शिक्षित मजदूरों के जीवन-स्तर में सुधार के रूप में भी होता है जैसे-अच्छा स्वास्थ्य, नियंत्रित परिवार, उच्च तथा वैज्ञानिक विचार आदि।

(द) इन शिक्षित कृषकों के सम्पर्क में जो आस-पास के दूसरे कृषक अथवा रहने वाले आते है वे नयी पद्धतियों तथा जीवन-निर्वाह के नये तरीकें का अनुसरण कर सकते है और वे भी किसी हद तक लाभ उठा सकते है। निमलिखित चार्ट में शिक्षा के प्रभाव को विस्तार से दर्शाया गया है।

चार्ट संख्या 5.1

कृषकों की शिक्षा का समस्त आर्थिक प्रभाव

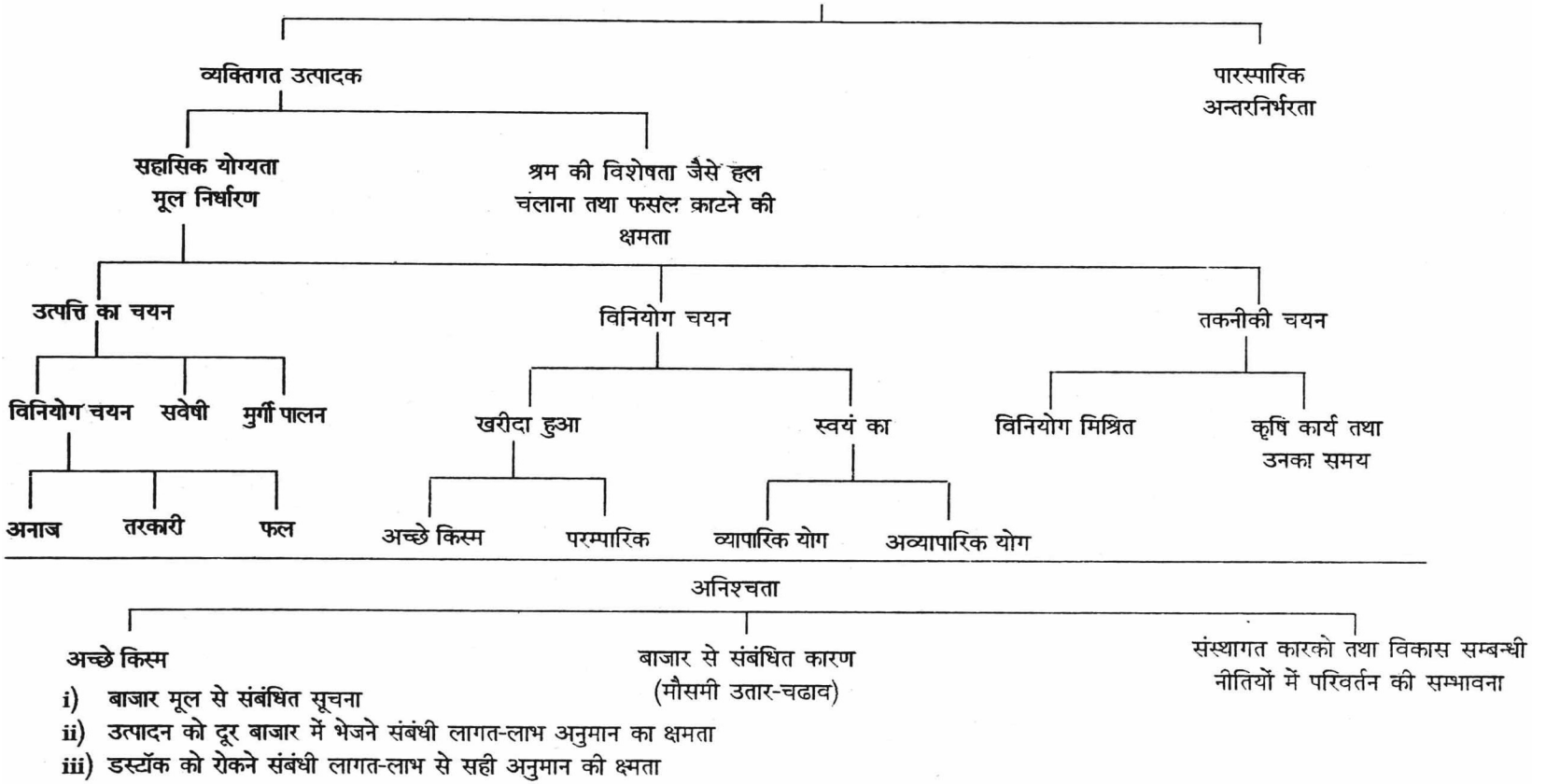

i) बाजार मूल से संबंधित सूचना
ii) उत्पादन को दूर बाजार में भेजने संबंधी लागत-लाभ अनुमान का क्षमता
iii) डस्टॉक को रोकने संबंधी लागत-लाभ से सही अनुमान की क्षमता

इसके विपरीत पारंपरिक कृषि में जहां कृषि तकनीक में नयी विधियां नये विचारों को नहीं लागू किया जाता और न वहां के कृषकों म्रे शिक्षा, आधुनिकीकाण तथा नयी-नयी खोजों तथा सूचनाओं का लाभ प्राप्त नही होना, उसकी दशा अब भी पिछडे हुये साम्य-स्थिति में है। मुख्य रूप से दो कारक महत्वपूर्ण है, (अ) प्राकृतिक कारक अथवा प्राकृतिक, जिनके कारण कृषि को हानि पहुँचती है, और कृषक अपने को असहाय पाता है। (ब) दूसरे, बाजार में नाग-पूर्ति शक्तियों का फायदा उठाने में छोटे तथा सीमान्त कृषक असमर्थ रहते है। वह अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने उत्पादन का उचित मूल्य नहीं पाते। छोटे तथा सीमान्त कृषक अपनी कृषि में किसी प्रकार का जोखिम नही उठाना चाहते और वे उन्हीं पद्धतियों तथा फसलों को छांटते है जिनसे उसको निश्चित आय प्राप्त हो सके। क्योंकि उनको बाजार के बारे में सही सूचना भी नहीं प्राप्त हो पाती अतः वे आधुनिक चीजों को इस्तेमाल नहीं करते है ओर लकीर के फकीर बने रहते है। आज भी उसके उत्पादन का मुख्य ध्येय उपभोग है अर्थात् वर्ष भर के लिये अपने तथा अपने परिवार के लिये खान-पान जुटाना तथा अगली फसल के लिये बीज का प्रावधान करना। इसके विपरीत बड़े किसान कृषि में आधुनिकीकरण का पूर्ण लाभ उठाते है समय सें तथा सही सूचना प्राप्त करते है। सिंचाई, नये-नये बीज तथा अन्य आधुनिक विधियों का प्रयोग करके न केवल अधिक उत्पादन करता है, वरन् उसको बाजार में प्रचलित मूल्य अनुसार बेचकर अच्छे दाम प्राप्त करता है। सरकार के द्वारा चलाई गई योजनाओं तथा सुविधाओं का लाभ वास्तव में यही प्राप्त करता है तथा छोटे तथा सीमान्त कृषक जिनको यह लाभ मिलना चाहिये अथवा जिनके लिये यह योजनायें बनाई गई है वे उनसें वंचित रह जाते है, यह हमारा दुर्भाग्य है, और इस पर नियोजकों को ध्यान देना चाहिये या इस विडम्बना का मुख्य कारण छोटे तथा सीमान्त कृषकों में शिक्षा का अभाव है। केवल शिक्षा का प्रसार व आधुनिकीकरण से ही इनकी दयनीय दशा में सुधार लाकर आर्थिक दोहरेपन को दूर किया जा सकता है।

(अ) आर्थिक संरचना,

(ब) नियंत्रित बाजारी पद्धतियां,

(स) कृषि क्षेत्र में सहकारिता को प्रोत्साहन देना, तथा सहकारी साख समितियों तथा व्यापारिक तथा अन्य बैकों द्वारा कृषकों को साख प्रदान करवाना ताकि वे साहूकार तथा महाजनों के चंगुल से छूट सके।

(द) कृषि संबंधित लाभकारी सूचनायें, दूरदर्शन, रेडियो आदि से कृषकों तक पहुंचाना। कृषि मेले का आयोजन करना इत्यादि।

इस प्रकार की सूचनायें विभिन्न कृषक समूहों के लिये भिन्न-भिन्न करनी पड़ेगी। अर्थात् छोटे तथा सीमान्त कृषकों के लिये इसका आयोजन अलग तरीके से करना होगा। उनको नयी पद्धति को अपनाने के लिये दूसरे तरीके से प्रोत्साहित करना होगा, जबकि बड़े तथा विकसित कृषकों के लिए यह आयोजन दूसरे ढंग का होगा। और इसका उद्देश्य भी भिन्न होगा।

गाँव में प्रेरकों को भेजना अधिक लाभदायक होगा, छोटे तथा सीमान्त किसानों के लिये जबकि दूसरे वर्ग के कृषकों के लिये हैंड बिल तथा अन्य छपी हुई सामग्री के द्वारा पहुंचाया जा सकता है। यदि सरकार इन बिन्दुओं पर ध्यान दे तो शिक्षा तथा नये संचार-माध्यमों से सभी प्रकार के कृषकों को लाभ हो सकता है।

अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि सही रूप से शिक्षा का प्रसार तथा संचार साधनों का उचित प्रयोग हमारी कृषि की समस्याओं का एकमात्र समाधान हो सकता है। यदि कुछ कृषक नयी पद्धति अथवा नये तरीके अपनाते है तो उसका प्रभाव अन्य कृषकों पर अवश्य पड़ेगा और इसको हम प्रदर्शन-प्रभाव कह सकते है। इस प्रभाव से वशीभूत होकर छोटा किसान भी पूंजी बाजार का लाभ उठा सकता है। तथा नयी-नयी आर्थिक संरचनाओं से लाभ प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार जो कृषक खेत में काम करते है वे कृषि शोध में भी महान योगदान दे सकते है। वे नयी पद्धतियों के प्रभाव का अध्ययन करके उनसे उत्पन्न परिणामो को अथवा उनसे उत्पन्न कठिनाइयों को शिक्षा-संस्थाओं में ले जाकर कृषि-शोध में योगदान दे सकते है। इस प्रकार कृषि में नये-अन्वेषणों को लागू करना एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे न केवल कृषि लाभ उठाती है बल्कि कृषि शोध की दिशा मे भी परिवर्तन ला सकती है। शिक्षकों तथा शोधकर्ताओं को यह समझना चाहिये कि हम किसानों से भी बहुत कुछ सीख सकते है।

आधुनिक कृषि विनियोग के चयन तथा शिक्षा के संबंध का निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है।

आधुनिक विनियोग=F (शिक्षा)

'यह देखा गया है कि अधिक शिक्षित रसायनिक खाद तथा अधिक उर्वरक बीज तथा सिंचाई का अच्छा इस्तेमाल कर सकता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते है कि शिक्षा का महत्व कृषि में अत्यधिक है। यह तथ्य एक गतिशील कृषि में और अधिक लागू होता है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि शिक्षा तथा आधुनिकीकरण के द्वारा ही कृषि का सही ढंग से विकास हो सकता है। अधिक शिक्षा का प्रभाव यह होगा कि कृषक अधिक आधुनिक बातों की मांग करेंगे, अधिक ऊर्जा का प्रयोग करेंगे तथा कृषि संवार एवं सूचना का प्रयोग सही ढंग से करके कृषि उत्पादन बढ़ाकर भारतीय अर्थव्यवस्था को सही मायनों में विकास की ओर अग्रसर करेंगे।

5.5 औद्योगिक संरचना एवं शिक्षा

ऊपर के भाग में हम यह देख चुके है कि शिक्षा किस प्रकार के कृषि में क्षेत्र में उन्नति का माध्यम बन सकती है तथा संचार व्यवस्था का समुचित उपयोग कर सकती है। इसी प्रकार औद्यौगिक संरचना के लिये भी शिक्षा का महत्व है। शिक्षा के औद्योगिक श्रमिकों को नई तकनीकी ज्ञान होता है। उसमें सोचने की क्षमता बढ़ती है तथा एक शिक्षित नये अन्वेषणों के प्रति अधिक जागरूक होता है।

हमे विदित है कि शिक्षा के कारण नई-नई औद्योगिक संरचनाओं की मांग बढ़ती है। इस संबंध में हम यह कह सकते है कि इस प्रकार की संचरना उन क्षेत्रों में होती है वहां इसकी मांग विदित है अर्थात् जहां पर औद्योगिक विकास की परिस्थितियां उत्पन्न है। यहां पर इन सुविधाओं को प्रदान करने से हमारा औद्योगिक ढांचा अधिक संतुलित हो पाता है। इस प्रकार का औद्योगिक विकास हमारे देश के लिये अधिक उत्तम नहीं माना गया है। हमारे नियोजनकों ने देश में सन्तुलित विकास करने की नीति अपनायी है। जिसके अंतर्गत हम उद्योगों को उन स्थानों पर ले जाना चाहते है जहां उनका अभाव है। यह तब ही संभव हो सकता है जब हम इन स्थानों पर औद्योगिक संरचना प्रदान करें तथा अन्य सुविधाओं को कम दरों पर दें।

विकसित राष्ट्रों में प्रथम प्रकार का औद्योगिक विकास मुख्य रूप से देखने में आता है। इन देशों के औद्योगिक संरचना के साथ-साथ शिक्षा के 'औद्योगीकरण में अधिक योगदान दिया है। सरकार का काम मांग के अनुसार केवल औद्योगिक संरचना को प्रदान कना था। शेष औद्योगिक विकास स्वयं होता रहा।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विकासशील राष्ट्रों में भी इसी प्रकार की पद्धति को अपनाया गया तथा औद्योगीकरण के लिये प्रचलित मांग अनुसार संरचना का विकास किया जैसे ऊर्जा की पूर्ति, यातायात के साधन आदि। वास्तव में इसके परिणाम स्वरूप शहरी क्षेत्रों में अथवा बड़े-बड़े उद्योगों को आस पास विकास की गति बढ़ी। वहां पर अत्यधिक जनसंख्या का दबाव पड़ा और इन राष्ट्रों में भी असन्तुलित औद्योगिक क्किास ने दृढ़ता प्राप्त की। दूसरी ओर जब इन देशों ने अधिक उर्वरक किस्म के बीजों के इस्तेमाल के कारण कृषि क्षेत्र में विद्युत तथा ऊर्जा शक्ति की अधिक मांग बढ़ी तो ऊर्जा के उत्पादन में विकास हुआ। परन्तु व्द्युत अथवा ऊर्जा का उत्पादन उस अनुपात में न हो सका जिसमें अनुपात में देश में इसकी मांग बढ़ी। परिणाम स्वरूप ऊर्जा की कमी के कारण पम्प सेट में चलने में बाधा आयी। जल कूप का पूर्णरूप से इस्तेमाल न हो सका जिससे न केवल कृषि उत्पादन वरन् औद्योगिक उत्पादन में भी कमी आयी।

इसके विपरीत पारम्परिक कृषि में जहां पुरानी पद्धति का प्रयोग जारी था तथा कृषकों की शिक्षा का भी अभाव था वहां औद्योगिक संरचना की भाग कमजोर थी और इस क्षेत्रों में इसका कुप्रभाव यह हुआ कि उत्पादन में वृद्धि इतनी नहीं हुयी जितनी कि होनी चहिये थी। सत्य तो यह है कि जब राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान तथा विश्व बैक जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थायें ऋण देने की योजनाओं पर विचार करते है तो इसमें मुख्य रूप से यह देखा जाता है कि इस योजना में उत्पादन बढ़ाने की भविष्य में संभावनायें कैसी है। यदि इनमें शिक्षा तथा आधुनिकीकरण का समावेश है तो योजना के स्वीकार करने की संभावनायें अधिक हो जाती है क्यों ऋण देने वाली संस्था तभी समय अपना पैसा जोखिम में डालेगी जब उसे संतुष्टि हो जायेगी कि यह योजना पर्याप्त रूप से उत्पादक है। दूसरे शब्दों में ये संस्थायें इस बात का अध्ययन करती है कि योजना में विनियोगों पर वापसी की दर कितनी है। ऐसा इसलिये है कि यह संस्थायें योजना की अवसर लागत पर ध्यान देती है और ऋण उसी योजना पर देती है जहां वापसी की दर अधिक हो। जिस योजना के विषय में यह देखा जाता है कि वहां संरचना अथवा ऊपर पूंजी की मांग कम होती है। अथवा अर्थ यह निकलता है कि यहं विकास की दर तथा विनियोग पर वापसी दर कम हो और ऐसी योजनाओं की स्वीकृति की संभावनायें कम हो जाती है।

परंतु योजना के स्वीकार करने की उपर्युक्त विधि बहुत अधिक उचित नही है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि जिन क्षेत्रों में संरचना की मांग कम है अथवा विनियोग की वापसी दर कम है, वहां पर विकास की आवश्यकता अधिक होती है। यदि इन क्षेत्रों में अथवा इन योजनाओं पर विनियोग न किया गया तो यह सदा के लिये अविकसित तथा पिछड़ा रहेगा जिसका प्रभाव सम्पूर्ण विकास पर अच्छा नहीं पड़ता। इसीलिये विकासशील देशों में आधुनिक सरकारें ऐसे क्षेत्र में अधिक विकास की संरचना प्रदान कर रही है और यही अर्थ संतुलित विकास नीति का। दूसरे शब्दों में उद्योगों को इन अविकसित क्षेत्रों में लाने का प्रयास किया जाता है। यही बात अंतर्राष्ट्रीय ऋण के विषय में भी कही जा सकती है जहां सरकार को अपने दृष्टिकोण को अधिक प्रभावशाली रूप से बताना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा देखा गया है यदि संरचना के विकास में हस्तक्षेप न किया जाये तो किसी क्षेत्र में असंतुलित विकास हो जाता है। उदाहरण के लिये यातायात में यदि हम किसी प्रकार के एक यातायात का अधिक विकास कर देते

है तथा दूसरे प्रकार के यातायात के साधनों में ऐसा विकास नहीं होता है तो यातायात के साधनों के समन्वय की समस्या उत्पन्न हो जाती है। जिसमें परिणाम अच्छे नहीं होते। प्रो.आर.नर्कसे ने इसी कारण इस बात पर अधिक जोर दिया है कि देश के संतुलित विकास के लिये औद्योगिक संरचना की मांग का सृजन करना चाहिये। प्रो.नर्कसे संतुलित विकास सिद्धांत के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थशास्त्री है। इस प्रकार की पद्धति में किसी अर्थव्यवस्था का समुचित विकास होता है तथा नयी तकनीकी तथा स्थानीय साधनों का समुचित प्रयोग संभव हो जाता है। केवल संरचना के प्रदान करने से आर्थिक विकास नहीं होता। वास्तव में यह संरचना विभिन्न प्रकार के उत्पादन में सहयोग करके देश के उत्पादन तथा उत्पत्ति में वृद्धि संभव करती है। जिसका प्रभाव यह होता है कि नई-नई वस्तुओं तथा विधियों की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसी को त्वरक प्रभाव कहा जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्री जैसे हर्षमैन ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है। उनके अनुसार इस प्रकार के दुर्लभ साधनों का उचित प्रयोग नहीं होता है। औद्योगिक संरचना को बनाने में इस प्रकार विकासशील राष्ट्रों में जो साधन लगाये जाते हैं वे मांग की अपेक्षा अधिक होते हैं। इनके प्रभाव से उत्पादन उचित गति से नही बढ़ता है। अतः इस प्रकार के अर्थशास्त्री संतुलित विकास नीति में संशोधन के पत्र में है। दुसरी और प्रो.नर्कसे का कथन है कि यदि हम कम विकसित क्षेत्रों में संरचना नहीं देते है तो, इससे उत्पादन में कमी आती है। और देश को हानि हो सकती है। यहां पर हमें यह भी समझना चाहिये कि असंतुलित विकास नीति से अमीर और अधिक अमीर तथा गरीब और अधिक गरीब हो जाता है। अथवा विकसित क्षेत्र और अधिक विकसित हो जाता है तथा अवकसित क्षेत्र और अधिक पिछड़ जाता है। दूसरी ओर संतुलित विकास नीति से कम विकसित क्षेत्र अधिक विकास करते है और वहां के गरीब निवासी के जीवन स्तर में सुधार आता हैं। दुर्भाग्यवश हमारे देश में विकास के उद्देश्यों के विपरीत असंतुलन विद्यमान है और यही कारण है कि देश में कम विकसित क्षेत्र है और वहां के निवासी आर्थिक कठिनाई को सहन कर रहे है। यदि हमारे नियोजक इस बिंदु पर अधिक ध्यान दे तो अर्थव्यवस्था का विकास अधिक संतुलित रूप से किया जा सकता है और सामाजिक न्याय के उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। इस प्रकार इस नीति के अनुसार देश के विभिन्न क्षेत्र में संभावित विकास संभव हो सकेगा और देश के दुर्लभ साधनों का अनुकुलतम प्रयोग भी संभव हो जायेगा। उदाहरण के लिये यदि हम ऊर्जा के क्षेत्र को देखे तो इसके अंतर्गत हमें ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों को एक साथ लेकर चलना पडेगा। तभी हम इस गम्भीर समस्या का समाधान कर सकेंगे। ऊर्जा के विभिन्न स्रोत बिजली, कोयला, हवा, आणविक, बायोगैस तथा सौर ऊर्जा आदि का समन्वित विकास करना होगा। यही बात अन्य क्षेत्रों में भी लागू होती है। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जैसे-जैसे संरचना की मांग बड़े उसकी पूर्ति को सभी अनुपात में बढ़ाया जाये। और इस प्रकार यहां पर शिक्षा का महत्व अत्यधिक हो जाता है अर्थात संरचना के विकास के लिये विभिन्न प्रकार के तकनीकी में निपुण लोगों की आवश्यकता होगी जो न केवल संरचना के उत्पादन में मदद दें अपितु उसें बनायें रखने में भी सहायक हों। इनके, अभाव में संरचना का ढांचा तो खड़ा है ही जायेगा वरन् साधारण कमी के कारण वह ठप्प हो जायेगा तथा उस पर विनियोजित की गयी करोड़ों की पूंजी एक प्रकार से व्यर्थ हो जायेगी।

5.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि कृषि तथा औद्योगिक संरचना के सृजन तथा उसके बनायें रखनें में शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। यह बात विकासशील राष्ट्रों के लिये अधिक लागू होती है वहां नवशिक्षित तकनीक हाथ तथा विशेषज्ञ नयी-नयी उत्पादन पद्धतियों कों अपनाते है। कहने का

अर्थ यह है कि शिक्षित वर्ग इनका समुचित तथा वैज्ञानिक प्रयोग करता है जबकि शिक्षा के अभाव मे इसी सम्भावनायें कम हो जाती है। यदि हम शिक्षा की लागत तथा लाभ का विश्लेषण करें तो यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि जिन अर्थव्यवस्थाओं अथवा क्षेत्रों में शिक्षा पर अधिक व्यय हुआ है वहां पर इसका लाभ कई गुना अधिक देखने में आयेंगे। शिक्षा के कारण मांग बढ़ती है और विकास भी बढ़ता है। शिक्षा के लाभ को प्राप्त करने में विकास के स्तर का भी महत्व है।

5.7 शब्दावली

1. **सार्वजनिक वस्तु :-** सार्वजनिक वस्तुये होती है जो सरकार द्वारा उत्पन्न की जाती है तथा जिसमें व्यक्तिगत उपयोग सें दूसरों की उस वस्तु की प्राप्ति में कोई उत्तर नहीं पड़ता।
2. **नव निर्माण :-** नवनिर्माण का अर्थ है नये-नये आविष्कारों को प्रयोग में लाकर उत्पादन वृद्धि करना।
3. **संतुलित विकास सिद्धान्त :-** इस सिद्धान्त का अर्थ है कि उत्पादन में वृद्धि समस्त उद्योगों तथा समस्त क्षेत्रों में समान रूप से की जानी चाहिये। किसी क्षेत्र अथवा उद्योग कों पीछे नही छोड़ना चाहिये।
4. **असंतुलित विकास सिद्धान्त :-** इसका अर्थ यह है कि किसी एक क्षेत्र या उद्योग में प्रारंभिक अवस्था में अत्यधिक विनियोग किया जाता है और इसके प्रभाव से अन्य क्षेत्रों के विकास की गति तय होती है।

5.8 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

1. फोस्टर शैफील्ड (ऐड़ीड)
   ऐजुकेशन इन सरल डवलौग्मैन्ट.वर्ल्ड इयर बुक आफ एजुकेशन-1974 टी.डब्ल्यू शुल्जू तथा डी.पी.चौधरी लेख
2. योगसन : आर्थिक विकास तथा संरचना (ग्लसगो प्रेस 1967)
3. ए एस : भल्ला (ई डी) तकनीकी का चयन आई.एल.ओ.1985
4. आर्थिक सर्वेक्षण-1989
5. आर. एम. सुन्दरम् : आर्थिक नीति एवं विकास, सागे प्रकाशन-1989

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 :- संरचना की मुख्य विशेषनायें क्या होती है? उनका उल्लेख कीजिए।

2 :- शिक्षा के प्रसार का औद्योगिक तथा कृषि संरचना के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है?

इकाई-5

परिशिष्ट

तालिका 5.1

सामान्य शिक्षा की प्रगति 1985-90

क्रम सं.	वितरण	1984- 85		1989-90	
		संस्थाएं (संख्या)	विद्यार्थियों की संख्या (हजारों में)	संस्थाएं (संख्या)	विद्यार्थियों की संख्या (हजारों में)
1.	प्राथमिक शिक्षा (कक्षा I-V) (उम्र 6-10)	519701	83933	550700	97318
2.	माध्यमिक शिक्षा(कक्षा V-VIII) (उम्र 11-14)	129789	26153	143747	32188
3.	प्राथमिक शिक्षा(कक्षा I-VIII) (उम्र 6-14)	649580	110086	694447	129506
4.	अनोपचारिक शिक्षा(कक्षा I-VIII) (उम्र 6-14)			27087	6400
5.	कुल 1 to 4 मद 3 एवं4	649580	110086	721534	135906
6.	उच्च / उच्चत्तर माध्यमिक स्कूल कक्षा IX-XII	58834	13828	76119	19970
7.	कालेज शिक्षा (क135ला विज्ञान वाणिज्य)	4005	2577	4755	3814
8.	विश्वविद्यालय (Deemed University (सहित)	135	347	174	388
9.	अभियान्त्रिक महाविद्यालय	198	145	278	733
10	पोलीटेक्निक	389	148	840	284

स्रोत:- आठवीं पंचवर्षीय योजना 1992-97 भारत सरकार, योजना आयोग, नई दिल्ली

इकाई 6
जनसांख्यिकीय आयाम एवं आर्थिक विकास

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर प्रभाव
6.3 जनसंख्या एवं पूँजी निर्माण
6.3.1 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या आकार का प्रभाव
6.3.2 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या वृद्धि दर का प्रभाव
6.3.3 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या की आयु संरचना का प्रभाव
6.4 जनसंख्या वृद्धि का अन्य आर्थिक चरों पर प्रभाव
6.4.1 जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्य पूर्ति
6.5 जनसंख्या वृद्धि एवं उत्पादन
6.6 जनसंख्या वृद्धि एवं बेरोजगारी
6.7 मानवीय साधन तथा आर्थिक विकास
6.8 प्रवासन का आर्थिक विकास पर प्रभाव
6.8.1 आन्तरिक प्रवासन का प्रभाव
6.8.2 आप्रवासन (Immigration)
6.8.3 उत्प्रवासन (Emigration)
6.9 सारांश
6.10 निबन्धात्मक प्रश्न
6.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

मानव की जिज्ञासा अपने तथा अपने परिवेश के बारे में जानने की उसके उत्पत्तिकाल से रही है। वह इसके संबंध में विभिन्न उद्दश्यों को ध्यानगत रखकर किसी न किसी रूप में जानकारी एकत्रित करता रहा है। ये उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते है जो समय, स्थान, उद्देश्य के अनुसार बदलते रहे है। मानवीय इतिहास में ऐसे अनेक साक्ष्य आज भी उपस्थित है जो इस बात को स्पष्ट करते है कि राज्य की रुचि जनसंख्या के विभिन्न आयामों-जन्म, मृत्यु आप्रवास तथा उत्प्रवास आदि में सर्वप्रथम राज्य की सुरक्षा तथा करों के माध्यम के राजस्व एकत्रित करने में रही है। जिसके कारण जनसंख्या का लेखा रखना आवश्यक हो गया होगा। इन दोनों ही उद्देश्यों ने जनसंख्या के गुणात्मक (Qualitative) तथा परिमाणात्मक (Quantitative) पहलुओं का अध्ययन करने को बाध्य किया होगा। और इस प्रकार अध्ययन के लिए पंजीकृत जीवन समंको (Vital statistics) की आवश्यकता पड़ी होगी, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख[1] ईसा से 1250 वर्ष ई.पू. मिश्र के नरेश रोमेश द्वितीय के काल में मिलता है। इसके

अलावा बेवालोनिया, चीन तथा हिन्द सभ्यताओं में भी इसका भरपूर उल्लेख मिलता है।[2] और आज विश्व के लगभग सभी देशों में जनगणना का कार्य किया जा रहा है, जो इसकी उपादेयता को स्वत: सिद्ध करता है।

जनसंख्या तथा आर्थिक विकास में अन्योंन्याश्रित संबंध है। दोनों ही एक दूसरे के लिए कारण-प्रभाव संबंध स्थापित करते है। इस इकाई में हमारा जनसंख्या के अनेक आयाम-जन्म, मृत्यु, आप्रवास तथा उत्प्रवास (Birth, Death, immigration & Emigration) किस प्रकार किसी देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करते है - का अध्ययन करने का प्रमुख उद्देश्य है।

6.1 प्रस्तावना

किसी राष्ट्र में राष्ट्रीय आय, मजदूरी, लगान, रोजगार आदि आर्थिक विकास सूचकांकों तथा जनसंख्या की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक संरचना, मृत्यु-दर, जन्म-दर, घनत्व आदि जनांकिकीय विकास सूचकांकों में बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। यह कहना कठिन ही नहीं असम्भव सा प्रतीत होता है कि कब कौन साध्य है और कब साधन ? दोनों ही एक दूसरे, को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करते है। इस संबंध को प्रो० रिचार्ड गिल ने इन शब्दों में बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है-आर्थिक विकास एवं पंजीकृत प्रक्रिया (Mechanical Process) के साथ-साथ मानवीय उपक्रम (Human Enterprises) भी है। इसका प्रतिफल अन्ततः इसे क्रियान्वित करने वाले मनुष्यों की कुशलता, गुण एवं प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। इस प्रकार हम देखते है कि वास्तव में मनुष्य उत्पादन का साधन है जो अपनी शारीरिक, मानसिक आदि प्रकार की योग्यताओं एवं क्षमताओं को नित्य प्रति प्रयोग में लाकर संसार के जीवन स्तर को ऊचाँ उठाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। मार्क्स तो इस संबंध में यहां तक कहता है कि मनुष्य ही समस्त उत्पादन का कारण है। वह ही केवल उत्पादक साधन है। किन्तु दूसरे ही क्षण यह भी बात उतनी ही महत्वपूर्ण है कि मानव-साधन में क्या गुण है तथा उनका प्रयोग किस प्रकार से किया जा रहा है, अर्थात श्रमिक कुशल है या अकुशल। प्रो० कार्बर के विचार से यह और भी स्पाट हो जाता है "धनी वातावरण के बीच भी समुदाय एवं राष्ट्र-निर्धन रहे है अथवा मिट्टी की उर्वरता तथा प्रचुर प्राकृतिक साधनों के होते हुए भी पतन की ओर अथवा गरीबी की ओर चले गये है केवल इसलिये की यहां मानवीय तत्व निम्न कोटि का रहा है, अथवा उसको बिगड़ जाने के लिए छोड़ दिया गया है।" इसी प्रकार का मन प्रो० ए. मुखर्जी का भी है-"किसी भी राष्ट्र की उन्नति मानवीय संसाधन संगठित करने की क्षमता पर निर्भर करती है। नि:संदेह कसी भी देश में जन-शक्ति साधन राष्ट्र की भारी पूंजी मानी जाती है। लेकिन इन साधनों का यदि समुचित उपयोग न हो और नये रोजगार के अवसर न उपलब्ध किये जायें तो साधन राष्ट्र के लिए भारस्वरूप बन जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के विकास के लिए अपनाई गई नीति में जन-शक्ति मनुष्य स्वयं साधन तथा साध्य दोनों ही है। जो कि आर्थिक विकास के चरों के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है।

पेपलिसिस, पियर्स तथा एडलेयन के शब्दों में, "साधन के रूप में मनुष्य उत्पादन क्रियाओं में अन्य साधनों के साथ संयुक्त होने के लिए उत्पादन के रूप मे उपलब्ध होता है। उपभोक्ताओं के रूप में आर्थिक विकास का उद्देश्य उनकी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को

अधिकतम प्राप्ति है। अतः किसी भी विश्लेषण में मानवीय तत्व पर इसके उत्पादन और उपभोक्ता दोनों रूपों में विचार किया जाना चाहिए।" अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम आर्थिक विकास तथा जनसंख्या विकास के आपसी संबंधों एवं प्रभावों का विस्तार से अध्ययन करें।

6.2 जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर प्रभाव

किसी भी अर्थव्यवस्था में विकास की गति प्राय: जनांकिकीय चरों (1) जनसंख्या का आकार, (2) जनसंख्या वृद्धि दर तथा (3) आयु संरचना-से बहुत हद तक प्रभावित होता है। ये घटक उत्पादन उपभोग, शुद्ध विनियोग आदि को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रभावित करते रहते है, जिससे कि विकास की गति पर नियन्त्रण-सा लगता रहता है। वास्तविक विनियोग की मात्रा किसी अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण प्रक्रिया को तीव्रतर गतिं उसी अवस्था में प्रदान कर सकते है जबकि जनसंख्या की विकास-दर तथा उसके गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों ही पहलू इसके अनुरूप हों। दूसरे शब्दों में, प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, जिले आर्थिक विकास का सूचकांक माना जाता है, में वृद्धि एक तो वात्तव में राष्ट्रीय आय की वृद्धि हो सकती है। दूसरे, यदि विकास यथावत् रहे और जनसंख्या प्रवास विदेशों को अधिक हो जायें, या फिर अधिक मृत्यु हो जाये, तो भी यह (प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय) अधिक होगा। इस प्रकार हम देखते है कि ये जनांकिकीय चर भी अर्थवयवस्था के विकास को विभिन्न दिशाओं प्रभावित करते रहते है। इसलिये इनका विश्लेषण करना आवश्यक सा प्रतीत होता है। अतः जनसंख्या के प्रति व्यक्ति व्यक्ति आय पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन के द्वारा हम यह जान सकते है कि जनगणना आर्थिक विकास को किस प्रकार प्रभावित करती है।

इसे हम अग्रांकित तीन शीर्षकों में अलग-अलग अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए विश्लेषित कर सकते है ।

6.3 जनसंख्या एवं पूजी निर्माण)Population & Capital Formation)

किसी भी अर्थव्यवस्था में हुई पूंजीनिर्माण को राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। अविकसित देशों में (विकासशील देशों में) पूंजीगत साधनों के अभाव के साथ-साथ कुशल एवं तकनीकी विशषज्ञों का भी अभाव देखा जाता है। प्राकृतिक साधनों को भी शोषित नहीं किया गया होता है। अतः इन अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी-निर्माण पर जनसंख्या वृद्धि का प्रतिकूल नहीं, तो अच्छा प्रभाव भी नही पड़ता है। इन अर्थव्यवस्थाओं में उच्च प्रजनन-दर, उच्च मृत्यु-दर, अधिक जनसंख्या स्वत: ही समस्या होती है जो कि पूंजी-निर्माण में बाधक होती है।

---

1 Census Of India, 1961, Vol. XV(UP), Part i-B, P.P. Bhatnagar

2 (i) कोटिल्य का अर्थशास्त्र, (ii) आइने अकबरी

6.3.1 प्रतिव्यक्ति आय पर जनसंख्या आकार का प्रभाव (Effect of Population Size on Per capita Income)

जनसंख्या आकार तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में प्रत्यक्ष संबध है। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में कमी, स्थिरता तथा वृद्धि देखी जा सकती है। यदि जनसंख्या स्थिर है और कुल राष्ट्रीय आय बढ़ रही है तो प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। इसके विपरीत, राष्ट्रीय आय की वृद्धि से जनसंख्या आकार वृद्धि की गति अधिक होने पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होगी। इस प्रकार, यदि दोनों ही समान गति से बढ़े तो प्रति व्यक्ति आय भी यथावत् रहेगी। इस तथ्य को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते है।

तालिका 6.1

	सन् 1971			सन् 1991		
देश	जनसंख्या (करोड़ में)	कुल वास्तविक आय (करोड़ रु. में)	प्रति व्यक्ति आय (रु. में)	जनसंख्या (करोड़ में)	कुल वास्तविक आय (करोड़ में)	प्रति व्यक्ति आय (रु. में)
क	10	50	5	15	90	6
ख	12	84	7	18	126	7
ग	20	180	9	30	240	8

उपर्युक्त तीनों ही अर्थव्यवस्थाओं में सन् 1991 की कुल राष्ट्रीय आय 1971 की अपेक्षा अधिक है, किन्तु जनसंख्या में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप "क", "ख" और "ग" अर्थव्यवस्थाओं की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ी है, स्थिर रही है ओर कम हुई है। इससे स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि अर्थव्यवस्था "ग" में अवनति हो रही है। अतः अर्थव्यवस्थाओं में जनसंख्या के आधार का प्रति व्यक्ति आय पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। किन्तु विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में यह प्रभाव अधिक गहन रूप से परिलक्षित होता है।

इस सन्दर्भ में कारसेडर्स के द्वारा प्रतिपादित सर्वोत्तम जनसंख्या सिद्धान्त की चर्चा अत्यन्त उपयुक्त होती है। यह सिद्धान्त उस धारणा को स्पष्ट करता है जिस पर किसी अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक साधनों, तकनीकी आदि के प्रयोग का पूर्ण शोषण हो सके जिस पर कि प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है।

अतः सर्वोत्तम जनसंख्या वह जनसंख्या है जिस पर कि किसी भी देश की प्रति व्यक्ति आय सर्वाधिक हो।

किन्तु जैसा कि हम देख चुके है, यह धारणा तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Static) दशा की द्योतक है, जो कि व्यावहारिक नहीं है। व्यवहारिक जगत तो परिवर्तनीय है। दूसरे, इस सिद्धान्त की मान्यता ही है कि प्रति व्यक्ति आय का उत्पादन जनसंख्या के आकार पर निर्भर रहती है, जनसंख्या के प्रकार (Quality) पर नहीं, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि किसी भी देश का कुल उत्पादन (राष्ट्रीय आय) वहां की कार्यकारी-जनसंख्या की प्रकृति, कार्यक्षमता, आयु-संरचना, तकनीकी कुशलता आदि पर निर्भर करता है।

6.3.2 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या वृद्धि-दर का प्रभाव (Effect of Population Growth rate on Per Capita Income)

जनसंख्या वृद्धि किसी भी अर्थव्यवस्था के रहने वालों के जीवन स्तर को कई दिशाओं से प्रभावित करती है। यदि यह दर अधिक है और विनियोग की मात्रा (दर) इससे कम है तो वहां के लोगों का जीवन स्तर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के कम होने के कारण गिरेगा।

अतः हमें जनसंख्या विनियोग की आवश्यकता पड़ेगी। जनसंख्या विनियोग (Human Investment) से तात्पर्य उस विनियोग से है जिसकी आवश्यकता जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ एक स्थायी जीवन स्तर बनाये रखने के लिए पड़ती है। जबकि आर्थिक विनियोग (Economic Investment) वह विनियोग है जो जनसंख्या वृद्धि दर से अधिक राष्ट्रीय आय वृद्धि दर बनाये रखने के लिए आवश्यक है, ताकि प्रति व्यक्ति आय बढ़े और उच्चतर जीवन को प्राप्त किया जा सके। इस प्रकर हम देखते है कि जनसख्या विनियोग का संबंध जनसंख्या वृद्धि के अलावा प्रति व्यक्ति वांछित दर से होता है।

जनसख्या में वृद्धि का प्रति व्यक्ति आय पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रो० नर्क्स ने इस प्रकार व्यक्त किया है- "यदि किसी अर्थव्यवस्था में जनसंख्या में वृद्धि नहीं होती तो वह अपनी अतिरिक्त पूंजी (पूंजी निर्माण) को विद्यमान श्रमिकों को अच्छे उपकरण, मशीनें, शिक्षा तथा प्रशिक्षण देने में प्रयुक्त करेंगे। इसे गहन-विनियोग केहते है। इससे कुल राष्ट्रीय आय के अलावा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है। परन्तु यदि जनसंख्या बढ़ती जति है तो सम्पूर्ण अतिरिक्त पूंजी अथवा इसका कुछ अंश अतिरिक्त श्रमिकों (जो जनसंख्या में वृद्धि के कारण फलित होंगे) को वर्तमान उपकरणो को उपलब्ध कराने में लगाना पड़ेगा। अधिक श्रमिकों को चालू प्रकार के उपकरण उपलब्ध कराना विस्तीर्ण विनियोग कहलाता है। अतः यदिं जनसंख्या में वृद्धि इतनी तेज देर कि समस्त अतिरिक्त पूंजी अतिरिक्त श्रमिकों को वर्तमान उपकरणों को उपलब्ध कराने में ही लग जाती है तो राष्ट्रीय आय बढ़ेगी, परन्तु प्रति व्यक्ति आय नहीं बढ़ेगी।"

अतः जनसंख्या वृद्धि का प्रति व्यक्ति आय पर दो प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा-एक तो यह अतिरिक्त पूंजी का वह भाग समाप्त कर देती है जिसे विद्यमान जनसंख्या की सज्जा सुधारने (अर्थात उन्हें अच्छे उपकरण, मशीनें, शिक्षा आदि उपलब्ध कराना) में प्रयोग में लाया जाता है, और दूसरी ओर शेष पूंजी को अधिक श्रमिकों को उपकरण उपलब्ध कराने में लगाना पड़ता है। इस प्रकार जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर को कम करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का अनुमान है कि किसी देश में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर 90% होने पर वहां वर्तमान प्रति व्यक्ति आय बनाये रखने के लिए उस देश की 2% से 5% बचतें आवश्यक है। विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि दर 25% वार्षिक है, इसलिए वर्तमान आर्थिक स्तर को बनाये रखने के लिए उस देश की जनसंख्या विनियोग के लिए 5% से 12.5% बचतों की आवश्यकता होती है। स्पेन्गलर का मत है कि किसी भी अल्प विकसित देश को 25 वर्षो में विकसित बनाने के लिए प्रति व्यक्ति आय में 3.2% वार्षिक वृद्धि या 100 डालर से 220 डालर तक की वृद्धि के लिए राष्ट्रीय आय की 13.8% पूंजी की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार का एक अनुमान नीचे दिया जा रहा है जिसमें विभिन्न देशों को अपने राष्ट्रीय उत्पाद का निम्न प्रतिशत अपनी वर्तमान आय बनाये रखने के लिए विनियोजित करना पड़ता है।

तालिका 6.2

राष्ट्रीय आय का स्तर बनाए रखने के लिए आवश्यक निवेश

कुल राष्ट्रीय उत्पादन का भाग	देश
5% से कम	अमेरिका, नार्वे, फ्रांस, स्वीडन, डेनमार्क, प० जर्मनी, ब्रिटेन, बेल्जियम, ग्रीस, पूर्तगाल।
5-7.5%	इथोपिया, सूडान, पाकिस्तान, नाइजीरिया, इंडोनेशिया चिली।
7.5-10%	पेरू, मलेशिया, यू० ए० आर०, थाईलैंड, मैक्सिको, टर्की।
10% से अधिक	कोलम्बिया, भारत, ब्राजील, थाना, ट्यूनीशिया

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विकासशील देशों में जो कि प्राय: कृषि प्रधान है (या रहते है), में विनियोग के अधिक होने के बावजूद भी उत्पादन में उत्पत्ति हास नियम लागू होने लगता है जिसके कारण जनसंख्या वृद्धि के साथ व्यक्ति आय गिरती ही जायेगी।

इस संदर्भ में हार्वे लिबिन्स्टीन[1] (Harvey Leibenstein) का विचार हैं कि आर्थिक विकास के लिए किसी भी जनसंख्या वृद्धि दर के संदर्भ में, प्रत्येक देश को (विकासशील, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्र) कुछ न्यूनतम प्रयास (Minimum Effert) करना पड़ता है। "न्यूनतम प्रयास" से अभिप्राय उस विनियोग से है जो कम से कम जनसंख्या वृद्धि की दर के संदर्भ में इतना अवश्य होना चाहिए ताकि आर्थिक विकास के रास्तें में जनसंख्या संबंधी बाधाओं को हटाया जा सके। किन्तु लिबिन्स्टीन के विचारों को विकाशील देशों में व्यवहार में लाना कठिन सा प्रतीत होता है। इसका कारण है कि इन देशों में न्यूनतम स्तर के प्रयत्नों के लिए विदेशी सहायता, कुशल श्रम एवं प्रावैधिकी का अभाव होता है। इन देशों में पूंजी उपयोग में कमी लाकर एकत्रित की जा सकती है।

रिचार्ड नेल्सन (Richard Nelson) ने भी लिबिन्स्टीन से ही मिलता-जुलता विचार व्यक्त किया है। "न्यूनतम प्रयास" की ही भांति इन्होंने अपना "निम्न स्तरीय सन्तुलन-अवरोध[2] (Low Level Equilibrium Trap) सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जो कि मुख्यत: तीन समीकरणों पर आधारित है। इसके अनुसार, (1) उत्पादन फलन (Production Function) की भांति आय निर्धारण समीकरण (Income Department Equation) में आय, पूंजी की मात्रा, जनसंख्या के आकार तथा प्रावेधिक स्तर पर निर्भर करता है। (2) शुद्ध विनियोग, बचत से निर्मित पूंजी तथा कृषि के साथ नई जमीन कृषि योग्य बनाई जाती रही है। फिर भी अच्छी भूमि की कमी पाई जाती है। अत: प्रत्येक अर्थव्यवस्था में एक ऐसी अवस्था आती है जबकि विनियोग बन्द हो जाता है। उन्हीं के शब्दों में, विनियोग न करने की एक निम्नतम सीमा होती है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना भी भूखा क्यों न हो रेल की टूटी पटरियां नहीं खा सकता है। (3) इसी प्रकार इन्होंने एक जनसंख्या वृद्धि समीकरण[3] (Population Growth Equation) प्रतिपादित किया है। जिसमें निम्न स्तरीय प्रति व्यक्ति आय वाले क्षेत्रों मे अल्पकालीन परिवर्तन या वृद्धि, मृत्यु-दरों के कारण उत्पन्न होता है, जो कि प्रति व्यक्ति आय पर निर्भर करता है। उच्च स्तरीय जीवन में मृत्यु दर प्रभावहीन सा रहता है।

नेल्सन का मत है कि यह अवरोध की व्यवस्था निम्न स्थिति में सम्भव हो पाती है-(1) प्रति व्यक्ति आय के स्तर तथा जनसंख्या वृद्धि दर में गहरा सह-संबंध है। (2) प्रति व्यक्ति आय की क्षमता प्रति व्यक्ति विनियोग में वृद्धि लाने के लिए कम होती है, (3) बिना जुती हुई भूमि की दुर्लभता है, तथा (4) उत्पादन विधियां की अकुशलता। किसी भी अविकसित देश में इनको पाया-जा सकता है।

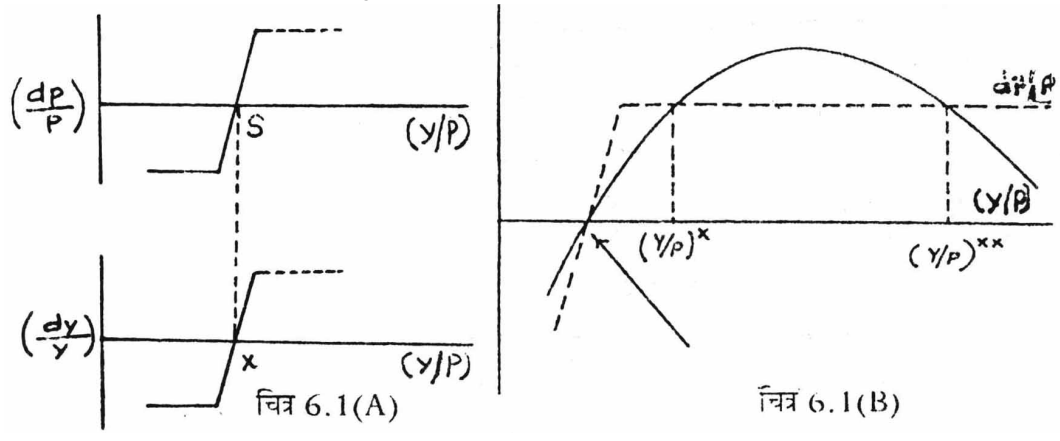

चित्र 6.1(A) चित्र 6.1(B)

1. Leibenstein, Economic Backward and Economic Growth, New York, 1979.
2. R.R. Nelson, A theory of Low-Equilibrium Trap, A.E.R, Dec. 1956, 894-908.
3. “In areas…. The Y/P axis” - B. Higgins-Eco. Dev, pp. 395-397.

उपर्युक्त चित्र में (dp/p), (dy/y) तथा (y/p) क्रमश: जनसंख्या वृद्धि दर आयु वृद्धि दर तथा प्रात व्यक्ति आय को दर्शाते है। किसी भी जीवन निर्वाह स्तर पर वहां कि (dp/p) तथा (dy/y) वक्र एक दूसरे को काटते हैं, स्थिर संतुलन प्राप्त होगा, इस समय प्रति व्यक्ति आय (y/p) होगा। आय मे वृद्धि के किसी भी प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप जनसंख्या में तेज वृद्धि होगा जिससे कि अर्थव्यवस्था पुन: निचले बिन्दु s पर संतुलन में आ जाएगा। इस प्रकार इस अवरोध (trap) से राहत पाने के लिए लिबिन्स्टीन की ही भांति जनसंख्या वृद्धि दर से आय वृद्धि दर तीव्र होनी चाहिए। यदि इस प्रकार की वृद्धि से (य/p)^{x} प्रति व्यक्ति आय की व्यवस्था तक आसानी से पहुंचा जा सके तो बिना किसी सरकारी प्रयत्न के स्थिर साम्य बिन्दु (y/p)^{xx} तक उट्टसानी से पहुंचा जा सकता है।

अत: बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण अर्थव्यवस्था में उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है और प्रति व्यक्ति आय घटने लगती है, जो कि आगे के चित्र 6.1.c से स्पष्ट है।

(1) जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ यदि प्राविधिक उन्नति (Technological Advancement) होती रहे, जो जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होगी और प्रति व्यक्ति आय ML वक्र के पथ पर चलेगा तथा अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार की विशिष्ट स्थिति उत्पन्न न होगी।

(2) किन्तु किसी भी प्रकार की प्राविधिक उनति की अनुपस्थिति में यह पथ MR होगा, जो कि क्रमश: समान प्रवृत्ति का द्योतक है।

(3) इसी प्रकार PP_1 जनसंख्या वृद्धि की अवस्था में प्राविधिक उन्नति के साथ प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि K_2 K_2 के बराबर होगी अर्थात PM से बढ़कर P_1K_2 के बराबर होगी अर्थात PM से बढ़कर P_1K_2 हो जाएगी। किन्तु यदि किसी भी प्रकार की प्रार्विधिक उन्नति नहीं हो रही है तो प्रति व्यक्ति आय PM से घटकर P_1K_1 रह जायेगी अर्थात इसमें कमी K_1 K_3 के बराबर होगी।

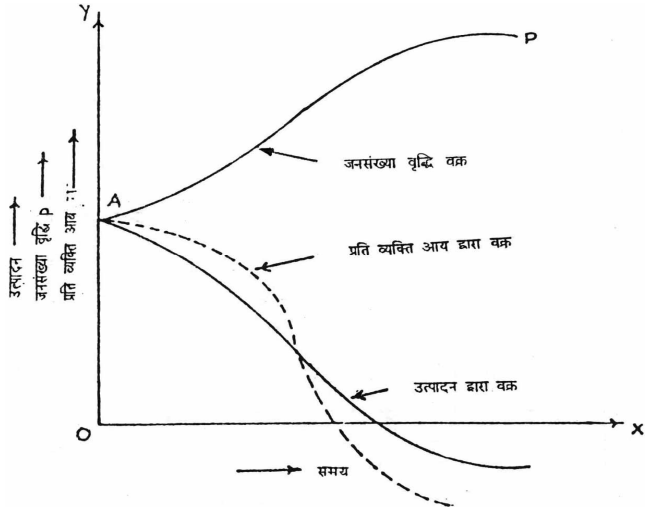

चित्र 6.1 C

प्रो० बो दत्त ने अपनी पुस्तक (The Economics ऑफ Industrialization के पृष्ठ 56) में लिखा है कि-"पूंजी संचय तथा प्राविधि के एक ऊँचे और बढ़ते हुए स्तर पर बढ़ती हुई जनसंख्या वास्तविक उत्पादन का इसके सम्भावित स्तर पर

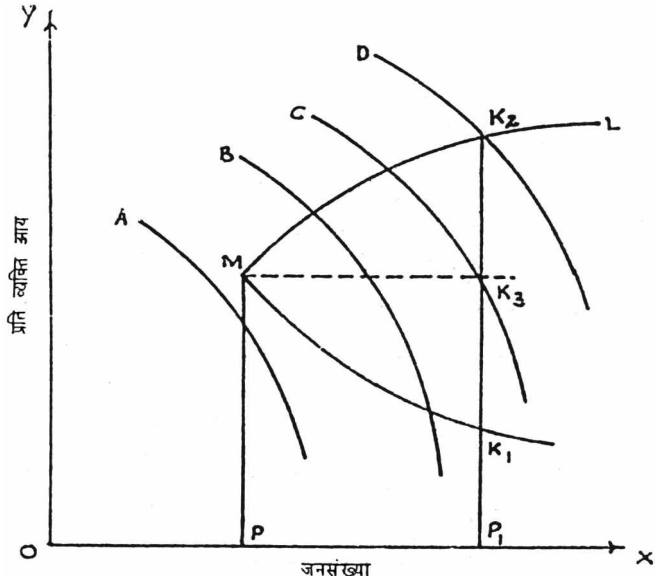

चित्र 6.2

अथवा उसके आसपास बनाये रखने में सहायता कर सकती है, और घटती हुई उन दोनों के मध्य अन्तर को बढ़ा सकती है। किन्तु दूसरी ओर बढ़ती हुई जनसंख्या की दशा में प्राविधिक उपलब्धियों का बढ़ता हुआ स्तर और पूंजी संचय में तीव्र होना आवश्यक है। यदि इन दोनों में वृद्धि नहीं हुई तो

तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या एक खतरा है और तब किसी भी आर्थिक नीति को जनसंख्या नियन्त्रण नीति से संयुक्त करना आवश्यक हो जायेगा।"

प्रो० कोल एवं हूवर ने भी किसी निश्चित प्रति व्यक्ति आय को बनाये रखने के लिए बढ़ती हुई जनसंख्या वृद्धि की दशा में अधिक विनियोग दर की आवश्यकता को अनुमोदित किया है। अविकसित अर्थव्यवस्थाओं की स्थिति में विनियोग के स्तर को प्रचुर मात्रा में नही बढ़ाया जा सकता है।

क्योंकि इन देशों में कोई भी तरीका विनियोग का स्पष्ट नहीं होता है। तीव्र जनसंख्या वृद्धि-दर के फलस्वरूप, जबकि पूंजी की पूर्ति बेलोचदार है, अधिक विनियोग आवश्यक हो जाता है, जो कि श्रमिको को प्राप्त सुविधाओं को दुगुना करके किया जा सकता है।

इनका मत है कि 1930 में व्याप्त आर्थिक स्थिरता (Economic Stagnation) का भी कारण प्रचुर मात्रा में विनियोग की कमी हैं, जो कि कभी-कभी जनसंख्या में वृद्धि-दर की कमी का परिमाण है। किन्तु यह तर्क केवल विनियोग प्रवृत्ति की कमी की दशा में ही लागू होता है। अर्थात कीन्स की शब्दावली में जब पूंजी की सीमान्त क्षमता (Marginal Efficiency of Capital) नीचा हो। पूर्णरुपेण औद्योगीकृत राष्ट्रों में मंदी की दशा में भी जनसंख्या वृद्धि उच्च विनियोग के लिए उत्प्रेरक का कार्य करती है। जनसंख्या वृद्धि-दर के प्रति व्यक्ति उत्पादन के प्रभाव को दो प्रमुख दशाओं में विश्लेषित किया जा सकता है। प्रथम कीन्स का मत था कि उस अर्थव्यवस्था में जहां अपेक्षाकृत आय अधिक है तथा जिसमें पूंजीगत वस्तुओं तथा श्रमिकों की पूर्ण रोजगार की समस्या सतत् बनी रहती है, पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए (पूंजीगत वस्तुओं की मांग में वृद्धि के माध्यम से) उत्प्रेरक का कार्य करेगी जिसका परिणाम देश में आय में वृद्धि होगी। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में पूंजीगत वस्तुओं की मांग में वृद्धि जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के द्वारा की जा सकती है। दूसरी प्रकार की अर्थव्यवस्था जिसमें पूंजी की पूर्ति की कमी है तो भी प्रभावपूर्ण मांग की कमी नहीं हैं। उपभोग की अपेक्षा बचत विनियोग के माध्यम से आय वृद्धि में अधिक सहायक होगा।

दूसरे अर्थव्यवस्था में, जहां प्रभावपूर्ण मांग की समस्या नहीं है। (अर्थात या तो है ही नहीं या सरकारी प्रयत्नों के द्वारा सुलझाया जा चुका है) जनसंख्या में तीव वृद्धि के कारण प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ाने के लिए पूंजी की मात्रा में कमी आ जायेगी तथा प्रति व्यक्ति आय गिरेगी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कीन्स का मत था कि दीर्घकालीन स्थैर्य (Secular Stagnation) से बचने के लिए जनसंख्या की तीव्र विकास दर लाभकारी है जो कि नीचे दिए चक्र से स्पष्ट होती है -

प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि → पूंजीगत की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि → अधिक पूंजी निर्माण तथा विनियोग → रोजगार उत्पादन व आय में वृद्धि → प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि → अधिक उत्पादन → उद्योग की वर्तमान क्षमता का पूर्ण शोषण → जनसंख्या की तीव्र वृद्धि दर → प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि

प्रो० हैन्डरसन के अनुसार "घटती हुई जनसंख्या विकसित देशों के विकास को रोक सकी है।" इसी प्रकार के विचार प्रो० मिर्डल, ए० के भी हैं- "विकासोन्मुख-पूंजीवादी प्रणाली में बढ़ती जनसंख्या विकास की

प्रथम अनिवार्यता है, घटती हुई जनसंख्या से विनियोजन का जोखिम बढ़ जाता है।" किन्तु ये सभी तर्क विकसित अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। अविकसित देशों के सन्दर्भ में वह तर्कसंगत नहीं है।

6.3.3 प्रति व्यक्ति आय पर जनसंख्या की आयु संरचना का प्रभाव (Effect of Age Structure of Population on Per Capita Income)

प्रत्येक देश की कार्यशील जनसंख्या (Working Population) की मात्रा, जो कि प्राय: 15 से 64 वर्ष तक के आयु वाले लोगों के द्वारा निर्मित होती है, वहां की राष्ट्रीय आय का निर्धारक तत्व माना जाता है। देश की आर्थिक प्रगति कार्यशील जनसंख्या के ऊपर निर्भर कहती है। किसी भी देश की कार्यशील जनसंख्या उस देश की मृत्यु-दर, जन्म दर आदि पर निर्भर करती है। मृत्यु-दर से प्रभाव को केवल उसी समय (कार्यशील जनसंख्या पर) देखा जा सकता है जबकि जनसंख्या में देश से बाहर साम्य है। जन्म-दर के प्रभाव को प्रो० एन्सले जे० कोल[2] के मतानुसार तीन शीर्षकों - (1) आश्रितों का भार (Burden of Dependency) (2) श्रमशक्ति में वृद्धि-दर (Growth Rate of Labour Force) (3) जनसंख्या का घनत्व (Density ऑफ Population) में अध्ययन किया जा सकता है। इन तीनों ही तथ्यों के द्वारा प्रति व्यक्ति आय पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन हम अगले खण्डों में करेंगे। इन तीनों ही शीर्षकों के प्रभाव को जनसंख्या के वितरण-खंड के अन्तर्गत किया जा रहा है।

(अ) मृत्यु-दर का प्रभाव-मृत्यु-दर किसी भी देश की कार्यशील जनसंख्या हो सामाजिक एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टिकोणों से प्रभावित करती है।

सामाजिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो भी कम मृत्यु दर के फलस्वरूप मृत्यु से उत्पन्न दु:खों, यातनाओं आदि में कमी आती है, लोगों के कार्यकाल में वृद्धि होती है। ज्यादा मृत्युओं के कारण ज्यादा लोग संस्कारों में करीब-करीब तेरह दिनों का कार्यकाल अनुत्पादक कार्यों में करने में व्यतीत करते है, जिससे भी राष्ट्रीय उत्पादन में कमी होती है चाहे यह कमी कितनी ही कम क्यों न हो पर इस प्रकार से भी श्रम कुछ दिनों तक बेकार रहता है। दूसरे, इन संस्कारों में यदि देखा जाए तो बेकार में शोकग्रस्त परिवार को कुछ धन व्यय करना पड़ता है जो पुन: उत्पादक नही कहा जा सकता है। इस प्रकार से नीची मृत्युदरों से समय, धन, श्रम आदि सभी चीजों की बचत होती है।

मृत्यु-दर के आर्थिक प्रभावों के स्पष्टीकरण के लिए हमें उस देश की विशिष्ट मृत्युदर के बारे में ज्ञान होना आवश्यक है। यदि देश में शिशु-मृत्यु दर कम है, तो आने वाले 20 वर्षों में कार्यशील जनसंख्या में वृद्धि एक निश्चित अनुपात में होगी। यद्यपि इससे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में पहले तो कमी होगी, फिर वृद्धि होगी। इसी प्रकार जन-स्वास्थ्य, आश्रितों के बढ़ते भार से गिरेगा। दूसरी तरफ यदि वृद्धि तथा अवकाश प्राप्त लोगों की मृत्यु अधिक हो रही है तो देश में आर्थिक समृद्धि बढ़ेगी। इसके कारण आश्रितों का भार प्रति परिवार घटेगा। जबकि आय स्थिर रहेगी, तो प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी। इसी प्रकार यदि देश में मृतकों की संख्या, जिनकी आयु (15-64) वर्ष के बीच है, अधिक है, अर्थात कार्यशील जनसंख्या मृत्युदर अधिक है तो राष्ट्रीय उत्पादन के गिरने से प्रति व्यक्ति आय घटेगी, पर इसमें घटी तीव्र न होगी, क्योंकि आय के साथ-साथ जनसंख्या भी घटती है। प्रजननता (Child Bearing Age 15-49) वर्ष की आयु की स्त्रियों की मृत्यु अधिक होने से जनसंख्या वृद्धि दर में कमी आयेगी तथा यह कमी करीब-करीब 15 से 25 वर्षो मे प्रभावित करेगी। स्त्री मृत्यु-दर का प्रभाव किसी देश

में देर से पाया जाता है। अतः आर्थिक दृष्टि से सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार के उपाय जो कि मृत्यु-दर में कमी लाने के लिए किये जाते है, वे कार्यशील जनसंख्या के स्वास्थ्य में भी सुधार करते है, जिससे उनकी अनुपस्थिति, कमजोरी, थकावट आदि में कमी आती है। तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन व आय में वृद्धि होती है।

इतना ही नहीं मृत्यु-दर में कमी से कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि होती है। तथा बच्चों की संख्या (या आश्रितों की संख्या में) कमी आती है। इसी प्रकार विवाहित पुरुषों की मृत्यु-दर अधिक होने से विधवाओं की संख्या में वृद्धि होती है। जिसके भरण-पोषण का भार परिवार पर पड़ता है। यहां पर यह कहना उचित ही होगा कि कार्यशील जनसंख्या की वृद्धि (मृत्यु दर से कमी के कारण) से विवाह दर में वृद्धि के फलस्वरूप जन्म-दर (अर्थात आश्रितों की संख्या) बढ़ेगी। जो कि एक-दूसरे को समायोजित कर देगा और राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर भी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि नहीं होगी।

(ब) जन्म-दर का प्रभाव-उच्च प्रजनन किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के विकास में कई प्रकार के अवरोध उत्पन्न करता है। इससे देश की जनसंख्या में कार्यकारी जनसंख्या का अनुपात, आश्रितों के अनुपात से कम होता है। इससे विनियोग की मात्रा कम होगी। यदि दो देश, जिनकी आय तथा कार्यकारी जनसंख्या समान है, की तुलना करें तो हमें मिलेगा कि कम प्रजनन-दर वाले देश में आश्रितों को संख्या कम होने के कारण बचत-क्षमता (Saving Capacity) अधिक है। यही बचत विनियोग के रूप में लगकर अगले वर्ष का राष्ट्रीय आय में वृद्धि करती है, जिससे प्रति व्यक्ति; आय में वृद्धि होती है। इसी बढ़ी हुई आय से पुन: बचत की मात्रा बढ़ती है। इस प्रकार विनियोग आय-वृद्धि की यह चक्र बराबर चलता रहता हैं।

प्रो० एन्सले, जे० कोल तथा ई० हूवर ने भारत की कार्यशील जनसंख्या पर जन्म-दर के पड़ने वाल प्रभावों को इस प्रकार: अनुमानित किया है। इनका मत है कि यदि भारत की जन्म-दर में 1957 तथा 1986 के बीच 50% की कमी हो जाये तो (15-64) वर्ष की आयु-वर्ग की जनसंख्या में केवल 8% की कमी उस दशा की तुलना में होगी जबकि प्रजनन-दर तीस ठर्षों तक स्थिर रहने, पर होती। इसका अपना मत है कि जन्म-दर श्रम की मात्रा तथा जनसंख्या में आयु वितरण को प्रभावित करता है। विकासशील देशों में प्रजनन-दर में कमी का प्रभाव श्रम की मात्रा पर लगभग 25 वर्षों तक नहीं के बराबर होता है। प्रजनन-दर की कमी के कारण आश्रित बच्चों की संख्या कम होती है, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है। किन्तु इस प्रकार अच्छे उपयोग का प्रभाव श्रम तथा श्रम की कार्य-कुशलता में वृद्धि करेगा।

कोल तथा हूवर की भांति डा॰ जार्ज सी० जैदान (Dr. G.C. Jaidann) ने भी यह माना है कि यदि अविकसित देशों में 25 वर्षो में जन्म-दर 50% कम हो जाये और उसके बाद जन्म-दर को स्थिर रखा जाये तो इस अर्थव्यवस्था में निवासियों के रहन-सहन पर प्रभाव पड़ेगा।

अब हम उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय में स्थिर जनसंख्या कार्यालय के अध्ययन को देखेंगे। इसमें जनसंख्या की बनावट तथा आर्थिक विकास पर प्रजननता ह्रास के प्रभाव को दर्शाया गया है। अब मान लीजिए कि किसी विकसित देश की जनसंख्या 1000 है । तथा प्रक्षेपण (अ) में प्रजनन-दर यथा स्थिर है, जबकि प्रक्षेपण (ब) में लगभग 25 वर्षों में प्रजनन दर 50% कम हो जाती है। और उसके बाद यथास्थिर हो जाती है। प्रारम्भिक जनसंख्या एक मिलियन है। इस

जनसंख्या की प्रारम्भिक जन्म-दर 44 तथा मृत्यु दर 14 प्रति हजार है। जिसके फलस्वरूप जनसंख्या प्रतिवर्ष 3 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। तथा औसत जीवन प्रत्यासा 53 वर्ष तथा सम्पूण मातृत्व काल में एक स्त्री को 6 बच्चे पैदा होते है। और इस प्रकार की आशा की जाती है कि आने वाले 30 वर्षों में औसत आयु 70 वर्ष के करीब हो जायेगी, जिससे कि मृत्यु-दरों में जन-स्वास्थ्य सेवाओं की वृद्धि एवं सुधार के कारण कमी होती जा रही है। यह सभी मान्यताएं दोनों ही प्रक्षेपणों के लिए लागू होती है।

तालिका 6.3

एक अर्द्ध-विकसित देश का जनसंख्या-प्रक्षेपण

(Projection of Population of an Underdeveloped Area)

आयु-वर्ग /वर्ष	0	10	20	30	40	50	60	150
0-1	454	616	870	1261	1840	2655	3848	110,700
(अ) 14-64	535	718	996	1406	2003	2901	4204	120,800
65	32	43	65	90	132	180	245	14,000
योग	**1000**	**2377**	**1931**	**2767**	**3975**	**5736**	**8297**	**246,500**
0-1	4.34	567	677	676	683	901	994	3014
(ब) 14-64	534	718	985	1287	1573	1860	2181	6613
65	32	43	65	90	132	188	245	850
(बी) योग	**1000**	**1328**	**1687**	**2053**	**2488**	**2950**	**3420**	**10477**

स्रोत- एस. सी. श्रीवास्तव जनांकिकी के प्रारूप, p.624

उपर्युक्त दोनों ही प्रक्षेपणों में अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनों ही दशाओं में जनसंख्या के गुणात्मक पहलू का अध्ययन किया जायेगा। प्रथम 25 से 30 वर्षों में आश्रितों के भार में दोनों ही पक्षेपणों में पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है। दोनों में ही यह अन्तर प्रसार-पूर्ण है इस अन्तर के फलस्वरूप कार्यशील जनसंख्या में (जनसंख्या के कारण) पर्याप्त अन्तर आने लगता है और यह अन्तर उस समय बढ़ ही जाता है जब तक कि इनमें स्थैर्य न आ जाये। इस प्रकार अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों ही दशाओं में जनसंख्या के आयुवितरण में पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है। मध्यकालीन स्थिति में श्रम की संख्या पर भू पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। किन्तु दीर्घकाल में श्रमघनत्व में पर्याप्त अन्तर आ जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में उच्च प्रजननता वाली जनसंख्या की अपेक्षा निम्न प्रजननता वाली जनसंख्या में आश्रितों के भार में कमी आती है। यह लगभग 30 वर्ष की अवस्था तक अधिकतम पर स्थिर हो जाता है। इसके फलस्वरूप मध्यकाल में दोनों की श्रमशक्ति में अन्तर आने लगता है जो कि लगभग 70 वर्ष में स्थिर हो जाता हैं। इस प्रकार श्रम शक्ति के अन्तर के फलस्वरूप दोनों ही देशों की आर्थिक स्थिति में अन्तर आने लगता है। अत: अधिक प्रजननता वाली जनसंख्या में प्रति व्यक्ति आय में कमी आने लगती है।

प्रजननता दर के इस कमी के कारण धीरे-धीरे लाभ होने लगता है। प्रारम्भ में यह लाभ नाम मात्र की है, परन्तु 30 वर्षों के पश्चात यह 40% हो जाता है। 60 वर्ष के पश्चात तो यह लाभ 100%

से भी अधिक हो जाता है परन्तु 150 वर्ष बाद तो इस घटी प्रजननता वलि जनसंख्या की आय में समान गति से चलती रहने वाली प्रजनन शक्ति की जनसंख्या से 6 गुनी वृद्धि हो जायेगी।

किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार प्रजननता में कमी राष्ट्र के औद्योगीकरण के साथ-साथ स्वत: आने लगती है। केवल राष्ट्र को शीघ्रातिशीघ्र औद्योगिक बनाने की आवश्यकता है। किन्तु

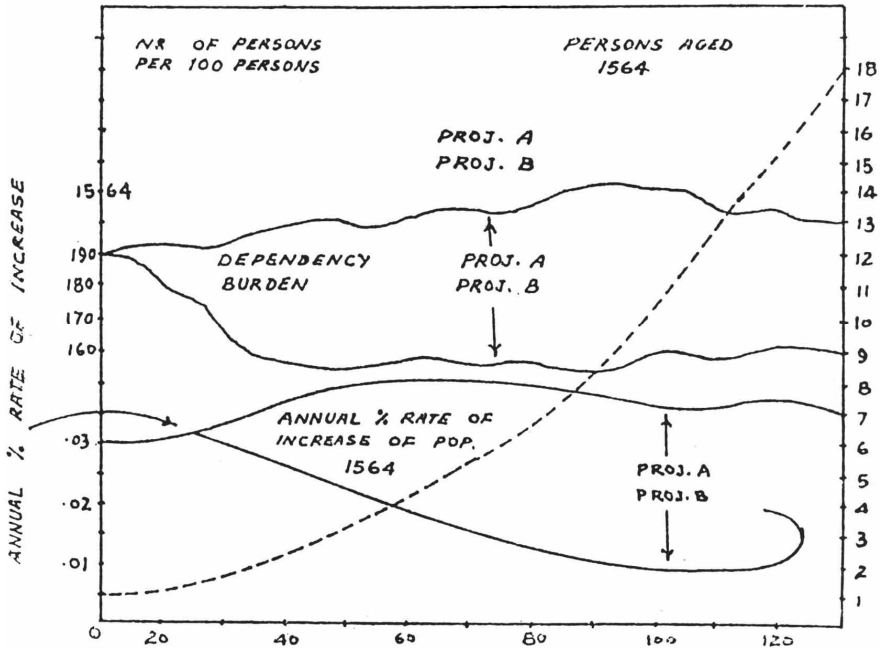

चित्र 6.4 स्रोत-एस.सी श्रीवास्तव, जनांकिकी p.625

विकासशील राष्ट्रों में प्रजननता को समान स्तर पर रख कर भारी विनियोग सम्भव नहीं है जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि नहीं हो सकती है।

6.4 जनसंख्या वृद्धि का अन्य आर्थिक चरों पर प्रभाव

6.4.1 जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्य पूर्ति (Population Growth and Food Suppy)

जनसंख्या वृद्धि तथा खाद्य पूर्ति के संबंध में माल्थस के मत को आप देख चुके है। साथ ही साथ आपने यह भी देख लिया है कि 25 वर्षों के अन्तराल पर सीमित भूमि पर बढ़ते हुए जनसंख्या भार के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति खाद्य सामग्री में किस प्रकार कमी आती जाती है। इसी संदर्भ में आज भी यह देखा जाए तो स्पष्ट है कि खाद्य एवं जनसंख्या वृद्धि की दर में किसी प्रकार की समता नहीं हें और यही असमानता सम्पूर्ण विश्व को भूख की ज्वाला में जलाती जा रही है। प्रो० ज्ञानचन्द के अध्ययन के अनुसार 1900 ई० से 1934 ई० के बीच जहां भारत की जनसंख्या में 21% से वृद्धि हुई वही कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में 11% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार एक अन्य विद्वान श्री पी. के. वादल के अनुसार 1913-14 से 1934-35 के बीच जनसंख्या में प्राय: प्रतिवर्ष औसत रूप से 1% की वृद्धि हुई किन्तु खाद्यानों के उत्पादन में केवल 0.65% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुमान के अनुसार वर्तमान प्रजनन दर तथा 9% की वार्षिक आय की वृद्धि के कारण 1980 तक इन विकासशील देशों की जनसंख्या में 78% वृद्धि होगी एवं खाद्यान्नों की मांग में 118% की वृद्धि होगी। यदि आय

में 3% वृद्धि मानी जाये जो खाद्यान्नों की मांग में 238% वृद्धि होगी। भारतीय योजना आयोग के शब्दों में "हमरी खाद्य समस्या का प्रमुख कारण खाद्यान्न की मांग तथा पूर्ति का तत्कालीन असन्तुलन नहीं वरन् देश में खाद्यान्न की तुलना में जनसंख्या में निरन्तर अत्यधिक वृद्धि है।" विश्व खाद्य संस्था के महानिदेशक श्री ए. एच. बोरमा के शब्दों में - "अगर आबादी की बाढ़ को नियन्त्रित न किया गया तो पर्याप्त भोजन मुहैया करने की सभी आशाएं धूल में मिल जायेगीं।" इसी प्रकार विश्व खाद्य समस्या के बारे में तथाकथित विशेषज्ञ का विचार किसी को भी आश्चर्यचकित करने के लिए पर्याप्त होगा - "कालान्तर में मनुष्य को सभी जीवकोषीय पदार्थों की बड़ी कुशलता से उत्पादन करने के लिए जल और थल के सभी स्रोतों एवं साधनों को संगठित करना होगा क्योंकि यही एकमात्र उपाय है जिससे वह खाद्य की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि की उम्मीद कर सकता है।"

जनसंख्या का सबसे प्रमुख प्रभाव असन्तुलित भोजन की समस्या है। खाद्य समस्या पूर्ण अभाव की है। लेकिन असमान वितरण के कारण यह और उग्र हो गई है। दुनिया में जितना खाद्य उपलब्ध है, आज यदि उसे बराबर-बराबर बांट दिया जाये तो सभी लोग पोषक तत्वों के अभाव से पीड़ित नजर आएंगे। जोफ स्टान्सबरो के अनुसार इस समय दुनिया में 14 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की संख्या एक अरब है। इनमें से 60 करोड़ तो कभी भी वयस्क नहीं हो सकेंगे। वे विभिन्न प्रकार से काल कवलित होंगे, लेकिन उनकी मृत्यु का मुख्य कारण होगा कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन नहीं मिला। उनकी जिन्दगी की लौ जब तक टिमटिमाती है तब तक वे भूखे सोते, भूखे जागते तथा तमाम दिन भूख से संघर्ष करते रहते है। जैसा कि खाद्य वेज्ञानिक जार्ज ए० बोर्गस्ट्राम ने कहा है- "यह इन्सान की सबसे भयंकर विपत्ति है कि अधिकांश बच्चों की जिन्दगी मौत का भयंकर इन्तजार करने के अलावा और कुछ नहीं।

इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) का मत है कि कुपोषण का प्रभाव 5 वर्षो की आयु तक बुरी तरह प्रभावित करता है। इनका अनुमान है कि विकासशील देशों में आज 5 वर्ष से कम उम्र के 10 मिलियन बच्चे तीक्ष्ण कुपोषण 60 मिलियन सामान्य कुपोषण तथा 120 मिलियन गुप्त एवं सामान्य कुपोषण से प्रभावित है। इस प्रकार लगभग समस्त शिशुओं का 50% किसी न किसी प्रकार के कुपोषण से प्रभावित है जो निश्चित रूप से इनकी अकाल मृत्यु का कारण बनेगा। इसी प्रकार तृतीय विश्व खाद्य सर्वेक्षण का मत है कि लगभग 20% लोगों को पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता तथा 60% लोगों को सही प्रकार का भोजन नहीं मिलता। विश्व बैक के अध्यक्ष राबर्ट मैकनमारा का मत है कि विश्व में 100 मिलियन गरीब लोग है जो किसी न किसी प्रकार की कुपोषणता से प्रभावित है तथा जो न आर्थिक विकास में सहायक होते है ओर न ही इसके लाभ में बराबर का हिस्सा बँटाते है तथा जो अशिक्षा, कुपोषण रोग, ऊँची शिशु मृत्यु दर तथा नीची जीवन आकांक्षा से युक्त है। कुपोषण से आज विश्व की 1.2 मिलियन जनसंख्या जो 15 वर्ष से कम उम्र की हैं, पीड़ित है।

इसके अतिरिक्त प्रो० सुखात्मे ने अल्पविकसित एवं विकसित देशों में प्रतिदिन प्राप्त कैलोरी तथा आवश्यक कैलोरी का उल्लेख किया है जिसके अनुसार अल्पविकसित देशों में 17% तथा विकसित देशों में 120% कैलोरी शक्ति प्राप्त है। प्रोटीन आपूर्ति का प्रतिशत प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 193 तथा

303 है। ऐशिया तथा सुदूरपूर्व देशों में यह प्रतिशत क्रमश: 94 तथा 185 है जो विकसित देशों की तुलना में बहुत कम इसी प्रकार भारत में बिहार तथा मद्रास में हुए गृह सर्वेक्षणों में यह बात सामने आती है कि 17 तथा 49% घरों में पर्याप्त कैलोरी का अभाव है। प्रोटीन की मात्रा इन राज्यों में 5 तथा 34% है। इसके अलावा बहुत से ऐसे घर है जिनमें प्रोटीन तथा कैलोरी दोनों का ही सर्वथा अभाव है।

आज जनसंख्या का प्रभाव अपर्याप्त एवं असन्तुलित भोजन के रूप में विकासशील देशों में व्याप्त है। भरपेट भोजन यदि मिल भी जाये तो मनुष्य के निम्नतम पौष्टिक तत्वों को पूरा नहीं कर पाता। आज प्रोटीन, विटामिन आदि पोषक तत्वों के अभाव में तरह-तरह के रोग बचपन में ही हो जाते है जिसके कारण किसी भी देश श्रम-शक्ति में निरंतर ह्रास होता है। पोषक आहार की कमी के अन्य भी कई बड़े कारण स्पष्ट देखे जाते है जो कि किसी भी देश के आर्थक स्तर पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अपना प्रभाव डालते रहते है इसके अभाव में शारीरिक उत्पादकता तथा रोग-निरोध की क्षमता घटती जाती है जिससे अनुपस्थिति बढ़ जाती है। इसकी कमी से शरीर का विकास स्थायी रूप से रुक जाता है। कई विकासशील देशों में बारह साल की उम्र वाले बच्चों का औसत कद यूरोप के आठ साल के बच्चों के औसत कद के बराबर होता है। पोषक आहार के भारतीय विशेषज्ञ डा0 सी0 गोपालन के अनुसार इस देश के देहाती इलाकों के रहने वाले 80 प्रतिशत बच्चे पौष्टिक आहार की कमी के कारण बौनेपन के शिकार है। इसी प्रकार अमेरिकी विशेषज्ञ डा0 नेविन एस0 स्किमशा का मत है कि जीवन के पहले क्षणों में इसकी कमी से जीवन का विकास रुक जाता है तथा कभी-कभी तो बच्चा बदशक्ल हो जाता है। इसी प्रकार पौष्टिक आहार न मिलने से होने वाली बीमारियों के इलाज पर होने वाले खर्च के मुकाबले शुरू में ही आवश्यक पौषक तत्वों की व्यवस्था करना सस्ता होता है। बर्ग ने एक अनुमान का उल्लेख किया है : "गवाटेमाला में पौष्टिक आहार न मिलने के कारण होने वाले रोगों से पीड़ित हर रोगी को 90 दिन तक अस्पताल में रखने पर कुल 800 डालर तक खर्च बैठता है जबकि आहार में पौष्टिकता के अभाव को दूर करने पर साल भर का खर्च 7 से 10 डालर से अधिक नहीं होता है।" इसी प्रकार कुछ साल पूर्व फिलीपीन सरकार ने उत्पादन की हानि, श्रम-शक्ति की हानि और चिकित्सा तथा अंत्येष्टि पर होने वाले खर्च के आधार पर कुल हानि का जोड़ लगाने की कोशिश की थी। उसने हिसाब लगाया कि अकेले बेरी-बेरी से प्रतिवर्ष एक करोड़ दस लाख डालर को हानि होती है - यह हिसाब सिर्फ बेरी-बेरी के उन रोगियों के आधार पर लगाया गया जिनकी सरकार को जानकारी मिली।

अपौष्टिक आहार से न केवल शारीरिक विकास में कमी आती है बल्कि इससे मस्तिष्क के विकास में भी अवरोध उत्पन्न हो जाता है। कुछ मामलों में तो फिर उसे किसी तरह विकसित करना संभव नहीं होता। मानव पर आने वाली जो मुसीबतें उत्पादकता में गिरावट के जिम्मेदार हैं, उनमें से शायद यह सबसे विशाल, सबसे अधिक भयंकर और ऐसी है जो अन्य आपदाओं के मुकाबले सबसे अधिक स्थाई हैं। मस्तिष्क को स्थाई क्षति पहुंचने के प्रभाव यद्यपि अब तक प्रयोगशालाओं में पशुओं पर किए गए परीक्षणों तक सीमित है तथापि वैज्ञानिक इससे मानव मस्तिष्क पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का निर्णायक रूप से पता लगा सकने में सफल हो गए है। इस क्षेत्र के विशेषज्ञों में डा0 नेविल एस0 स्किमाशा-अध्यक्ष, पोषक तत्व एवं खाद्य विभाग, मेसाचेसेट्स टेक्नोलाजी इंस्टीट्यूट, डा0 एच0 एफ0 इकेन्वाल्ड तथा डा0 पी0 सी0 फ्राई विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका मत है कि इसकी कमी (पोषकता

की कमी) से दिमाग के स्थाई रूप से अविकसित रह जाने का खतरा है। इससे "विभाग के विकास को आघात पहुंचने के साथ-साथ कद का बढना भी जिस तरह रुक जाता है, उसके कारण आज 25 करोड़ से भी अधिक बच्चे खतरे में है।"

विकासशील दर्शा में गर्भवती एवं दूध पिलाने वाली माताओं में कुपोषक तत्व की कमी के दोहरे दुष्परिणाम देखने को मिलते है। एक तो माता का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जाता है और दूसरे बच्चे का मानसिक विकास रुक जाता है और यह कमी जीवन भर किसी प्रकार के भोजन से पूरी नहीं की जा सकती हैं। मैनचेस्टर विश्वविद्यालय के जॉन डविंग तथा जीन सेण्डर्स के 150 बच्चों के 7.2 वर्ष आयु तक के परीक्षणों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि बच्चे के मस्तिष्क का विकास गर्भ स्थिति के 10 सप्ताह से जन्म के दो वर्ष (From 10 Weeks Gestation to 2 Yrs. Age) तक की आयु में होता है। इस समय किसी भी प्रकार के पोषक तत्व कमी का तुरन्त एवं दीर्घकालीन प्रभाव बच्चें के मानसिक विकास पर पड़ता है। यही वह समय है जबकि मस्तिष्क बड़ा ही सूक्ष्मग्राही होता है तथा किसी प्रकार की कमी आसानी से दिखाई पड़ जाती है। डॉ0 रोजर लेविन ने ब्रिटिश मैगजीन न्यू साइन्टिस्ट में अपने लैब "गरीबी के दोहरे मानसिक दुष्परिणाम" (poverty's Double Trap for the Brain) में लिखा है कि खाद्य एवं परिप्रेक्षीय उत्प्रेरण का अभाव (Food Deficiency and Lack of environmental stimulation) मस्तिष्क के विकास को बहुत अंशों तक प्रभावित करते है। इनका मत है कि मस्तिष्क का विकास दो अवस्थाओं में होता है - एक 10 से 18 सप्ताह गर्भ स्थिति में (10 to 18 Weeks of Gestation) जिसमें कोष (Cell) विकसित होता है। दूसरे 20 सप्ताह से जन्म के दो वर्ष तक (20 Weeks of Gestation to two years after birth) जिसमें कोषें तथा स्नायु तन्तुओं का आपस में संगठन होता है। इस प्रकार मस्तिष्क का विकास काल 10 सप्ताह से 2 वर्ष तक की आयु का है जिसमें बच्चा माँ पर भोजन के लिए पूर्णरूपेण आश्रित रहता है। इस अवधि में माता का किसी प्रकार कुपोषण बच्चे के मानसिक विकास को जीवन भर के लिए प्रभावित करता है। डार्विग ने इस अवधि में कुपोषण के द्वारा मानव मस्तिष्क के आकार तथा वजन में 25% की कमी पाई है। डॉ0 ब्रेग को भी इसी प्रकार के प्रकार के परिणाम मिले है। डॉ0 एडोल्फ सेवेज के मेक्सिको तथा लिनियरडो सिनिस्टेरा के कोलम्बिया के गाँवों में किए गए बच्चों के परिश्रम तथा पोषक तत्वों की कमी के परिणाम से इनकी सीखने की क्षमता, स्मरण शक्ति तथा अनुकरण करने की आदत पर पड़ता है। इन तथ्यों की प्रमाणिकता जैक्विन क्रेवियटो, रिचर्डसन आदि के परिणामों से सिद्ध हो जाती।

अतः इन वेज्ञानिक एवं सामाजिक अनुसंधानों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जहां एक ओर तमाम शारीरिक रोग पाए जाते है, वहीं दूसरी ओर इसका अल्प आयु में मस्तिष्क पर पड़ने वाला भयंकर प्रभाव भी कम नहीं है। अतः पोष्टिक तत्वों तथा पर्याप्त भोजन के अभाव से किसी भी देश के विकास में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इससे श्रम-शक्ति में कमी, शारीरिक उत्पादकता में कमी, रोग-निरोधक क्षमता में कमी के कारण स्वास्थ्य सेवाओं पर अधिक व्यय एवं अनुपस्थिति में वृद्धि होती है जो प्रगति के लिए बाधक है। यही नहीं कुपोषण का दीर्घकालीन प्रभाव बढ़ते हुए पारिवारिक भार, गिरती हुई खाद्य, वस्त्र गृह उपलब्धता के रूप में किसी देश के पूंजी निर्माण में एक निरंतर छीज का स्रोत होता है, देश

का विकास अधोगति की और उमुख होता है तथा सारे सरकारी प्रयत्न क्षुधा की ज्वाला में भस्म हो जाते है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निश्कर्ष पर पहुंचते है कि यदि इस प्रकार मानवीय क्षति को न रोका गया तो किसी भी विकासशील देश में विकास के सारे प्रयत्न असफल होते रहेंगे। इसलिए हर विकासशील देश को कम-से-कम खाद्यान्न के उत्पादन में शीघ्र ही आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेनी चाहिए। किन्तु इन सारे प्रयत्नों के फलस्वरूप भी खाद्यान्न उत्पादन विनियोग के अनुपात में कम ही रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुमान के अनुसार वर्तमान प्रजनन दर और 9% की वार्षिक आय वृद्धि के कारण 1980 तक इन देशों की जनसंख्या में 78% तथा खाद्यान्नों की मांग में 118% की वृद्धि होगी। यदि आयु में वृद्धि केवल 3% मानी जाए तो खाद्यान्नों की मांग में 238% से वृद्धि हो जाएगी। ऐसा हर विकासशील देश में उसकी कृषि पर निर्भरता तथा नीची उत्पादकता के कारण पाया जाता है।

इन परिस्थितियों में जनसंख्या की वृद्धि के साथ सामाजिक मदों, जैसे आवास का निर्माण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा आदि पर, विनियोग बढ़ता है जिनसे कि राष्ट्र की भौतिक सम्पदा में वृद्धि नहीं होती है। यद्यपि स्वास्थ्य एवं शिक्षा पर विनियोग के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की उत्पादकता में वृद्धि होती है, किन्तु इससे राष्ट्र के पूंजी निर्माण पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता है। विकसित राष्ट्रों में इस प्रकार की मदों पर विनियोग से राष्ट्रीय पूंजी का निमार्ण होता है, जबकि विकासशील देश में इस प्रकार का विनियोग अनुत्पादक कार्यो पर ही होता है।

विकासशील देशों में विकसित देशों की अपेक्षा अनुत्पादक जनसंख्या (15 वर्ष से कम तथा 60 वर्ष से अधिक) होने से प्रति परिवार का आश्रितता-भार अधिक हुआ करता है। हापकिन्स के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन में जहां 1952 में उत्पादकता तथा अवकाश-प्राप्त जनसंख्या (15 से 60 वर्ष तथा 60 वर्ष के ऊपर) का अनुपात 6:1 का या वहीं यह 1982 में गिरकर 4:1 के होने की संभावना है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं की संख्या की अपेक्षा उत्पादकों की संख्या में 2.9 प्रतिशत की कमी होगी जिससे जीवन स्तर के 3% से 4% गिरने की संभावना है। यही नहीं, यदि जनसंख्या-भार की गणना जनसंख्या के उत्पादन के योगदान के संदर्भ में करे तो किसी भी विकासशील देश में उत्पादन-आयु के किसी भी एक वयस्क की उपभोग की आवश्यकता। इकाई होगी, जबकि एक बच्चे की 1/3 इकाई तथा एक तूढ़े की 1/2 इकाई होगी। इस प्रकार इन विकासशील देशों की जनसंख्या में बच्चों, वयस्कों तथा बूढ़ों का प्रतिशत क्रमश: 42, 55 तथा 3 होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन देशों में उत्पादक-उपभोक्ता अनुपात 100:128 है, जबकि यह अनुपात विकसित देशों से 119 उतपादको को 100 उपभाक्तोओं का भार वहन करना पड़ता है। इन देशों में बच्चों, वयस्कों तथा बूढ़ों का प्रतिशत क्रमश: 23 : 67:10 है। इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप के औद्येगिकृत देशों की अपेक्षा ऐशिया के अधिकांश देशों में कार्यशील तथा आश्रितों का अनुपात अधिक (3 :4) है। इस तरह ऊँची आय वाले देशों (यू0 एस0 ए0) की अपेक्षा विकासशील देशों की स्थिति भी कम संतोषजनक नहीं है। इसी प्रकार एक अनुमान के अनुसार विकसित देशों में विकासशील देशों की अपेक्षा राष्ट्रीय आय का कम भाग (विकासशील में 3% तथा विकसित में 01%) 15 वर्षो की आयु तक के बच्चों को मरने से बचाने के लिए किया जाता है।

6.5 जनसंख्या वृद्धि एवं उत्पादन)Population Growth and Production)

अविकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि, पिछड़ी तकनीकी आदि के कारण उत्पादन तीव्र गति से नहीं होता। यही नहीं इसके फलस्वरूप संसाधनों का पूर्णरूपेण विदोहन नहीं हो पाता, जिसके कारण उत्पादन कम होता है जिसका परिणाम है कम प्रतिव्यक्ति आय, कम प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य सुविधा, अस्वस्थ वातावरण, अकुशल श्रमिक, शिक्षा का अभाव, जो पुन: इन अर्थव्यवस्थाओं को निम्न स्तरीय आय-जाल में फंसा देता है जिससे कि इनका पुन: निकलना तभी संभव हो पाता है जबकि ये देश (लिबिस्टीन के न्यूनतम प्रयास की भांति) जनसंख्या वृद्धि से अधिक विनियोग करें जो कि ये अपने उपभोग को काटने पर ही कर सकते है। इन अल्पविकसित देशों में साधनों की स्वरूपता के कारण आवश्यक पूंजी व प्राविधि की कमी के कारण जनसंखा के अनुरूप उत्पादन नहीं होता, इन देशों में जनसंख्या का उत्पादन में योगदान दो मुख्य बातों -(1) प्रति श्रमिक पूंजीगत उपकरणों की प्राप्ति एवं प्राविधिक स्तर तथा (2) जनसंख्या के गुणात्मक पक्ष या जनसंख्या की आयु-बनावट (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) पर निर्भर करता है। किन्तु प्राय: विद्वानों का मत है कि अल्प-विकसित देशों में छात्रों में अनुशासनहीनता, आय और सम्पत्ति के वितरण की विषमता, राजनैतिक अस्थिरता आदि आर्थिक विकास के प्रतिरोधों का मूल कारण जनसंख्या में वृद्धि ही है।

तालिका 6.4

जनसंख्या एवं उत्पादन वृद्धि की वाषिक प्रतिशत दर (1954-59)

जनसंख्या वृद्धि		कुल उत्पादन में वृद्धि जनसंख्या		
	1% से कम	1% से 3% तक	3% से 6% तक	6% से ऊपर
1	2	3	4	5
0.5% से कम	-	इंग्लैण्ड	-	-
0.5% से 1.5% तक		डेनमार्क	बर्मा, स्वीडन, डटली	यूगोस्लाविया, जापान
1.5% से	-	अर्जेन्टाइना,	यू० एस० ए० भारत	
2.5% तक		पाकिस्तान	कालम्बिया, थाईलैण्ड इंडोनेशिया, दक्षिणी कोरिया	कांगो
2.5% से ऊपर	-	-	इक्वेडोर, पेरू ग्वाटेमाला, श्रीलंका	चीन (ताईवान) वीन (मुख्य भूमि), रोडेशियम, टर्की,ब्राजील

परन्तु कु0 आर0 जेड हुसेन का मत है कि जनसंख्या या इसकी वृद्धि में कहीं भी प्रति व्यक्ति आय को स्थिर रखकर आर्थिक विकास में पूर्णरूप में बाधक नहीं रही है। उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि के लिए निम्म आँकड़े प्रस्तुत किए है-

उपर्युक्त तालिका के अंकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि लगभग सभी अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय उत्पादन (आय) में अधिक वृद्धि हुई है। परिणामत: अधिकांश विकासशील

देशों में प्रति व्यक्ति आय में 2% की वृद्धि हुई है और चीन व ब्राजील आदि देशों में तो प्रति व्यक्ति आय में, वृद्धि की दर 6% से भी अधिक हुई है किन्तु इन सबका अर्थ यह नहीं है कि जनसंख्या में वृद्धि विकासोन्मुख देशों के विकास में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती। स्वयं कु0 हुसेन ने ही लिखा है "जनसंख्या में वृद्धि अर्द्ध-विकसित देशों मे जहां अन्य सहयोगी कारकों, विशेष रूप से पूंजी का अभाव होता है, विकास में दबाव उत्पन्न कर देता है।"

6.6 जनसंख्या वृद्धि एवं बेरोजगारी)Population Growth and Unemployment)

विकासशील तथा विकसित देशों में बेरोजगारी में एक विशेष प्रकार की भिन्नता पाई जाती है। विकासशील देशों में खुली बेरोजगारी, दुर्रोजगारी, सुसुप्त बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी आदि साधनों की न्यूनता तथा कृषि प्रधानता के कारण पाई जाती है। जबकि विकसित देशों में बेरोजगारी प्रभावपूर्ण मांग की कमी के कारण उत्पन्न होती हैं। विकासशील देशों में अन्य उत्पत्ति के साधनों के अभाव में अतिरिक्त श्रम को नहीं खपाया जा सकता है। वास्तव में इन देशों में बेरोजगारी का कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है। इन देशों में प्रति व्यक्ति आय के साथ-साथ प्रति व्यक्ति उत्पत्ति के साधनों की उपलब्धता कम होती है। यहां पर अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की उत्पादकता भी कम होती है जिसके कारण भी बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होने लगती है। इन देशों की जनसंख्या में परिवर्तन के अर्थव्यवस्था पर दो प्रभाव पड़ते है : प्रथम - राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय प्राय : प्रभावित होती है जिसे आय प्रभाव (Aggregate mode of Income Effect) कहते है, दूसरे - पूंजी-श्रम अनुपात में परिवर्तन आता है जिसे प्रतिस्थापन प्रभाव (Real Mode or Substitution Effect) कहते है। इसमें भारी कमी आने लगती है जिसके फलस्वरूप भी बेरोजगारी में वृद्धि होने लगती है। "इन देशों में मार्क्स-प्रकार की एवं अर्द्ध-बेकारी एवं छिपी बेकारी का पाया जाना पूंजी और आय की अपर्याप्तता के संदर्भ में स्पष्ट की जा सकती है।" भारतवर्ष में प्रतिवर्ष 3.3 मिलियन बेरोजगार और कुल श्रम शक्ति में जुड़ते जाते है। ऐसा अनुमान है कि भारत में 1951-81 के बीच नये बेरोजगारों की संख्या ग्रेट ब्रिटेन की आबादी की दुगुनी या संयुक्त राज्य अमेरिका की वर्तमान जनसंख्या की डेढ़ गुनी होगी। इस काल में भारत को 107 मि0 लोगों की रोजगार देने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। डा0 वी0 के0 आर0 वी0 राव के अनुसार "इस 107 मि0 में से 67 मि0 को उद्योगों में और 40 मि0 को कृषि में रोजगार देने की व्यव्वस्था करनी होगी।"[2] प्रो0 नर्क्स का मत है कि इन अविकसित देशों में लगभग 25 प्रतिशत जनसंख्या छिपी बेरोजगारी से ग्रसित है।

6.7 मानवीय साधन तथा आर्थिक विकास)Human resources and Economic Growth)

मानवीय साधनों का आर्थिक विकास में कैसे उपयोग किया जाए, इस संदर्भ में आपने हार्वे लिबिन्सटीन (H. Leibenstein) रिचार्ड नैल्सन (R. Nelson) कोल एण्ड हूवर (Coale & Hoover) के मतों का अध्ययन किया। यहां हम कुछ अन्य भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के मत संक्षेप में व्यक्ति कर रहे है -

(a) प्रो0 प्रशान्त चन्द्र महालानोबीस इस मत के है कि विकासशील देशों में पूंजी की अपेक्षा श्रम साधनों की प्रचुरता रहती है। इन देशों में ऐसे उद्योगों में विनियोग किया जाना चाहिए जिसमें कम पूंजी तथा अधिक श्रम लगे। इस प्रकार इन देशों में अधिक श्रमिकों को रोजगार मिल सकेगा। उसके अतिरिक्त इन्होंने पूंजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करने पर जोर दिया। जैसा कि ऊपर के पैराग्राफ में हम देश चुके है कि प्रो0 नर्क्स इन विकासशील देशों में छिपी हुई बेरोजगारी के समर्थक है जिसकी श्रम शक्ति की उत्पादकता नहीं के बराबर है। यदि इसका प्रयोग अन्य घरेलू कार्य में कर लिया जाए तो 15 से 30 प्रतिशत श्रम-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

अन्त में, मानवाय साधनो मे विनियोग से तात्पर्य शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य, अच्छा भोजन, आदि से है जिसमें लोगों का जीवन-स्तर सुधरे तथा उत्पादकता में वृद्धि आए। प्रो0 टी0 डब्ल्यू0 शुल्ज ने उत्पादकता बढ़ाने के संबंध में ठीक ही कहा है, "हमारी आर्थिक प्रणाली का सबसे बड़ा लक्षण मानवीय पूंजी का विकास है।"

डा0 वा0 के0 आर0 वी0 राव का भी स्पष्ट कथन है कि मानव की कुशलता एवं दक्षता ही आर्थिक विकास का ढाँचा खड़ा किया जा सकता 'है। प्रो0 गैलब्रेथ ने शिक्षा पर विनियोग को सबसे अच्छा विनियोग बताया है क्योंकि यह उपभेग एवं विनियोजन दानों ही है। प्रो0 मार्शल का भी इसी प्रकार का मत है, "सबसे अधिक बहुमूल्य पूंजी वह है जो मनुष्यों में विनियोजित की जाती है।' दूसरे शब्दों में, पूंजी में सर्वोत्तम पूंजी मानव पूंजी है।

6.8 प्रवासन का आर्थिक विकास पर प्रभाव (Effect of Migration on Economic Development)

किसी देश की आर्थिक विकास को उस देश का आन्तरिक तथा बहिर्प्रवास (Internal & International Migration) काफी सीमा तक प्रभावित करती है। किस प्रकार के लोग, कितनी मात्रा में देश के ग्रामीण अंचलों से शहरों की ओर प्रवासित होकर जहां शहरी संतुलन को प्रभावित कहते है, वहीं देश से बाहर जाने वालों तथा देश में आने वालों की संख्या राष्ट्रीय विकास सूचकांकों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। भारत में ब्रेन-ड्रेन की स्मस्या, शरणार्थियों की संख्या इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

6.8.1 आन्तरिक प्रवासन का प्रभाव (Impact of Internal Migration)

जहां तक आन्तरिक प्रवासन का प्रश्न है यह यद्यपि समग्र राष्ट्रीय विकास पर बहुत कम प्रभाव डालता है। परन्तु यह देश के शहरों एवं ग्रामीण अंचलों पर अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है।

ग्रामीण अंचलों से शहरों को प्रवासित होने वाली जनसंख्या की मात्रा, गुणात्मकता तथा प्रकृति जहां एक ओर उस शहर पर अतिरिक्त भार बनता है वही उन गांवों पर कृषि पर निर्भरता कम करता है। यही नहीं मानवीय पूंजी का भविष्य भी प्रगतिशील होता है। और प्रो0 लेविस की दोहरी अर्थ व्यवस्था के विकासोन्मुख बनाता है।

6.8.2 अप्रवासन (Immigration)

आप्रवासन की मात्रा तथा गुणात्मक देश के आर्थिक संसाधनों पर अतिरिक्त भार होता है और कभी-कभी तो क्षेत्र विशेष का संतुलन भी बिगड़ने की स्थिति में आ जाता है भारत में बंगला देश से आये शरणार्थियों के लिए जहां एक ओर इनके भोजन, वस्त्र, आवास आदि की व्यवस्था करनी पड़ी और पड़ रही है, जो कि देश में लाखों वयस्कों के रोजगार के अवसर पर कुठाराघात है। हां, ऐसा आप्रवासन जो कि कुशल हो और प्रौद्योगिकी के निर्माण तथा विकास में सहायक हो, हमेशा स्वागत है। भारत में भिलाई, राउरकेला, बोकारो आदि लोह संयंत्रों में बाहर से आये इन्जीनियर्स तकनीशियन आदि की सहायता से हमें इन कारखानों की स्थापना आदि में सहायता मिली।

6.8.3 उत्प्रवासन (Emigration)

इसी प्रकार देश से बाहर जाने वालों की संख्या, गुणात्मकता आदि का भी देश की अर्थव्यवस्था पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जहां इनसे विदेशी पूंजी देश में आती रहती है, वही इनके ऊपर (इनको कुशल उत्पादक बनाने की आयु तक) किये गये राष्ट्रीय व्यय का लाभ देश को न मिलकर विदेश को मिलता है। भारत के डाक्टर, इन्जीनियर्स, तकनीशियन आदि, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस आदि देशों की प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है। इस प्रकार बेनड्रेन की समस्या देश की प्रगति में बाधक होती है। क्योंकि इससे मानवीय पूंजी का अभाव होता है।

6.9 सारांश (Summary)

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जनसंख्या एवं आर्थिक विकास में गहन संबंध है। दोनों ही एक दूसरे के साध्य, कार्य एवं कारण तथा पर्याय कहे जा सकते है। दोनों ही को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह बात अर्थव्यवस्थाओं पर करती है कि वे किस साध्य एवं किस साधन के रूप में लेते है। किन्तु इतना सत्य है कि मानवीय साधन का महत्व अर्थव्यवस्थाओं के लिए सर्वोपरि है। यह केवल इतना उत्पादन का निर्णायक (Determinant) ही न रह कर उत्पादन का उद्देश्य (Object) भी है। मानवीय विकास के लिए ही सारे कार्य किये जाते है तो उसे उनके अनुरूप भी रहना चाहिए। इसके महत्व को श्री बेरा एनस्टेथ का शब्द बहुत ही सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है। आर्थिक विकास के लिए भौतिक अथवा प्राकृतिक साधन ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि मानवीय साधन का उपयुक्त विकास भी आवश्यक है। इस शर्त को पूरा करने में जनसंख्या पर नियन्त्रण भी आवश्यक है।

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र 01 किसी भी देश के आर्थिक विकास को जनसंख्या का विकास पर किस प्रकार प्रभावित करता है। विवेचना कीजिये।

(संकेत-हार्वे लिविन्स्टीन तथा रिचर्ड नेल्सन के विचारों को सचित्र व्याख्या दें)

प्र0 2 जनसंख्या के आकार तथा आयु संरचना का किसी देश के विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख करें।

(संकेत-प्रतिव्यक्ति आय भोजन वस्त्र रोजगार आदि की स्थिति का विवेचना करके नेलसन तथा लिविन्स्टीन का उदाहरण दें)

प्र0 3 जनसंख्या प्रवासन किस प्रकार देश की मानवीय पूंजी में ह्रास / वृद्धि करता है विवेचना करें। (संकेत-प्रवासन का प्रभाव विस्तार से वर्णित करें)

प्र0 4 रिचर्ड नेल्सन के निम्न स्तरीय संतुलन अवरोध का सकचत्र वर्णन करें।

प्र0 5 अधोलिखित में से किन्हीं दो पर टिपणी लिखें :-

(अ) लिविन्स्टीन का न्यूनतम प्रयास

(ब) आय निर्धारण समीकरण तथा जनसंख्या वृद्धि समीकरण

(स) जनसंख्या की आयु संरचना का आर्थक विकास पर प्रभाव

(द) जनसंख्या आकार का प्रतिए व्यक्ति आय/रोजगार/भोजन/उत्पादक पर प्रभाव

प्र0 6 जनसंख्या विकास दर का देश की मानवीय पूंजी निर्माण पर पड़ने वाले प्रभावों का विस्तार से वर्णन करें।

संकेत-जनसंख्या विकास पर तथा आयु संरचना का देश में जनसंख्या संरचना का वर्णन करें)

6.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

AGARWAL S.N. : India's Population, p.98

BOSE ASHISH : Environment and Population : Some Ecological and Demographic Implications for Development Planning in Asia, Paper Presented in the Second Asian Population Conference. Tokyo, Now. 1972, Published in Apss, No. 28 pp.

BRIGHT SINGH D. : Economics of Development, Asia Publishing House, Bomba 1962

COALE, A.J. : Population deilemma, pp. 50-69

COALE, A.J. and HOOVER E.M. : Population Growth and Economic Development in Low Income Countries, Princeton 1958, p. 232.

DANDEKAR, V.M. And RATH, N. : Poverty in India (1971), Indian, School of political Economy.

DANDEKAR, V.M. : Presidential Address; Ind-Soc. Of Agri.
: Conf. Ludhiana, 1967

GUNNAR, MYRDAL. : Asian drama, Vol. II Chapter 28, Part 6, pp. 1464-1470.
: In Caloric Deficiencies and Protein Deficiencies (taken from APSS No.20, p.173)

HIGGINS, B. : Economic Development, Chaitanya Prakashan,

Alld. 1962, pp.395-397.

HOPKINGS, W.A.B. : The Economics of an Aging Population, jan. 1953, p.33.

HERZOG, J. : Investment in Social Development : Some Implication of Demographic Conditions, Second Asian population Conference, Tokyo, nov. 1972, APSS, No. 28, pp.190-204

HAUSER, P.M. : The Population Dilemma, p. 51

GOVT. OF INDIA : Economic Survey, 1976-77, New Delhi.

JAIN, S.P : Indian Population and Development, New Delhi, NCERT, 1977, p. 180.

SRIVASTAVA, S.C. : Studies in Demography जनांकिकी के प्रारूप

KUZNETS, S. : " Demographic Aspect of modern Economic Growth", World Population Conference, 1965, background Papers, Belgrade, WPC/WP/380, p.1.

LEIBENSTEIN : Economic Backwardness and Economic Growth, N.Y., 1957.

MEIR, G.M. and

BALDWIN, R.E. : 'A Theory of Low-equilibrium Trap,'

: A.E.W. dec. 1956, pp. 894-904.

SUKHATME, P.V. : Feeding India's Growing Millions, londlondon.A.P.H. 1965.

— : Human Calorie and Protein needs and How far they are Satisfied Today in B.B.P. Cox and John Peel (Eds), Resource, and Population, London, Accademic Press, 1973, p. 28

SCRIMSHAW, N.S. : Arch, Environ. Health, 1919.

STANSBURRY, J. : "kshudha Our Vikash Ki Samasya" is Spantology (Hindi) 1971, p. 17.

SPENGLER, J.J. : The Population Obstacle to Economic Betterment, A.E.R., Papers and Proceeding, Mya, 1951, pp. 343-54.

VILLARD, H.H. : Economic Development, Richard, N.Y., 1959, p. 196.

U.N., FAO. : Population, Food Supply and Agricultural Development, Rome 1975, pp. 47-48.

— : Population, Aspects of Social Development Report of a Regional Seminar and Selected Papers, A.P.S. No. 11, ESAFE, Bankok, 1972.

— : International Social Development Review, No.2. pp-1-2.

— : Determinants and Consequences of Population Trends, U.N., 1953, 1973.

— : Economic Survey of Asia and the Far. Fast, 1973.

इकाई 7
बचत एवं निवेश के प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

7.0उद्देश्य
7.1प्रस्तावना
7.2बचत का अर्थ
7.3बचतों के स्रोत
7.4विकासशील देशों में बचत सम्बन्धी समस्या
7.5घरेलू बचत बढ़ाने के उपाय
7.6बचतों के बाह्य स्रोत
7.7भारत में बचतों के स्रोत
7.8निवेश का अर्थ
7.9विकासशील राष्ट्रों में अधिक निवेश की आवश्यकता
7.10भारत की विभिन्न योजना काल अवधियों में बचत की प्रवृत्ति
7.11विभिन्नयोजना अवधियों में निवेश की प्रवृत्ति
7.12सारांश
7.13कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इसके पूर्व की इकाइयों में आपने भारत में नियोजन आदि के बारे में अध्ययन किया है। किसी भी नियोजन को सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम लक्ष्यों के अनुसार कितने साधन जुटा पाते है। साधनों में सबसे महत्वपूर्ण साधन पूँजी है। इसे बचत द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतः इस इकाई में हम बचत एवं निवेश के प्रतिमान के बारे में चर्चा करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बातें जान पायेंगे :-

1. विकास अर्थशास्त्र से बचत एवं निवेश से क्या तात्पर्य है?
2. बचत के मुख्य स्रोत क्या है,
3. बचत को प्रभावित करने वाले तत्व कौन से है।
4. भारत की विभिन्न योजना काल अवधियों में बचत एवं निवेश की प्रवृत्ति क्या रही है।

7.1 प्रस्तावना

किसी भी देश की आर्थिक प्रगति में पूंजी तंत्र का सर्वाधिक महत्व होता है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए अधिक विनियोजन करना आवश्यक है। अतः स्वाभाविक है कि अधिक विनियोजन करने के लिए अतिरिक्त साधन जुटाये जाये। यह साधन हमें मुख्यतः बचत द्वारा प्राप्त होते है। अधिकतर बचत हम घरेलू स्रोतों द्वारा ही एकत्र कर सकते है। इस प्रकार विनियोग में वृद्धि करने के

लिए घरेलू बचत में वृद्धि एवं बचत को गतिशील करने की आवश्यकता होती है। जब किसी अर्थव्यवस्था में अन्य साधनों के साथ-साथ बचत तथा निवेश दोनों बढ़ते हैं तो समग्र वृद्धि दर में भी बढ़ोत्तरी होती, है। उत्तरोत्तर अधिक निवेश देश की उनति का सूचक है। इसके अलावा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने के लिए विनियोजन का प्रकार ऐसा रखने की आवश्यकता होती है कि वर्तमान उत्पादन एवं उत्पादन क्षमता जनसंख्या वृद्धि की दर से अधिक तीव्रगति से वृद्धि की जा सके। इस प्रकार आर्थिक प्रगति के लिए बचत-निवेश एवं पूँजी-उत्पादन अनुपात आदि तत्वों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है। अतः इस इकाई में हम बचत एवं निवेश की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन करेंगे तथा इससे अगली इकाई में पूँजी-उत्पादन अनुपात के बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे।

7.2 बचत का अर्थ

मोटे रूप में बचत को अर्थशास्त्र में आय एवं उपभोग के अंतर के रूप में परिभाषित किया जाता है। अर्थात किसी वर्ष में राष्ट्र की कुल समग्र आय कितनी है तथा उसमें से उपभोग पर व्यय को घटा दिया जाए तो जो शेष बचेगा उसे बचत कहेंगे। इसे समीकरण $S = Y - C$ के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। यहां S = बचत, Y = आय एवं C = उपभोग है। इस प्रकार से बचत आय का वह भाग है जो वर्तमान उत्पादन का उपभोग न करके उसे पूँजी निर्माण या पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाया जाता है। अतः पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि करने के लिए बचत की दर में पर्याप्त वृद्धि करना आवश्यक होता है। बचत एवं देश की आर्थिक प्रगति में प्रत्यक्ष संबंध होता है क्योंकि बचत दर में वृद्धि होने पर विनियोजन एवं पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि होती है और जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

7.3 बचतों के स्रोत

कुल बचत का अधिकांश भाग हम घरेलू स्रोतों द्वारा ही एकत्र करते है। किसी भी अर्थ व्यवस्था में घरेलू बचत निम्न तीन स्रोतों से मित्र कर बनती है :-

1. सरकार द्वारा की गयी बचत
2. परिवारों की बचत
3. व्यापारिक क्षेत्रों की बचत

सरकारी बचत सामान्यतः उस राशि को कहते है जो किसी वर्ष में कर आदि से होने वाली चालू आय एवं सरकारी चालू व्यय का अन्तर होती है। यदि सरकार का व्यय अधिक है एवं आय कम है तो यह बचतें ऋणात्मक होगी। अविकसित अर्थव्यवस्था में आय का निम्न स्तर, अधिक व्यय, गैर उत्पादक वस्तुओं में अधिक खर्च आदि की वजह से सरकारी क्षेत्र में बचत करने की क्षमता सीमित हो जाती है।

परिवारों की बचत राशि परिवारों की शुद्ध आय (कर आदि देने के बाद बची हुयी आय) एवं उपयोग व्यय का अन्तर होती है। विकासशील देशों में आय के निम्नतर तथा ऊँची उपभोग प्रवृत्ति की वजह से पारिवारिक बचतें अत्यन्त कम होती है। केवल उच्च एवं मध्यम आय वर्ग के लोगों से अपेक्षा की जाती है कि वह अधिक बचत करें परन्तु प्रदर्शनकारी प्रभाव (Demonstration Effects) के फलस्वरूप यह वर्ग विलासी उपभोग पर अधिक खर्च कर देता है।

किसी अर्थव्यवस्था के व्यापारिक समुदाय द्वारा की गई बचतें व्यापारिक क्षेत्र की बचते कहलाती है। यह समुदाय मुख्यतः अधिक लाभ की आकांक्षा से व्यापार में संलग्न होता है जिसकी वजह से यह एक महत्वपूर्ण बचत स्रोत के रूप में सामने आता है।

सरकारी बचत को सार्वजनिक बचत (Public Savings) और परिवारों तथा व्यापार से होने वाली बचत को निजी बचत (Private Savings) कहते है प्राय: अर्थव्यवस्थाओं में निजी बचत कुल बचत का बहुत बड़ा भाग होती है। भारत में निजी सम्पूर्ण बचत की लगभग 80% होती हैं।

7.4 विकासशील देशों में बचत सम्बन्धी समस्या

जैसा कि आपने ऊपर देखा कि बचत की मात्रा में वृद्धि करना विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास का आवश्यक तत्व है। लेकिन बचत की मात्रा में वृद्धि करने हेतु केवल अधिक बचत का उदय होना ही पर्याप्त नहीं होता वरन् उचित बचत को उपलब्ध करना तथा उसको उत्पादक विनियोजन (Productive Investment) किया जाना भी आवश्यक है। इस प्रकार विकासशील देशों में बचत के सम्बन्ध में मुख्य तीन समस्याएं उठती है :

1. अधिक बचत का निर्माण
2. बचत के अधिकतम भाग को प्राप्त करना तथा
3. बचत को उत्पादक विनियोजन की ओर प्रवाहित करना।

विकासशील राष्ट्रों की गम्भीर समस्या आन्तरिक बचत के निर्माण में वृद्धि करना होता है और इसके निवारण के लिए बचत की सीमाओं को विस्तृत करने की आवश्यकता है। इसके लिए आय में वृद्धि एवं उपभोग में कमी करना आवश्यक है। आय की वृद्धि उत्पादन में वृद्धि पर निर्भर करती है। "लेकिन विकासशील देशों में अल्पकाल में उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता तथा निर्धनता के कारण अधिकांश लोगों की सारी आय" उपयोग में खर्च हो जाती है जो शारीरिक निर्वाह के लिए अनिवार्य है। कुछ अर्थशास्त्री इस समस्या के निवारण के लिये यह सुझाव देते है कि उत्पादक विनियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि पूँजीपति-वर्ग अथवा लाभ पाने वाले वर्ग का विस्तार हो क्योंकि यह वर्ग अपनी आय का अधिकतम भाग बचाकर उत्पादक क्रियाओं में विनियोजित करने को तत्पर रहता है। परन्तु एक समाजवादी एवं कल्याणकारी राज्य में अतिरिक्त आय के बड़े भाग को लाभ पाने वाले वर्ग को नहीं दिया जा सकता क्योंकि इससे समाज में आर्थिक विषमताएं बढ़ती है और आर्थिक सत्ताओं का केन्द्रीयकरण होता है।

बोध प्रश्न-1

(1) बचत का अर्थ समझाइए।

(2) अल्पविकसित देशों के सन्दर्भ में बचत की समस्या की व्याख्या कीजिए।

7.5 घरेलू बचत बढ़ाने के उपाय

विकासशील देशों में कुल बचत कम होती है अतः अब प्रश्न यह सामने आता है कि अंशत: इस बचतों को हम घरेलू स्रोत द्वारा कैसे बढ़ायें या प्रोत्साहित करें? बचतों को बढ़ावा देने के कई तरीके है जिनके द्वारा बचत क्रिया में तीव्रता लाई जा सकती है। वे सहायक तरीके निम्नवत् है :-

(1) बचत प्रयत्न-लोगों में बचत प्रवृत्ति बढ़ाकर उन्हें बचत करने को प्रोस्साहित किया जा सकता है। लोगों में बचत की प्रवृत्ति डालने के लिए सामाजिक जागरूकता व जन-प्रचार की आवश्यकता

होती है जिससे बचत को अपेक्षित स्तर तक ले जाया जा सकता है। लोगों को भविष्य में अनिश्चितता के प्रति सावधान करते हुए बचत करने को कहा जा सकता है। बचत करके ब्याज द्वारा आय के साच्य के रूप में भी लोगों को बचत करने के लिये कहा जा सकता है। इसमें ऊची दर वाले सरकारी बॉड वार्षिकीय के रूप में बचत सर्टिफिकेटों को जारी करना भी बचतें जुटाने में सहायक होता है। बोनस, उपहार, लाटरी पुरूस्कार और सरकारी बॉड कं क्रय पर कर की छूट देकर भी बचत को और अधिक प्रेरणा दी जा सकती है।

(2) वित्तीय संस्थाओं की प्रमुखता-पहले लोग बचत स्वर्ण, आभूषण, नकदी व भूमि के रूप में करते थे जो बचत अनुपयोगी तथा अनुत्पादक थी। आज इस बात की जरूरत है कि विकासशील अर्थव्यवस्था में ऐसे संस्थान हों जो बचतकर्ता (छोटे बड़े) को बचत के लिए विश्वास योग्य वातावरण व प्रोत्साहन दे सकें। लोगों तक वित्तीय संस्था जैसे बैक, जीवन बीमा आदि पहुंचे जिससे लोग अपनी बचत इन वित्तीय संस्थाओं में जमा कर सकें। देहाती क्षेत्रों में बचत बैंक तथा गतिशील बचत बैंक हों, जो ग्रामीण क्षेत्र में बचत कार्य को प्रभावी ढंग से निष्पादित कर सकें। ऐसे में ग्रामीण सहकारिता की अहम् भूमिका सामने आती है।

(3) स्थनीय जरूरतों के अनुसार बचत - हर क्षेत्र में अपनी विकास की प्राथमिकतायें होती है जिन्हें हम स्थानीय बचत को प्राथमिकता देते हुए उन प्राथमिकताओं को पूरा कर सकते है। जैसे यदि ग्राम्यांचल में कोई विकास योजना चलानी है जो वह योजना उस अंचल के प्राथमिकता के अनुरूप हो तथा योजना के साथ ऋण पत्र संलग्न कर लोगों से बचत के रूप में धन जुटाया जा सकता है। इस प्रकार की ऐच्छिक बचत लोगों में बचत की आदत को बढ़ावा देती है। जो उसे क्रांतिक न्यूनतम स्तर (Critical Minimum Level) तक पहुंचा सकती है जो उस अविकसित या विकासशील अर्थव्यवस्था के उत्कर्ष (Taxation) -कराधान एक प्रमुख तथा अत्यन्त प्रभावशाली साधन है साधन हस्तान्तरण का। यह पूँजीनिर्माण में भी सहायक होता है। यह वांछित दिशाओं में उपयोग के लिये राज्य को निजी साधनों का हस्तांतरण करके और निजी क्षेत्र को कर में राहत देकर उत्पादन वृद्धियों में सहायक हो सकता है। साधन हस्तांतरण के संबंध में प्रो.लुईस का मत यह है कि अल्पविकसित देशों को अपनी आय का कम से कम 20% भाग कराधान के माध्यम से प्राप्त करना चाहिए जिसमें से 12% चालू खर्च पर तथा शेष 8% सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी के निवेश पर लगा दिया जाना चाहिए।

(4) कराधान व्यक्तिगत आय, धन तथा व्यय पर आरोही (Progressive) प्रत्यक्ष कर को इस प्रकार लगाना चाहिए जिससे कि उनका विकास पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। अप्रत्यक्ष कर का भी कराधान में अपना स्थान है जिसके अनुसार विलास वस्तुओं पर ऊँची और उपभोग वस्तुओं पर नीची दरें होनी चाहिए। जैसे विलासिता की वस्तुओं पर आयात शुल्क उनके उपभोग को घटाता है साथ ही उत्पादक निवेश के लिये राज्य को राजस्व उपलब्ध करवाता है।

(5) सार्वजनिक उद्यमों के लाभ - योजनाबद्ध विकास की आधारभूत परिकल्पना यह है कि सार्वजनकि उद्यम अपने उत्पादक निवेश के लिये लाभ का सृजन करते रहे और उनके लाभों को पूँजी निर्माण के रूप में लाया जाए।

(6) सार्वजनिक उधार - साधनों को अनुत्पादक से उत्पादक कार्यो की ओर दिशा प्रदान करने वाला सार्वजनिक उधार एक उपयोगी साधन है। परन्तु अल्पविकसित देशों में आय तथा बचत की

निम्न स्तर की वजह से इनका क्षेत्र सीमित रहता हे। नकर्से ने ऐच्छिक सार्वजनिक उधार के असफल हो जाने की दिशा में बलकृत कर्ज का सुझाव दिया है। ऐसे में संगठित वित्तीय संस्थानों की अहम् भूमिका सामने आती है।

(7) प्रकासकीय व्यरा मे कमी : अल्पविकसित देशों में सरकार राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा प्रशासकीय कामों पर व्यय करती है यदि प्रशासकीय अपव्यय को रोका जाय तो सरकार साधनों की बचत कर उसे उत्पाद कार्यों में लगा कर साधन निर्माण की दिशा में सही कदम उठा सकती है।

अर्थव्यवस्था की कुल बचत में आन्तरिक बचतों के अतिरिक्त विदेशी व्यापार, सहायता एवं साख के रूप में बाह्य बचतें भी प्राप्त है। अत: अब हम यह देखेंगे कि बचतों के बाह्य स्रोत क्या-क्या हो सकते है?

7.6 बचतों के बाह्य स्रोत

पूँजी निर्माण में घरलू साधनों को बाह्य साधनों के अनुपूरित करने की आवश्यकता होती है। ये साधन विदेशी व्यापार और विदेशी पूँजी द्वारा प्राप्त होते है। अर्धविकसित अर्थव्यवस्था का यह प्रमुख लक्षण है कि वह मुख्यत: कच्चा या प्राथमिक माल निर्यात करता है और बदले में विकसित अर्थ व्यवस्था से मशनरी, पूँजी पदार्थ या अर्द्धनिर्मित पदार्थ आयत करता है इससे इन देशों का भुगतान संतुलन (Balance of Payment) इनके प्रतिकूल रहता है। ऐसे में अल्प विकसित देश निर्यात वर्धन (Export promotion) और आयात स्थानापन्नता (Import Substitution) की नीति अपना कर एवं निर्यात को अधिक बढ़ावा देकर भुगतान शेष संतुलन की स्थिति सुधार सकते है। विदेशी पूँजी किसी भी अर्थ व्यवस्था में निजी निवेश या सार्वजनिक निवेश, ऋण, एवं अनुदान के रूप में प्राप्त होती है। ये राजस्व का एक मुख्य बाह्य स्रोत है जिन्हें शुद्ध (Net) रूप में लिया जाता है अर्थात ब्याज का भूगतान आदि करने के पश्चात्। सार्वजनिक विदेशी पूँजी कर्जों एवं अनुदानों के रूप में विदेशी सरकारो से प्राप्त होती है। साथ में संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों जैसे IBRD, IFC, IDA आदि भी इस क्षेत्र में सहायता प्रदान करती है। निजी विदेश पूँजी दो प्रकार की होती है-प्रत्यक्ष एर्व अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष निजी विदेशी पूँजी के अंतर्गत निवेशक देश को कम्पनी पूँजी आयातकारी देश में अपनी कम्पनी की एक शाखा खोलती है जिसके लिये सारे व्यय वह स्वयं करती है। अप्रत्यक्ष निजी विदेशी पूँजी के अंतर्गत विदेशी कम्पनियाँ एवं व्यक्ति देशीय कमनियों के शेयर, बॉड एवं ऋण-पत्र खरीदते है जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पूँजी देश में आती है। सर्वश्रेष्ठ यह है कि विदेशी कम्पनी के साथ सह-उपक्रम स्थापित किये जायें जिससे विदेशी पूँजी के साथ-साथ तकनीक भी अर्थव्यवस्था को उपलब्ध हो जाय।

7.7 भारत में बचतों के स्रोत

आप जानते है कि भारत में आर्थिक विकास के साधन के रूप में योजनाओं का सहारा लिया गया है। इस योजनाओं में आने वाले वर्षों में विभिन्न खंडों (Sector) पर कितना व्यय किया जाएगा की योजनाए बनती है। इन्हें साकार रूप देने के लिए वित्तीय साधनों की पूर्ति आवश्यक है। भारत में योजनाओं के लिए वित्तीय साधनों की पूर्ति के लिए बचतों को निम्नलिखित स्रोतों से जुटाने का प्रयत्न किया जाता है।

(1) सार्वजनिक बचते - जिनमें बजटरी (वार्षिक बजट) और सार्वजनिक उद्यमो से प्राप्त बचते शामिल होती है।

(2) सरकारी एवं गैर सरकारी वित्तीय संस्थाओं की बचतें जैसे भारतीय रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, साख सहकारी समितियाँ आदि शामिल है।

(3) निजी निगमों (Private Corporates) की बचतें।

निजी बचतें जिनमें सभी वित्तीरा परिसम्पितियाँ आती है। इन्हें मोटे रूप से निम्न मदों में बांट सकते है।

(क) व्यक्तियों की तरह सम्पति में वृद्धि : इसके अंतर्गत व्यक्तियों के पास रखी हुई नकद राशि, बैंक में जमा राशि, ऋण समितियों, सहकारी समितियों और बैकिंग कंपनियों, मियादी उधार देने वाली संस्थाओं एवं निजी निगमित वित्तीय संस्थाओं की जमा में वृद्धि सम्मिलित है :

(ख) जीवन बीमा निगम (LIC) की निधि में वृद्धि,

(ग) भविष्य निधियों (Provident Fund) जिनमें केन्द्र तथा राज्य सरकारों की भविष्य निधियां, कर्मचारी भविष्य निधि तथा अन्य भविष्य निधियां शामिल है;

(घ) भारतीय यूनिट ट्रस्ट के यूनिटों, निगमित एवं सहकारी शेहर तथा ऋण पत्र।

(ङ) छोटी बचतें, कर्जे, जमा और विविध सरकारी देयताएं

(च) भौतिक एवं वास्तविक परिसम्पत्तियाँ

उपर्युक्त मदों के देखने से ऐसा लगता है कि इनकी गणना करके कुल बचत का अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन यह करना इतना आसान नहीं है। भारत जैसे विकासशील देशों में बचतों की गणना के मुख्य अवरोधक अ-मौद्रीक क्षेत्र (Non Monetized Sector) का होना है। भारत में केवल 80% अर्थव्यवस्था ही मौद्रीक क्षेत्र में आती है। इस मौद्रीक क्षेत्र में भी बहुत से लेन्देन ऐसे है जिनका की लेखा-जोखा नहीं रखा जाता या वे आकड़े सरकार को उपलब्ध नहीं हो पाते है। इन्हीं करणों की वजह से भारत में बचत तथा निवेश से संबंधित आकड़े अपूर्ण एवं असंतोषजनक है। भारत में मुख्य रूप से निम्न तीन संस्थाएं बचत एवं निवेश संबंधी आकड़े एकत्र करती है-

(1) भारतीय रिजर्व बैंक (RBI)

(2) केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (CSO)

(3) National Council of Applied Economic Research (NCAER) इनमें से पहली दो संस्थाएं सरकारी है तथा तीसरी संस्था अर्ध सरकारी है। इन तीनों संस्थाओं द्वारा एक ही वर्ष के लिए बचत एवं निवेश के आकड़े भिन्न-भिन्न होते है। इसका मुख्य कारण इन संस्थाओं द्वारा आय-व्यय के ढंग एवं धारणाएं एक दूसरे से भिन्न है।

बोध प्रश्न-2

(1) विकासशील देशों में बचत बढ़ाने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(2) एक विकासशील देश के लिए बचतों के बाह्य स्रोत क्या क्या हो सकते है?

(3) भारत में बचतो के मुख्य स्रोत क्या है?

7.8 निवेश का अर्थ

इसके पूर्व आप बचतो के बारे में अध्ययन कर चुके है। इन बचतों का मुख्य उद्देश्य उन्हें अर्थ व्यवस्था में विनियोजित करना है। जैसा कि आपने प्रारम्भ में पढ़ा कि किसी देश की आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया में निवेश का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि निवेश पर राष्ट्रीय उत्पादन एवं आय की वृद्धि की दर आदि निर्भर करती है। निवेश द्वारा ही पूंजी निर्माण संभव है। यदि आतरिक बचते जिसे घरेलू पूंजी-निर्माण भी कह सकते है में विदेशी विनियोग को जोड़ दिया जाए तो हमें कुल पूंजी निर्माण प्राप्त हो जाएगा। आप जानते है कि किसी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के विभिन्न साधनों जेसे-प्राकृतिक साधन-भूमि एवं श्रम आदि में मनुष्य द्वारा असीमित मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकी है। लेकिन क्योंकि पूंजी मनुष्य कृत उत्पादन घटक है अतः इसे मानव प्रयासों से असीमित मात्रा तक विस्तृत किया जा सकता है। किसी निश्चित समय में यदि एक अर्थव्यवस्था में उत्पादन के ये दो साधन-प्राकृतिक एवं श्रम समिति रहते है तो आर्थिक प्रगति के लिए पूंजी ही ऐसा साधन बचता है जिससे वृद्धि करके राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

संक्षेप में हम यह कह सकते है कि किसी अर्थ व्यवस्था की उत्पादन क्षमता की वृद्धि उसकी आय के उस अनुपात पर निर्भर करती है जिसे बचत के रूप में बचाकर निवेश के लिए उपयोग किया जाता है।

7.9 विकासशील राष्ट्रों में अधिक निवेश आवश्यकता

जैसा कि आप जानते है कि आर्थिक विकास द्वारा अल्प विकसित राष्ट्र अपने जन समुदाय के जीवन स्तर में इतना सुधार करना चाहते है कि कुछ काल के अंदर वे अन्य विकसित राष्ट्रों के जीवन स्तर के समान हो सके। जीवन स्तर की वृद्धि हेतु राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए और इस वृद्धि के लिए पर्याप्त पूंजी का विनियोग आवश्यक होता है। विकासशील राष्ट्रों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने हेतु प्राय: अधिक निवेश की आवश्यकता होती है, क्योंकि इन राष्ट्रों में पूंजी एवं उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली आय का अनुपात अधिक होता है। इसके निम्न कारण हो सकते है :-

(1) विकासशील राष्ट्रों में श्रम का बाहुल्य तथा तांत्रिक कुशलताओं की कमी होती है जिसकी वजह से छोटे-छोट यन्त्रों की सहायता से उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकना संभव होता है। पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए न कुशल श्रम, न विशेषज्ञ और न आवश्यक मशीन इनके पास उपलब्ध होते है जिसकी वजह से उत्पादन की लागत अधिक लेकिन आय कम उपार्जित होती है।

(2) अल्प विकसित राष्ट्रों में पूंजी का अपव्यय भी अधिक होता है। अधिकतर साधनों का उपयोग परम्परागत उद्योगों एवं आर्थिक क्रियाओं में किया जाता है जिसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों में पूंजी की इतनी अधिकता हो जाती है कि अपव्यय होता है। इसके विपरीत कुछ क्षेत्रों में पूंजी की कमी के कारण उपलब्ध सुविधाओं का पूरा उपयोग नहीं हो पाता है।

(3) विकासशील राष्ट्रों में नियोजित व्यवस्था के द्वारा विकास प्रारम्भ किया जाता है और कृषि-विकास, जनोपयोगी सेवाओं, पूंजी-प्रधान परियोजनाओं तथा नवीन उद्योगों की स्थापना को विशेष महत्व प्रदान परियोजनाओं तथा नवीन उद्योगों की स्थापना को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। इन सभी क्षेत्रों में पूंजी एवं आय का भुगतान अधिक होता है, जिसके फलस्वरूप विकास की दर बनाये रखने के लिए अधिक अर्थ साधनों को जुटाना पड़ता है।

उपर्युक्त वितरण से स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों में नियोजित विकास के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता है और विकसित राष्ट्रों के समान विकसित होने के लिए इन्हें अधिक पूंजी का विनियोजन करना चाहिए।

7.10 भारत की विभिन्न योजना काल अवधियों मे बचत की प्रवृत्ति

भारत में नियोजित विकास के प्रारम्भ से ही बचत एवं पूंजी निर्माण को आर्थिक विकास का प्रमुख कारण माना गया है। हमारी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य आत्म निर्भरता, निर्धनता उन्मूलन, समानता, रोजगार एवं उत्पादकता सुधार आदि स्वीकार किए गए है और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बचत एवं निवेश का महत्वपूर्ण योगदान है। बचत, निवेश, पूंजी-निर्माण अधिक आय, अधिक रोजगार इन सभी कारकों को इस प्रकार गतिमान करना आवश्यक है कि ये एक दूसरे का कारण एवं प्रभाव क्रम से बनते रहे और अर्थव्यवस्था आर्थिक विकास के मार्ग पर सुदृढ़ता से चलती रहे। भारतीय अर्थव्यवस्था में बचत एवं निवेश का क्रम क्या रहा? इसके लिए हम विभिन्न योजना काल में इनकी क्या प्रवृत्ति रही का अध्ययन करेंगे। भारतीय योजनाओं में बचत दर तथा निवेश दर को राष्ट्रीय आय में प्रतिशत के रूप में लिया जाता है। स्वतंत्रता के बाद भारत में अन्य विकासशील देशों के समान प्रारम्भ में पर्याप्त बचते एवं निवेश की दर नहीं थी। तालिका 7.1 में दिए आकड़ों से स्पष्ट है कि नियोजन काल के पूर्व बचत दर कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग 6% थी। प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में बचतें 6% से बढ़कर 6.5% हुई जब भी इनके बढ़ने का अनुमान 7% था। द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में बचतो के बढ़ने का अनुमान क्रमश: 9 .7% एवं 11 .5% तक था लेकिन वास्तविक वृद्धि क्रमश 9.3% एवं 11.2% हो ही पाई। यह बचत वृद्धि पहली योजना से लगभग दुगनी थी। इसके पश्चात वार्षिक योजनाओं के दौरान पुन : यह बचत दर घटकर 9.5 रह गई। इन वर्षों में बचत के कम होने के मुख्य कारण देश में सूखे की स्थिति और उद्योगों में अनुप्रयोजित क्षमता का पाया जाना था। चौथी योजनाओं में बचतों का बढ़कर 13.2% होने का अनुमान था जबकि वस्तिवक दर 15% हुई। इस प्रकार पहली बार चौथी योजना में वास्तविक बचते अनुमानित बचतो से ज्यादा रही। इसके बाद पांचवी योजना में बचतो की अनुमानित दर 15.7% रखी गई परन्तु वास्तविक दर 20.8 रही। छठी योजना में बचतो को 24.5% हो जाने अनुमान था लेकिन वास्तविक बचत केवल 20.1% ही रही। सप्तम योजना में कुल बचत दर 23% होने का अनुमान था लेकिन वास्तविक बचत 20.9% रही।

तालिका- 7.1 भारत की विभिन्न योजनाओं में बचत की प्रवृत्ति

योजना	अवधि	सकल घरेलू बचत (योजना अवधि का औसत)			बचत का निवल राष्ट्रीय उत्पादन में प्रतिशत योजना के अन्तिम वर्ष में (बाजार कीमतों) पर	
		निजी बचते	सार्वजनिक बचते	कुल बचत (करोड़ रु. में)	अनुमानित	वास्तविक
योजना के पूर्व	1950-51	-	-	-	5.0	6.0
प्रथम योजना	1951 -56	874	169	1043	7.0	6 .5
द्वितीय योजना	1956-61	1368	273	1641	9.7	9.3
तृतीय योजना	1961-66	2185	679	2864	11.5	11.2

वार्षिक योजना	1966-69	3838	731	4569	-	9.5
चौथी योजना	1969-74	6579	1341	7920	13.21	15.0
पांचवी योजना	1974-79	14181	3830	18010	15.7	20.8
छठी योजना	1980-85	30062	3609	36671	24.5	20.1
सातवी योजना	1985-90	54141	7601	61742	23.0	20.9
आठवीं योजना	1992-97					
नौवीं योजना	1997- 2007					

स्रोतः(I) Centre for MonitoringIndian Economy (CMIC) Report, 1989

(ii). Plan Documents

तालिका 7.1 में विभिन्न योजना अवधि में सकल घरेलू बचत को योजना अवधि में औसत के रूप में दर्शाया गया है। यह आकड़े CMIC की रिपोर्ट में प्रस्तुत किए गए है। इसमें बचतो के दो मोटे स्रोत निजी बचतें एवं सार्वजनिक बचतो के रूप में लिया गया है। तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र की औसत कुल बचते 169 करोड़ रु. थी तथा निजी क्षेत्र की 874 करोड़ रु. थी। यह कुल बचतो का लगभग 16.2% एवं 83.8% था। अत: प्रारम्भ से ही हमारी अर्थ व्यवस्था में निजी बचतो का अनुपात अधिक रहा। तृतीय एवं चौथी चोजना में निजी बचत का प्रतिशत घटकर 76.6% रहा लेकिन उसके बाद पांचवी योजना में पुन: 83% के पास हो गया था। सावती योजना के वर्ष 1987-88 तक निजी बचत का प्रतिशत 87.7% रहा है। आइए अब जरा इस बात का अध्ययन करें कि भारतीय अर्थव्यवस्था में स्रोतों के अनुसार बचत की क्या प्रवृत्ति रही है? स्रोतों के अनुसार बचतो के आकड़े जिन्हें तालिका-7.2 में दर्शाया गया है योजना आयोग के विभिन्न प्रतिवेदनों से लिए गए है। तालिका-7.2 से स्पष्ट है कि भारत में अधिकांश बचते परिवारों द्वारा प्राप्त होती है और सरकारी संस्थाएं तथा निजी निगम बहुत कम बचत करते है। पारिवारिक बचत पहली तीन योजनाओं में निरंतर बढ़ती रही। प्रथम योजना में पारिवारिक बचत कुल राष्ट्रीय आय की 4.9% थी जो द्वितीय योजना में बढ़कर 6.3% हो गई। तृतीय योजना की स्थिति और उत्पादकता में कमी के कारण यह घटकर 7.6% रह गई। पुन: चौथी एवं पांचवी योजना में इसमें बढ़ोत्तरी हुई जिससे यह प्रतिशत क्रमश: 12.21 एवं 15.90 रहा। छठी योजना में यह प्रतिशत 14.84 रहा। सातवी योजना के वर्ष 1988 तक के आंकड़ों के अनुसार पारिवारिक बचते कुल राष्ट्रीय आय की 17.17% थी।

इसी प्रकार सरकारी बचत प्रथम योजना में 1.2% थी जो द्वितीय एवं श्तीय योजनाओं में बढ़कर क्रमश: 2.17% एवं 2.59% हो गई। इसके बाद वार्षिक योजनाओं तथा चौथी योजना की अवधि में यह घटकर 1.69% एवं 1.94% रह गई। पांचवी योजना में सरकारी बचते पुन: बढ़कर 4.4% हुई जो कि सभी योजनाओं की तुलना से अधिकतम थी। छठी योजना में पुन: घटकर 3.64% रह गई तथा सातवी योजना के उपलब्ध आकड़ों के अनुसार इसका प्रतिशत 2.82 है। आठवीं एवं नौवीं योजना के आकड़ों के लिए योजना प्रारूप देखें।

तालिका-7.2 बचत एवं निवेश सफल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे (बाजार किमतों पर)

क्र.सं.	योजना	पारिवारिक बचते	निगमित बचते	सरकारी बचते	कुल बचते	विदेशी विंवेश	कुल निवेश

1	2	3	4	5	6	7	8
1.	प्रथम योजना	4.90	0.50	1.20	6.5	0.4	6.9
2.	द्वितीय योजना	6.31	0.82	2.17	9.3	3.4	12.7
3.	तृतीय योजना	8.18	0.44	2.59	11.2	2.6	13.8
4.	वार्षिक योजनाएं	7.61	0.25	1.64	9.5	1.3	10.8
5.	चौथी योजनाएं	12.21	0.85	1.95	15.0	0.7	15.7
6.	पांचवी योजना	15.90	0.50	4.40	20.8	0.4	20.4
7.	छठी योजना	15.84	1.63	3.64	20.1	1.5	21.6
8.	सातवीं योजना	17.17	1.83	2.82	21.82	-	23.82
9.	आठवीं योजना						
10.	नौवीं योजना						

स्रोत :(1) Five year plan Documents Planning Comission, Govt. of India.

(2) Economic Survey of the defferent years.

निगमित बचतो का प्रतिशत प्रारम्भ से ही कम रहा है। प्रथम योजना में यह 0.5% था और उसके बाद क्रमश: 0.8% 20.44%, 0.25%, 0.85% एवं 0.51% रहा। छठी योजना में इसका प्रतिफल बढ़कर 1.63 हो गया तथा सातवीं योजना में भी इसका अनुमान अधिक लगाया जा रहा है।

आर्थिक सर्वेक्षण 1987-88 के आकड़ों के अनुसार छठी योजना की अवधि (1980-81 सं 1984-85) में चालू कीमतों पर कुल बत 182972 करोड़ रु. थी - जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र की कुल बचत 33085 करोड़ रु. थी जो कि कुल बचत का 19.09% थी और निजी क्षेत्र की बचत 149887 करोड़ रु. थी जो कि कुल बचत का 81.91% थी। सातवीं योजना में कुल बचत का 77% निजी क्षेत्र से तथा लगभग 23% सावर्जनिक क्षेत्र से प्राप्त होने का अनुमान है।

7.11 विभिन्न योजना अवधियों में निवेश की प्रवृत्ति

जैसा कि आप जानते है कि कुल निवेश में घरेलू बचत के अतिरिक्त सरकार को भी विदेशी सहायता एवं विदेशी विनियोग आदि से धन प्राप्त होता है उसे भी जोड़ा जाता है। तालिका-7.2 के अंतिम स्तम्भ में कुल निवेश सकल राष्ट्रीय आय में प्रतिशत के रूप में दर्शाया गया है। इन आकड़ों से स्पष्ट है कि विपिन योजना अवधियों में निवेश की दर में निरन्तर वृद्धि होती रही है। प्रथम योजना अवधि में निवेश सकल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में 6.9% था। दूसरी पंच वर्षीय योजना के इसे बढ़ाकर 10.7% करने का अनुमान तथा लेकिन वास्तविक वृद्धि 12.7% हुई। तसरी योजना में निवेश बढ़ाकर 15% का लक्ष्य रखा गया था। जबकि वास्तविक निवेश दर 13.8% रही। वार्षिक योजनाओं के दौरान बचत के अनुरूप निवेश भी घटा और यह केवल 10.8% रह गया। निवेश की दर में गिरावट के कारण चौथी योजना में निवेश का लक्ष्य रा.आ. को केवल 13% रखा था। लेकिन वास्तविक दर 15.7% रही। पांचवी योजना में निवेश की अनुमानित दर 16.9 रखी गई। थी लेकिन एक बार फिर बढ़ी हुई वास्तविक

दर 20.4% थी। छठी योजना में निवेश 21.6% रहा। सातवीं योजना में निवेश का 22.9% होने का अनुमान है। लेकिन 1988 तक यह 23.82% था।

उपर्युक्त अध्ययन से पता चलता है कि हमारे देश मे स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में बचत एवं निवेश दोनों में निरंतर वृद्धि होती रही है। इसके लिए चाहे हम CSO या RBI के आंकड़ों ने दोनों ही बचत एवं निवेश में सापेक्ष वृद्धि को बदलाते है। आज बचत एवं निवेश का प्रतिशत लगभग 23 से 24 प्रतिशत है जो काफी संतोषजनक है। यह माना जाता है कि विकासशील देशों में विकसित देशों की तुलना में बचत का स्तर कम रहता है। विश्व बैंक के वार्षिक प्रतिवेदनों में दिए आकड़ों से ज्ञात होता है कि औद्योगिक एवं मध्य आय राष्ट्रों में बचत इनके राष्ट्रीय उत्पादन की औसतन 20% रहती है तथा अल्प आय वाले विकाशील राष्ट्रों की बचत दर लगभग 7-8% (भारत एवं चीन को छोड़ कर) रही। जापान में बचत दर लगभग 31% है। जिसका प्रमुख कारण वहां के लोगों को बचत करने का स्वभाव है। इन तथ्यों की तुलना करने पर स्पष्ट है कि भारत में भी बचत का स्तर अच्छा रहा है। पिछले वर्षों में बचत दर बढ़ने के निम्न मुख्य कारण माने जाते है।

(1) सरकार द्वारा आवश्यक जमा योजना को लागू करना।

(2) विदेशों में बसे भारतीयों द्वारा बचत का स्थानांतरण एवं विनियोग

(3) मध्य एवं उच्च आय वर्ग के लोगों की आय में बढ़ोत्तरी

(4) अकृषि क्षेत्रों का गतिमान होना।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारे देश में बचत का स्तर संतोषजनक है जो उत्पादन एवं विकास की दर में आशानुसार प्रगति क्यों नहीं हो रही हैं? यह एक विरोधाभास है। इसके कई कारण हो सकते है लेकिन मुख्यतः यह माना जाता है हमारी अर्थव्यवस्था में एक तो पूंजी-उत्पाद अनुपात अधिक है तथा दूसरे बचते अनुत्पादक क्षेत्रों में लग जाती है। इसके अलावा मूल्य वृद्धि उत्पादन का पुराना तरीका एवं अकुशल प्रबंध आदि महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही बढ़ती हुई जन संख्या द्वारा उत्पादन की सामान्य वृद्धि का उपयोग कर डालना है और विनियोजन में वृद्धि हेतु साधन उपलब्ध नहीं हो पाते।

बोध प्रश्न-3

(1) विकास शील राष्ट्रों में अधिक निवेश की आवश्यकता क्यों है?

(2) भारतीय योजना काल में बचत एवं निवेश की प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए। (

(3) "भारत में बचत दर उपयुक्त होने पर भी विकास दर संतोषजनक नहीं है।" क्या आप इससे सहमत है। अपना उत्तर कारण सहित स्पष्ट कीजिए।

7.12 सारांश

इस इकाई में मुख्य रूप से आपने बचत एवं निवेश के प्रतिमान एवं प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया है। प्रारम्भ में आपने बचत का अर्थ एवं मोटे रूप में उसके स्रोतों के बारे में अध्ययन किया। आपने देखा कि एक विकासशील देश में बचत से संबंधित क्या क्या समस्याएं है? जिनकी वजह से बचत कम होती है। अतः हमने उन उपायों की चर्चा की जिनकी बचत से घरेलू बचत को बढ़ाया जा सकता है किसी देश में घरेलू बचत के साथ कुछ बाह्य स्रोत भी कुल बचत को बढ़ाने में उपयोगी होते है। आपने यह भी जाना कि भारत में बचतों के मुख्य क्या स्रोत है?

बचत का उद्देश्य उसे निवेशित करना है अतः आपने निवेश के बारे में पढ़ा तथा देखा कि विकासशील राष्ट्रों में अधिक निवेश की आवश्यकता क्यों है?

अंत में हमने भारत की विभिन्न योजना अवधियों में बचत एवं निवेश की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया। हमने देखा कि किस प्रकार सार्वजनिक एवं निजी बचतों में परिवर्तन होते रहे। इस प्रकार बचत एवं निवेश को सकल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप निकाल कर अलग-अलग योजनाओं में इनकी क्या प्रवृत्ति रही का भी आपने अध्ययन किया। आपने देखा कि प्रथम योजना से सप्तम योजना काल तक बचत तथा निवेश में कुछ काल को छोड़कर उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। आजकल हम अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग 23 से 24 प्रतिशत तक बचाकर निवेश करते है लेकिन इसके बावजूद हम विकास की वांछनीय दर प्राप्त करने में सफल नहीं रहे है।

7.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एम.एल.झिंगन	विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन
शर्मा एवं वार्ष्णेय	विकास का अर्थशास्त्र एवं नियोजन
भण्डारी एवं जौहरी	भारत में आर्थिक नियोजन एवं प्रगति के सिद्धान्त
Mishra & Puri	Development Planning Theory and Practice
J.S. Uppal	India's Economic Problems An Analystic Approach
P.K. Mitra	Aggregate Saving of the Indian Economy
R.K Sinha	Economic Planning in India
Shetty S.L. & Menon K.A	Saving and Investment, Economic Times (New Delhi) 4, 5 & 6 Aug. 1980.

इकाई 8
पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं इसका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

8.0उद्देश्य
8.1प्रस्तावना
8.2पूंजी- उत्पाद अनुपात का अर्थ
8.3पूँजी-उत्पाद अनुपात के प्रकार
8.4पूँजी-उत्पाद अनुपात की विशेषताएं
8.4.1पूँजी-उत्पाद किन परिस्थितियों में अधिक या कम होंगे
8.5अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजी उत्पाद अनुपात
8.6पूँजी-उत्पाद अनुपात के अध्ययन व प्रयोग का महत्व
8.7भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात
8.8विभिन्न योजना अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात
8.9सारांश
8.10शब्दावली
8.11कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इससे पूर्व आप बचत एवं निवेश की प्रवृत्तियों के बारे में अध्ययन कर चुके है। इस इकाई में हम पूंजी-उत्पाद अनुपात के बारे में अध्ययन करेंगे। इसमें मुख्यतया हम देखेंगे कि पूंजी-उत्पाद का क्या तात्पर्य है तथा कई विकसित देशों में इसकी प्रवृत्ति क्या रहती है? भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात अलग-अलग योजना अवधियों में क्या रहा? इत्यादि। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बातें जान पायेंगे।

1. पूँजी-उत्पाद अनुपात किसे कहते है?
2. पूँजी-उत्पाद अनुपात के कौन-कौन से प्रकार है?
3. पूँजी-उत्पाद अनुपात किन परिस्थितियों में ज्यादा हों तथा किनमें कम
4. भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात की क्या प्रवृत्ति रही है?

8.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने बचत एवं विनियोग की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया है। बचत का मुख्य उद्देश्य उसे विनियोजित करना है तथा इससे पूँजी-निर्माण होता है। एक अर्थ-व्यवस्था के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि उसमें कितनी पूँजी लगाई गई है और उससे कुल कितना उत्पादन प्राप्त हुआ है? किसी भी देश की आर्थिक प्रगाति के अध्ययन में पूँजी-निर्माण एवं उत्पादन-वृद्धि में आनुपातिक संबंध को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है। इस अनुपात से ही हम किसी अर्थव्यवस्था के पूँजी-उत्पाद अनुपात का अनुमान लगा सकते है।

इसके अध्ययन के आधार पर ही अर्थव्यवस्था की प्रगति का ठीक-ठीक अनुमान लगाना संभव हो सकता है। नियोजित अर्थव्यवस्थाओं के नियोजन काल में कुल कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी का अनुमान लगाने के लिए भी पूँजी-उत्पाद अनुपात सहायक सिद्ध होते है। विभिन्न आर्थिक विकास के माँडलों में भी इस अनुपात को एक महत्वपूर्ण घटक माना है।

अब विभिन्न प्रश्न उठने स्वाभाविक है कि पूँजी-अत्पाद अनुपात किसे कहते है तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में इसकी क्या प्रवृत्ति रही है? पूंजी-उत्पाद अनुपात ज्यादा या कम कब होते है? इन अनुपातों की क्या सीमाएं है? इन्हीं सब जिज्ञासाओं का समाधान इस इकाई में किया गया है।

8.2 पूँजी-उत्पाद अनुपात का अर्थ

पूँजी-उत्पाद अनुपात निवेश के मूल्य तथा उत्पादन के मूल्य के बीच संबंध को व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ यदि 2000 रु, के विनियोग से 1000 रु. मूल्य का उत्पादन होता है तो पूँजी-उत्पादन अनुपात 2000:1000 या 2 :1 होगा। आर्थिक प्रगति के संदर्भ में पूँजी-उत्पादन अनुपात किसी निश्चित काल में पूँजी-वृद्धि एवं उसी काल की उत्पादन वृद्धि के अनुपात को कहते है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी विशिष्ट समय में केवल पूँजी से होने वाले उत्पादन का ही अनुपात ज्ञात किया जाता है। पूँजी-उत्पादन अनुपात वास्तव में उत्पादन में लगाए गए समस्त साधनों से उत्पन्न होने वाले उत्पादन का अनुपात होता है। कुछ अर्थशात्री पूँजी में भूमि को भी शामिल करने के पक्ष में है क्योंकि आजकल भूमि में प्रकृतिं का भाग कम व मानव सुधारों का भाग अधिक होता है। लेकिन साधारणतया पूँजी एवं मानव पूँजी (श्रम) को शामिल नहीं करते है। इस प्रकार इस प्रकार पूँजी-उत्पाद अनुपात विनियोग उत्पादन संबंध को बताता है जिसे कुल या वृद्धिमान के रूप में ले सकते है।

8.3 पूँजीउत्पाद का अनुपात के प्रकार-

आइए हम अब यह देखें कि पूँजी-उत्पाद अनुपात के क्या-क्या प्रकार है? आर्थिक विकास के साहित्य में निम्न दो प्रकार के पूँजी-उत्पाद अनुपात पाए जाते है :

(1) औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (Average Capital-output Ratio)

(2) वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात (Incremental Capital-Output Ratio)

(1) औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (ACOR)

औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात किसी समय विशेष में कुल उत्पाद को कुल पूजी से संबंधित करता है। J.Timbergen के शब्दों में "औसत पूँजी-उत्पादन अनुपात उस सबके साथ जो अतीत में निवेश किया गया है और समस्त भाव के साथ संबंध रखता है" इसे हम निम्न सूत्र के द्वारा ज्ञात कर सकते है :

$$\text{औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात} = \frac{\text{अर्थव्यवस्था में कुल पूँजी का मूल्य}}{\text{अर्थव्यवस्था का कुल उत्पादन}}$$

$$= \frac{\sum K}{\sum Y}$$

यहाँ K = पूंजी (Capital

Y = उत्पादन (Output)

(2) वृद्धिशील पूँजी उत्पाद अनुपात (ICOR) -

यह अनुपात विकास आयोजन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। यह अनुपात किसी वर्ष में होने वाले पूँजी निर्माण तथा इस पूँजी निर्माण से अगले समय में उत्पादित शुद्ध उत्पादन के संबंध को बतलाता है। दूसरे शब्दों में वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात (ICOR) उस संबंध को व्यक्त करता है जौ पूँजी के स्टक्र में हुई वृद्धि, ΔK छह द्वारा व्यक्ति कर सकते है, और उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त उत्पादम में वृद्धि ΔY ठा के बीच होता है.। इसी गणना निमवत की जाती है :

$$\text{वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात} = \frac{\text{किसी काल में शुद्ध पूँजी–निमांण}}{\text{उसी काल में शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि,}}$$

$$= \frac{\Delta K}{\Delta Y}$$

वैसे तो किसी पूँजी-विनियोग से प्रतिफल कुछ समय बाद ही मिलता है परन्तु गणना की सुविधा के लिए हम इस संबंध को उसी काल के उत्पादन से संबंध के रूप में निकाल देते है।

औसत एवं वृद्धिगत पूँजी अनुपान को चित्र द्वारा भी समझा जा सकता है।

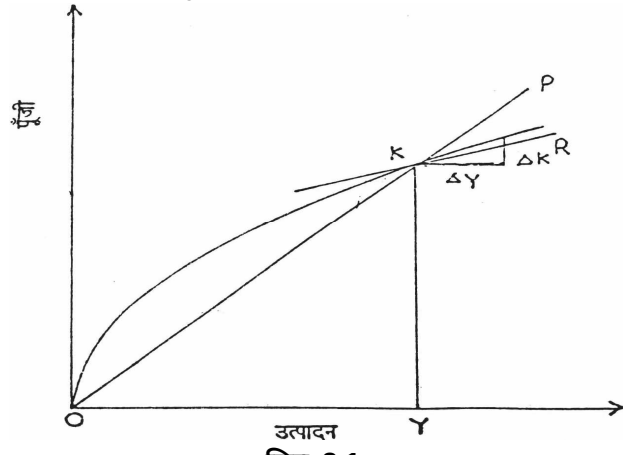

चित्र 8.1

उपर्युक्त चित्र नं. 8.1 में क्षैतिज अक्ष पर उत्पादन तथा अनुलम्ब अक्ष पर पूँजी के लिए गए है। पूँजी और उत्पादन के साथ संबंध स्थापित करने वाला फलन OKY है तथा OP रेखा (45^0 अक्ष पर) इस फलन को K बिंदु से काटती हुई गुजरती है। इस फलन के किसी भी बिन्दु पर औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (ACOR) को ज्ञात करने के लिए कुल पूँजी में कुल उत्पादन का भाग देने से प्राप्त हो जाएगा। अत: K बिन्दु पर ACOR=KY/OY है। तथा वृद्धिगत पूँजी-उत्पादन अनुपात (ACOR) इस फलन पर किसी भी बिन्दु पर निकाला गया ढाल (Slope) है। अत: पुन: बिंदु K पर इस फलन का ढाल $\Delta K / \Delta Y$ है। जिसे ICOR कहा जाएगा।

यहां अब एक प्रश्न और उठता है कि पूँजी-उत्पाद अनुपात को निकालने के लिए हम जिस पूँजी को लेते है वह घिसावट निकालकर (Depereciated) ले या बिना घिसावट निकाल कर (Underpereciated) ले। इस पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। कुजनेट घिसावट निकालकर पूँजी लेने के पक्ष में है तो लियन्तीफ बिना घिसावट की पूँजी लेने के पक्ष में है। लेकिन एक बात यहाँ स्पष्ट

है कि अगर घिसावट निकालकर पूँजी-उत्पाद अनुपात निकाला जायेगा तो वह गिरेगा, कम मूल्य पर ही उसे निकाला जायेगा तो वह अधिक रहेगा। अब जब हम पूँजी-उत्पाद अनुपात के कम और ज्यादा होने की बात कर रहे है तो आपकी यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यह किन परिस्थितियों में कम या ज्यादा होते है? इस बात का विवेचन आगे हम इनकी विशेषताओं के अंतर्गत करेंगे।

बोध प्रश्न-1

1. पूँजी-उत्पाद अनुपात से आप क्या समझते है?
2. पूँजी-उत्पाद अनुपात को विनियोजन का आधार क्यों बनाया जाता है?
3. औसत एवं वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात को सूत्र द्वारा समझाइये।

8.4 पूँजीउत्पाद अनुपात की विशेषताएं-

पूँजी-उत्पाद अनुपात सामान्यतः स्थिर नहीं रहते है। विशेषकर विकासशील राष्ट्रों में यह अनुपात निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि विकास के बढ़ते चरणों के साथ-साथ तकनीकी अभिनवीकरण भी होता रहता है और नवीन तकनीकी के उपाय से कम पूँजी पर अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न देशों में पूँजी-उत्पाद अनुपात अलग-अलग रहते है तथा यह देश की आर्थिक स्थिति के साथ-साथ बदलते भी रहते है। एक ही देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों (Sectors) में भी पूँजी उत्पाद अनुपात अलग-अलग रहते है। इसके अतिरिक्त एक ही क्षेत्र में समयान्तर से यह अनुपात घट जाते है या बढ़ जाते है। अतः एक अनुपात एक देश के लिए किसी समय विशिष्ट के लिए ही लागू हो सकता है तथा इसे हम स्थिर नहीं मान सकते। अब हम संक्षेप में इस बात का विवेचन करें कि किन परिस्थितियों में यह अनुपात अधिक रहते है तथा किन परिस्थितियों में कम रहते है।

8.4.1 पूँजी-उत्पाद अनुपात किन परिस्थितियों मे अधिक या कम होंगे : -

पूँजी-उत्पाद अनुपात निम्न परिस्थितियों में अधिक रहेंगे

(1) यदि किसी देश में औद्योगीकरण बड़े पैमाने पर शुरू किया गया हो तथा यदि में भारी उद्योगों की स्थापना हो रही हो तो यह अनुपात ज्यादा होगा। भारी उद्योगों में अधिक धन लगाया जाता है और यह आधा की जाती है कि धीरे-धीरे विनियोग कम होगा। लेकिन यदि विकास के साथ-साथ पूँजी गहन (Capital Intensive) तकनीक अपनाई जाती है तो पूँजी उत्पाद अनुपात घटेगा नहीं वरन् बढ़ता जाएगा। अमेरीकी अर्थव्यवस्था इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(2) अगर उद्योगों का फलदायक काल (Gestation Period) अधिक हो तो पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होगा।

(3) अगर किसी देश में उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार कार्य नहीं कर रहे हो अर्थात् देश में अतिरिक्त क्षमता हो जिसका उपयोग नहीं हो रहा है तो भी पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक रहेंगे।

(4) अगर देश में विकास के लिए या अन्य किसी कारण (जैसे युद्धोपरान्त या बाढ़ व भूकम्प की बरबादी के बाद) सार्वजनिक निर्माण या सार्वजनिक सेवा उद्योगों में विनियोजन हो रहा हो तो पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होगा। कई देशों में विकास की प्रमम्मिक अवस्थाओं में स्कूल, अस्पताल, सड़के, रेले तथा बिजली हत्यादि की सामाजिक एवं आर्थिक ऊपरी सुविधाएं प्रदान करने के उद्देश्य से, अल्प

विकसित देशों को बड़े निवेश की आवश्यकता पड़ती है जिसकी वजह से पूँजी-उत्पाद अनुपात ऊँचा होता है।

(5) अल्प विकसित देशों में पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होने का एक कारण व्याज की दर अधिक होना भी है। क्योंकि पूँजी अधिक व्याज पर उपलब्ध होती है अतः पूँजी की कीमत अधिक लगती है और यह अनुपात ज्यादा हो जाता है।

(6) यदि उत्पत्ति में ह्वास नियम लागू हो रहा: हो तो उत्पादन कम होता है जिसके कारण भी पूँजी-उत्पाद अनुपात बढ़ जाता है।

पूँजी-उत्पाद अनुपात कब कम होते है?

पूँजी उत्पाद अनुपात उस समय कम होते है जबकि पूँजी कम लगे और उत्पादन अधिक हो। इस प्रकार जो परिस्थितियां ऊपर व्यक्त की गई है उनके विपरीत स्थितियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात कम होता है। संक्षेप में यह स्थितियां इस प्रकार है :

(1) अगर उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार उत्पादन कर रहे हो अर्थात उत्पादन क्षमता का दुरुपयोग नहीं हो रहा हो।

(2) अगर किसी देश में उत्पादन की श्रम गहन (Labour Intensive) एवं सस्ती तकनीक अपनाई गई हो।

(3) अगर देश में कृषि व छोटे उद्योगों में अधिक विनियोजन हो रहा हो तो भी पूँजी-उत्पाद अनुपात कम रहेंगे।

(4) अगर देश में तकनीक या अन्य कारणों की वजह से श्रम उत्पादकता (Labour Productivity) अधिक हो,

(5) अगर उद्योगों का फलदायक काल शीघ्र प्रारम्भ हों रहा हो,

(6) अगर उत्पादन में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हों रहा हो।

8.5 अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजीउत्पाद अनुपात-

ऊपर आपने देखा कि किन स्थितियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात कम या ज्यादा होते है। अब प्रश्न यह उठता है कि किसी अल्प विकसित राष्ट्र के लिए इस अनुपात की आदर्श स्थिति क्या होनी चाहिए? संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों के रुप ने अपने अध्ययन में 2 : 1 से लेकर 5:1 तक के अनुपात का प्रयोग किया था। 'प्रो.सिंगर ने अपने आर्थिक विकास के माडल में कृषि क्षेत्रों में 4 : 1 तथा अकृषि क्षेत्रों में 6 : 1 एवं.औसत अनुपात 5 : 1 का माना है। एक अन्य विकास अर्थशास्त्री रोसन्टीन रोडान के अनुसार यह अनुपात कम से कम 3 : 1 तथा अधिक से अधिक 4 : 1 होता है। इस प्रकार डा.एच.के.मनमोहन सिंह के अनुसार देशों में इस अनुपात का प्रसार 2 : 9 : 1 तथा 4 : 1 के मध्य रहता है और अल्प विकसित देशों में यह अनुपात 1 : 5 : 1 और 2 : 1 के बीच कल्पित किया गया है। अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत है कि पूँजी-उत्पाद अनुपात पहले बढ़ता है फिर विकास की क्षमता बढ़ने पर घटता है और दीर्घकाल में कुछ अर्थव्यवस्थाओं में यह स्थिर भी हो जाता है। इन अर्थशास्त्रियों में कोलिन क्लॉक, साइमन कुजनेटस तथा लीवस्यीन प्रमुख है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि ये निष्कर्ष अधिकांश विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के अनुभव के आधार पर लिए गए है। फिर भी यह निष्कर्ष अल्पविकसित देशों के सामान्य व्यवहार को समझने में बहुत उपयोगी सिद्ध

हो सकते है। उदाहरणार्थ भारतीय उद्योगों के संबंध में अपनी संगणनाओं तथा विकसित देशों के उद्योगों के साथ तुलना करने पर वी वी भट्ट ने पाया कि दोनों ही प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ में पूँजी -उत्पाद अनुपात लगभग एक जैसा ही होता है। अनेक देशों का अनुभव बताता है कि यह अनुपात औसतन 3 : 1 तथा 4 : 1 के बीच रहता है। अर्थशास्त्रियों के बीच विभिन्न चर्चाओं के आधार पर हम विकासशील देशों के बारे में दो प्रमुख निष्कर्ष निकाल सकते है :

(1) विकासशील देशों के अल्पकाल में कम पूँजी-उत्पाद अनुपात की स्थिति आकर्षक लग सकती है परन्तु दीर्घ काल में अधिक पूँजी-उत्पाद अनुपात को टाला नहीं जा सकता है फिर भी कोशिश यही रहनी चाहिए कि विकास के अन्य लक्ष्यों को साधने के साथ-साथ यह अनुपात कम रहे।

(2) विकास के साथ-साथ पूँजी-उत्पाद घट भी सकता है और बढ़ भी सकता है। विकास के साथ-साथ अगर पूँजी गहन व पूँजी विस्तार दोनों चल रहे हो तो पूँजी की आधिकता से पूँजी उत्पाद अनुपात बढ़ेगा। यह अनुपात धीरे-धीरे उत्पादकता बढ़ने पर घट भी सकता है। परन्तु जो भी प्रकृति होगी व न तो स्थायी होगी और न ही दीर्घकालीन डोमर के इस आचराण को चित्र 8.2 द्वारा स्पष्ट किया है :

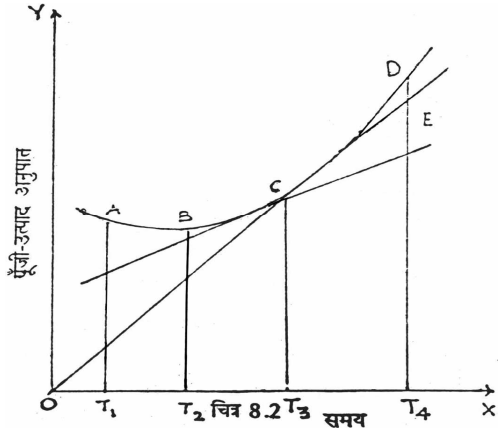

चित्र 8.2

उपर्युक्त चित्र में क्षितिज अक्ष (OX) पर समय है तथा अनुलम्ब अक्ष पर पूँजी-उत्पाद अनुपात है। पूँजी-उत्पाद अनुपात वक्र पहले घटता है और पुन : बढ़ने की प्रवृत्ति रखता है। $OT_1OT_2OT_3$ आदि समय बिन्दु है। अवर बिन्दु के बाद भी 'पूँजी-उत्पाद वक्र बनाया जाए तो वह आगे चपटा हो सकता है तथा फिर घट सकता है।

8.6 पूँजीउत्पाद अनुपात के अध्ययन व प्रयोग का महत्व-

जैसा कि ऊपर.बताया गया है कि पूँजी-उत्पाद अनुपात का प्रयोग हम देश में पुँजी निर्माण की मात्रा निर्धारित करने के लिए करते है : इस अनुपात की गणना करने में कठिनाई अवश्य होती है परन्तु इनके प्रयोग से हम अनुमानित विनियोजन द्वारा होने वाले उत्पादन की सम्भावना व्यक्त कर सकते है। कुछ अर्थशास्त्रियों का इस संबंध में यह विचार है कि विकासशील राष्टों में.इस अनुपात की गणना करना सम्भव नही होता है, क्यांकि लागत एवं उत्पादन संबंधी समंक पर्याप्त मात्रा एवं शुरू रूप मे उपलब्ध नहीं होते हैं। अगर अपर्याप्त समकों के आधार पर कोई अनुपात निकाला भी गया तो उससे निकाले गए अनुमान सही नही होंगे। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि एक अनुपात किसी विशिष्ट समय क्रे लिए हो लागू होता है। इससे किस प्रकार परिवर्तन हो सकते है इसका अध्ययन.हम

कर.चुके है। इन परिवर्तनों की वजह से अल्पकाल में पूँजी-उत्पाद अनुपात बहुत अस्थिर होते है परंतु दीर्घकालिक आयोजन में हम इनका अच्छा प्रयोग कर सकते है। हैरोड-डोमरत ने अपने प्रगति के माडल में इस अनुपात का प्रयोग किया है। इस मॉडल के द्वारा निर्धारित विकास की दर को प्राप्त करने के लिए पूँजी की आवश्यकता को निर्धारित करने में सहायक होता है। इसी प्रकार पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं बचत-आय अनुपात ज्ञात होने पर अर्थ-व्यवस्था की प्रगति की दर भी ज्ञात की जा सकती है। इसके विपरीत, पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं प्रगति दर ज्ञात होने पर बचत आय अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। किसी अर्थ व्यवस्था के बचत-मात्र अनुपात ज्ञात हो जाने पर उस अर्थ-व्यवस्था के लिए कितनी बाह्य सहायता की आवश्यकता होगी का अनुमान लगाया जा सकता है।

इसके अलावा पूँजी-उत्पाद अनुपात द्वारा अर्थव्यवस्था के भिन्न-भिन्न उद्योगों का क्षेत्रों में पूँजी गहनता का अनुमान लगाने के लिए भी उपयोग किया जाता है। इससे हमें नियोजन की प्राथमिकता निर्धारित करने में सहायता मिलती है। इस अनुपात के दीर्घकालीन अध्ययन से हम यह जान सकते है कि अर्थव्यवस्था के किन क्षेत्रों में निवेश की मात्रा में वृद्धि तथा किन क्षेत्रों में कमी की जानी चाहिए।

बोध प्रश्न-2

1. पूँजी-उत्पाद अनुपात किन परिस्थितियों में कम या अधिक होते है?
2. अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजी-उत्पाद अनुपात की क्या प्रकृति रहती है?

8.7 भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात

आप जानते है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है अर्थात भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का प्रमुख स्थान है। राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग आधा भाग कृषि क्षेत्र से उपलब्ध होता है। हमारे देश के कृषि क्षेत्र में सामान्यतः श्रम प्रधान तकनीकी का ही उपयोग किया जाता है जिससे इस क्षेत्र में पूँजी-उत्पाद अनुपात कम रहता है। कृषि के साथ ही रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने के लिए हमारे देश में लघु एवं ग्रामीण क्षेत्र के विस्तार एवं विकास को भी प्राथमिकता दी गई है। इस क्षेत्र में भी पूँजी-उत्पादन अनुपात कम रहता है। इस प्रकार देखने से ऐसा लगता है कि भारत की राष्ट्रींय आय में ऐसे क्षेत्रों का योगदान अधिक है जिनमें पूँजी-उत्पाद अनुपात कम रहता है। लेकिन गणना करने पर जो अनुपात आता है वह ऊँचा पाया गया है। अत: अगर इस अनुपात की प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन करना है तो हमें इसे विभिन्न अवधियों में देखना होगा। सर्वप्रथम हम इस अनुपात की प्रवृत्ति का अध्ययन 1951-52 से 1976-77 की समयावधि से करेंगे। इस काल के लिए प्रो.वी.के.आर.वी.राव ने अपने एक अध्ययन' में भारत में पूँजी उत्पाद अनुपात के बारे में जो आकड़े प्रस्तुत किए है वह तालिका 8.1 में दिए गए है। इस तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि 1951-52 से 1959-60 के दशक में स्थिर मूल्य पर वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद में काफी उच्चावन (Fluctuations) होते रहे। वर्ष 1957-58 में यह अनुपात ऋणात्मक था जो यह व्यक्त करता है कि इस वर्ष स्थिर मूल्यों पर उत्पादन में कमी हुई थी। इसके बाद वर्ष 1965-66 एवं 1972-73 में भी यह अनुपात ऋणात्मक था जो सम्भवत: दोनों संदर्भ वर्षों में पाकिस्तान से युद्ध के कारण उत्पादन पर पड़े असर के कारण रहा होगा। तालिका से स्पष्ट है कि 1960 से 1977 तक भी बहुत उच्चावचन का रहा है। क्योंकि वृद्धिगत पूँजी उत्पाद अनुपात में वर्ष-प्रतिवर्ष अधिक परिवर्तन होता रहा जिससे किसी विशेष प्रवृत्ति का बोध नहीं होता है। इस समयावधि में यदि औसत अनुपात की प्रवृत्ति का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वर्ष 1952-53

से यह अनुपात घटता चला गया। वर्ष 1956-57 के बाद से इसमें उच्चावचन होते रहे जो वर्ष 1961-62 तक चले। वर्ष 1961-62 के बाद इस अनुपात में कुछ वर्षों को छोड़ कर उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही इस प्रकार औसत पूँजी उत्पाद अनुपात में क्रमागत वृद्धि की प्रवृत्ति रही। यह इस बात का प्रतीक है कि अर्थव्यवस्था में ऐसा विनियोग किया गया जो पूँजी-प्रधान था और जिसके परिपक्व होने में अधिक समय लगा। इसके अतिरिक्त, कृषि क्षेत्र में मानसून की परिस्थितियों में परिवर्तन होने से उत्पादन में उच्चावचन होते रहे है जिससे पूँजी-उत्पाद अनुपात में परिवर्तन होता रहा। औसत पूँजी-उत्पाद का औसत प्रथम दशक में 2.67, द्वितीय दशक में 2.87 तथा तृतीय दशक के सात वर्षों में 3.33 रहा है। औसत पूँजी-उत्पाद के निरंतर वृद्धि होते रहना भविष्य के विकास के लिए अवरोधक सिद्ध हो सकता है। इसे स्थिर रखने के प्रयास किए जाने चाहिए। पूँजी की वृद्धि के उपयोग के प्रकार का अध्ययन करके-ऐसे क्षेत्रों में निवेश किया जाना चाहिए जिससे उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि की जा सके।

---

* हैराड -माडल का मुख्य समीकरण -GW=σ/Cr है। जिसमें GW = बिकास दर (growthrate) σ = बचत आय अनुपात एवं Cr= पूँजी-उत्पाद अनुपात (Captial output ratio) है। आदि किसी अर्थव्यवस्था में पूँजी उत्पाद अनुपात 4 है और बचत आम अनुपात 12% है तो हैराड़ सूत्र के अनुसार वृद्धि दर 12/4 =3% होगी।

1. Rao,V.k.r.v.”Savings capital formation and National Income ‘”Economic and Political Weekly May,1980.

तालिका-8.1-भारत मे पूँजी-उत्पाद अनुपात

वर्ष	स्थिर मूल्य (1960-61) पर वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात	औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात (चालू मूल्यों पर)
1951-52	8.00	2.71
1952-53	3.18	2.73
1953-54	1.91	2.63
1954-55	4.11	2.61
1955-56	4.91	2.60
1956-57	3.78	2.57
1957-58	(-) 14.22	2.77
1958-59	1.95	2.70
1959-60	7.50	2.74
1960-61	2.79	2.67
1961-62	4.37	2.60
1962-63	7.17	2.67
1963-64	6.61	2.67
1964-65	2.64	2.62
1965-66	(-) 4.73	2.92
1966-67	16.64	3.08
1967-68	2.47	2.99
1968-69	5.38	3.05
1969-70	3.89	3.03
1970-71	4.89	3.06
1971-72	10.18	3.11
1972-73	(-) 27.40	3.30
1973-74	4.85	3.35
1974-75	27.35	3.43
1975-76	2.72	3.42
1976-77	11.52	3.44

8.8 विभिन्न योजनाउत्पाद अनुपात -अवधियों में पूँजी -

अब हम पूँजी-उत्पाद का विभिन्न योजना अवधियों में विश्लेषण करेंगे। ऊपर किए गए विवेचन के अनुरूप विभिन्न अवधियों में भी पूँजी-अनुपात में काफी उच्चावचन होते रहे है। ये उच्चावचन विकास की प्रक्रिया तथा विनियोजन की संरचना में परिवर्तन के कारण है। इसके अलावा सिंचाई एवं खनिज के क्षेत्रों में भी लागत के बढ़ने एवं उत्पादन क्षमताओं की पूर्णतया एवं कुलशतम उपयोग न करने के

कारण भी यह अनुपात बढ़े है। विभिन्न योजनाओं की अवधि में वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात तालिका 8.2 में दर्शाये गए है।

तालिका- 8.2 भारत मे विभिन्न योजना- अवधियों मे वृद्धिगत सकल पूँजी-उत्पाद अनुपात (1970-71 के मूल्यों पर)

क्र.सं	योजना	अवधि	अनुमानित वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात	वास्तविक वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात
1	प्रथम योजना	1951-52 से 1955-56	3 .0	3.21
2.	द्वितीय योजना	1956-57 से 1960-61	2.3	4.13
3	तृतीय योजना	1961-62 से 1965-66	2.6	5.42
4	वार्षिक योजना	1966-67 से 1968-69	2.0	4.85
5.	चौथी योजना	1969-70 से 1973-74	2.0	5.68
6	पांचवी योजना	1974-75 से 1978-79	2.5	3.82
7.	छठी योजना	1980-81 से 1984-85	5.6	5.40
8.	सातवीं योजना	1985-86 से 1989-90	6.0	अनुपलब्ध

स्रोत : (1)A Technical Note on the Sixth Plan of India,Planning Commission,Govt of India July 1981

(2) A Technical Note on the Seventh Plan of Indian,Planning Commsission,Govt.of Indian,June 1986.

तालिका 8.2 से स्पष्ट है कि प्रथम योजना काल में अनुमानित वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद 3.0 था लेकिन वास्तविक अनुपात 3.21 रहा। इसी प्रकार द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में अनुमानित अनुपात 2.3 एवं 2.6 था लेकिन वास्तविक अनुपात क्रमश: 4.13 एवं 5.42 रहा। इन दोनों अवधियों में वास्तविक अनुपात अधिक था। वार्षिक योजना काल 1966-67 से 1968-69 में वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात 4.85 था। चौथी एवं पांचवी योजनाओं में पुन: अनुमानित अनुपात 2.0 एवं 2.5 था लेकिन वास्तविक अनुपात 5.68 एवं 3.82 रहा। पांचवी योजना में यह अनुपात: घटा लेकिन छठी योजना में पुन: यह बढ़कर 5.40 हो गया। छठी योजना (1980-85) में विभिन्न क्षेत्र में उपलब्ध विनियोजन एवं वृद्धिगत सफल राष्ट्रीय उत्पादन के आकड़ों के आधार पर हम अलग-अलग क्षेत्रों में पूँजी-उत्पाद अनुपात की भी गणना कर सकते है। यह अनुमानित आकड़े तालिका 8.3 में प्रस्तुत है। तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि छठी योजना में विद्युत एवं गैस के क्षेत्रक को अनुपात में तीव्र वृद्धि होने का अनुमान था क्योंकि इस क्षेत्र में भारी पूँजी विनियोजन किया जाना था। कृषि क्षेत्र में भी इस योजना के पूर्व अनुपात 3.92 था लेकिन जिसे बढ़ाकर 4.74 अनुमानित किया गया। कृषि यन्त्रीकरण के विस्तार के कारण इस अनुपात में वृद्धि होना स्वाभाविक था। खनिज एवं निर्माण क्षेत्र में यह अनुपात 6.91 था जो कि इसके पूर्व वाले वर्षों के अनुपात 8.67 से कम था अर्थात इन क्षेत्रों में कम अनुपात होने

की सम्भावना थी। छठी योजना का औसत अनुमानित अनुपात 8.67 था लेकिन इस अवधि में वास्तविक अनुपात 5.4 था। इस प्रकार पहली बार अनुमानित अनुपात से वास्तविक अनुपात कम रहा।

तालिका-8.3 छठी योजना में अनुमानित विभिन्न वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात

क्र.सं	क्षेत्रक	विनियोजन बाजार मूल्यों पर (करोड़ रु.)	वृद्धिगत सफल राष्ट्रीय उत्पादन	वृद्धिगत पूँजी-उत्पाद अनुपात
1.	कृषि	33 ,468	7,049	474
2.	खनिज एवं निर्माण	52,090	7,540	6.91
3.	निर्माण	1,760	1,389	1.26
4.	विद्युत एवं गैस	23,554	686	34.33
5.	परिवहन संचार एवं व्यापार	26,255	6,733	3.90
6.	अन्य क्षेत्र	21,583	4,602	4,69
	योग	21,583	4,602	4.69

स्त्रोत : A Technical Note on the Sixth Plan Of India,Planning Commission,Govt.Of India,July 1981.

सातवीं योजना के परिचय प्रतिवेदन में इस योजना में पूँजी-उत्पाद अनुपात 6 : 1 अनुमानित है। इसका तात्पर्य है कि एक इकाई के उत्पादन के लिए छ : इकाई पूँजी की आवश्यकता होगी : सातवी योजना में सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 5.2 : प्रतिवर्ष की वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जबकि बचत दर 26% अनुमानित है। इस योजना अवधि के बारे में विस्तृत जानकारी एवं आठवीं तथा नौवीं योजना के आकड़ों को विद्यार्थी स्वयं संग्रह करे। इसके लिए आठवीं एवं नौवीं योजना के प्रारूप का अध्ययन करें।

इन सभी योजना अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात की प्रवृत्ति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि हमें राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि के लक्ष्य को पूरा करना हें तो पूँजी-उत्पाद अनुपात को स्थिर रखना होगा एवं बचत दर में वृद्धि करना होंगा। केवल उन क्षेत्र कों में जहां आवश्यकता है इस अनुपात को अधिक रखा जा सकता है। आठवीं योजना पूरी हो चुकी है एवं नौवीं योजना 1997-2002 प्रगति पर है।

पूँजी उत्पाद अनुपात अपनी सीमाओं के बावजूद आजकल आयोजन तकनीक के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। भारत में पिछली सभी योजनाओं में इस अनुपात का प्रयोग किया गया है। इसको गणना की विधि में भी सुधार हुआ है। इस अनुपात की पूर्वकथनीयता (Predictability) कम है परन्तु अल्पकाल की अपेक्षा दीर्घकाल में यह अधिक सार्थक परिणाम उत्पन्न करता प्रतीत होता है। यह आर्थिक विकास में पूँजी के महत्व की ओर ध्यान आकर्षित करने में विश्लेषणात्मक रूप से उपयोगी है।

बोध प्रश्न-3

1. 'आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में पूँजी-उत्पाद अनुपात अधिक होता है तथा बाद में कम होता है"। भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात की प्रवृत्ति देखते हुए क्या आप इस कथन से, सहमत है?
2. भारत में विभिन्न योजना अवधियों में पूँजी-उत्पाद अनुपात का विश्लेषण कीजिए।

8.9 सारांश

इस इकाई में आपने पूँजी उत्पाद अनुपात एवं उसके बारे में अध्ययन किया है। प्रारम्भ में हमने पूँजी-उत्पाद अनुपात के अर्थ की व्याख्या की। मोटे रूप से यह अनुपात हमें किसी अर्थ व्यवस्था के समय विशेष के लिए विनियोग एवं उत्पाद के संबंध को बताता है। इस अनुपात के मुख्य दो प्रकार होते है-(1) औसत पूँजी-उत्पाद अनुपात एवं (2) वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात। विकास आयोजन में वृद्धिशील पूँजी-उत्पाद अनुपात का अधिक महत्व है।

इसके बाद हमने उन परिस्थितियों एवं कारणों की चर्चा की जिसकी वजह से यह अनुपात किसी अर्थव्यवस्था में कम या अधिक होते है इसके साथ ही हमने यह भी देखा कि अल्पविकसित राष्ट्रों में इस अनुपात की क्या प्रवृत्ति रहती है तथा साधारणतया यह किस सीमा में पाए जाते है? संक्षेप में हमने पूँजी-उत्पाद अनुपात के अध्ययन एवं प्रयोग का क्या महत्व है की भी चर्चा की।

अंत में हमने भारत में पूँजी-उत्पाद अनुपात की क्या प्रवृत्ति है का अध्ययन किया। विशेषकर अलग-अलग योजना अवधियों में इस अनुपात में किस प्रकार परिवर्तन होते रहे का विश्लेषण किया। भारत की योजनाओं में इस अनुपात का बहुत महत्व रहा है।

8.10 शब्दावली

(1) Average capital output Ratio (ACOR)

(2) Incremental capital output Ratio (ICOR)

8.11 उपयोगी पुस्तकें

(1) एम एल.झिंगन	विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन
(2) ओ एस.श्रीवास्तव	विकास, व्यापर चक्र एवं नियोजन का अर्थशास्त्र।
(3) विष्णुदत्त नागर एवं रामप्रसाद गुप्त	आर्थिक विकास के सिद्धान्त एवं समस्याएं
(4) आर.एल.गोयल	विकास का अर्थशास्त्र
(5) शर्मा एवं वार्ष्णेय	विकास का अर्थशास्त्र एवं नियोजन
(6) Mishra &Puri	Development &Planning Theory and Preach.
(7) H.K.Manmohan Singh	Demand Theory and Economic Calculation in a Mixed Economy.
(8) J.S.Uppal	India's Economic Problem-AnAnalytical Approach
(9) J.Tinbergen	Development Planning
(10) W.A. Lewis	Development Planning
(11) V.V. Bhatt	Employment and Capital Formation in underdeveloped Economy

इकाई 9

भारत में निर्धनता व असमानता आकार, प्रकृति, कारण तथा इनको कम करने के उपाय

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 निर्धनता का अर्थ, आकार व प्रकृति

9.2.1 निर्धनता-रेखा किसे कहते है?

9.2.2 निर्धनता का आकार अथवा निर्धनता एवं प्रवृत्तियां (Trends)

9.2.3 निर्धनता की प्रकृति

9.3 निर्धनता के कारण

9.3.1 ग्रामीण निर्धनता के काररण

9.3.2 शहरी निर्धनता के कारण

9.4 निर्धनता कम करने के सरकारी उपाय

9.4.1 विभिन्न निर्धनता-उन्मूलन-कार्यक्रमों का संक्षिप्त परिचय व प्रगति

9.4.2 कार्यक्रमों का मूल्यांकन व कमियाँ

9.5 निर्धनता-उन्मूलन के लिए सुझाव

9.6 असमानता का अर्थ, आकार व प्रकृति

9.6.1 असमानता का अर्थ-आय के वितरण की असमानता

9.6.2 आय की आसमानता का आकार व माप

9.6.3 असमानता की प्रकृति

9.7 आय की असमानता के कारण

9.8 आय की असामानता को कम करने के संबंध में सरकारी उपाय

9.9 आय की असामानताओं को कम करने के लिए सुझाव

9.10 सारांश

9.11 शब्दावली

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.13 अभ्यासों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में निर्धनता व असमानता से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा। नियोजित विकास के कई उद्देश्य होते है, जैसे विकास की दर से ऊँचा करना, आत्म-निर्भर विकास की ओर अग्रसर होना,निर्धनता का उन्मूलन करना, धन व आय की असमानताओं को कम करना,

अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण करना, विकास में क्षेत्रीय या प्रादेशिक असंतुलन कम करना, आदि। इन उद्देश्यों में निर्धनता- उन्मूलन व आय की असमानताओं को कम करने पर सामाजिक कारणों से अधिक बल दिया जाता है। इन समस्याओं को हल करने के लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि निर्धनता को कैसे परिभाषित किया जाता है, निर्धनता की रेखा कैसे जानी जाती है, देश में कौन लोग अधिक निर्धन है, निर्धनता के कारण क्या है और इसको दूर करने के लिए सरकार ने योजनाओं में क्या उपाय किये है तथा इस दिशा में क्या उपलब्धियां रही है? आजकल सामाजिक न्याय के साथ विकास ' पर जोर दिया जाता है ताकि विकास के लाभ सर्वसाधारण तक पहुंच सकें । इसके लिए आर्थिक असमानता व विशेषकर आय की असमानताओं को कम करने के उपाय भी अपनाये जाते है । इसलिए आय की असमानता के माप की आवश्यकता होती है । साथ में असमानता के कारणों का अध्ययन किया जाता है तथा इसको कम करने के सरकारी उपायों की समीक्षा की जाती है ताकि भविष्य में असमानताओ को कम करने की दिशा में तेज गति से प्रगति की जा सके।

इस इकाई के अध्ययन से निर्धनता व असमानता के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त होगा जो नियोजन की सफलता का आंकलन करने के लिए बहुत आवश्यक माना जाता है।

9.1 प्रस्तावना

भारत में 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' के दायरे में आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया गया है । इसमें सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों का विकास का समुचित अवसर दिया गया है । इस प्रकार हमारे देश में दी हुई सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों के अंतर्गत बेरोजगारी, गरीबी व असमानता की समस्याओं को हल करने का प्रयास किया जा रहा है । बेरोजगार लोगों को काम देकर तथा निर्धन लोगों की आमदनी बढ़ा कर उनका जीवन-स्तर ऊँचा करने के प्रयास किये जा रहे है । निर्धन व्यक्तियों को परिसम्पत्तियां (assets) देने के कार्यक्रम भी लागू किये गये है ताकि उनके लिए स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न हो सके । उनके लिए मजदूरी पर रोजगार देने के कार्यक्रम भी लागू किये गये है। सरकार ने गरीबों के कल्याण के लिए शिक्षा, चिकित्सा व पोषण के कार्यक्रम भी अपनाये है। इस प्रकार आर्थिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना निर्धनों की दशा सुधारने की कोशिश की जा रही है। साथ में आय की असमानता को कम करने के भी कई उपाय किये गये है ताकि आगे चल कर समतावादी व न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हो सके ।

निर्धनता व असमानता समाज के लिए अभिशाप है, और सरकार का यह दायित्व है कि वह उनको दूर करने का भरसक प्रयास करें, तभी विकास के लाभ समाज के सभी वर्गो को समान रूप से प्राप्त हो सकते है । निर्धनता-उन्मूलन व असमानता कम करने से ही सामाजिक तनाव कम हो सकते है, श्रम की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है, जीवन-स्तर ऊँचा होता है, और देश उत्तरोत्तर नियोजित विकास के पथ पर तेजी से अग्रसर होता जाता है। इससे लोकतंत्र की जड़ें भी मजबूत होती है। इन समस्याओं का स्थायी समाधान निकालने के लिए इनकी प्रकृति व कारणों पर नीचे विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

9.2 निर्धनता का अर्थ, आकार व प्रकृति

9.2.1 निर्धनता-रेखा किसे कहते है?

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में निर्धनता-उन्मूलन' योजना के एक उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया था। विभिन्न अर्थशास्त्रियों जैसे प्रोफसेर वी.एम.दांडेकर, नीलकंठ रथ, ए.के. सेन, बी.एस.मिन्हास, प्रणव बर्धन, मोन्टेक अहलूवालिया, आदि के भारत में निर्धनता की प्रवृत्तियों पर अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये है। आजकल योजना आयोग की गरीबी की रेखा, गरीबी का अनुपात, आदि पर आवश्यक आकड़े पेश करता रहता है।

भारत में निर्धनता का विचार निरपेक्ष (absolute) रूप में लिया गया है । इसे केलोस की मात्रा' से जोड़ा गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति दिन 2400 केलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 केलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्ति निर्धन माने जाते है। पोषण-विशेषज्ञ विभिन्न खाद्य पदार्थो के उपभोग की केलोरी की मात्रा ज्ञात कर लेते है। योजना आयोग द्वारा गठित 'न्यूनतम आवश्यकता व प्रभावपूर्ण उपभोक्ता मांग पर कार्यकारी दल' (1979) ने उपभोग के इन न्यूनतम स्तरों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों'के लिए प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय की राशि (1973-74के मूल्यों पर) लगभग 49 रुपये तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 56.6 रुपये आंकी थी। इन्हें निर्धनता की रेखाएं माना गया था। आगे के वर्षो में कीमतों के परिवर्तनों के आधार पर ये सीमाएं बढ़ायी गयी है; जैसे 1983-84 के मूल्यों पर ये इस प्रकार आँकी गयी है:

गरीबी की रेखा (1983-84 के मूल्यों पर) ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 101 .80 रुपये का लगभग 102 रुपये शहरी क्षेत्रों के लिए 117.50 रुपये का लगभग 118 रुपये नीचे व्यय करने वाले व्यक्ति निर्धनों की श्रेणी में रखे गये। स्मरण रहे कि उपर्युक्त व्यय की राशियां खाद्य-पदार्थ तथा कुछ सीमा तक गैर-खाद्य पदार्थों पर व्यय से संबंध रखती है, लेकिन ये न्यूनतम केलोरी की मात्रा के उपभोग की गारंटी अवश्य देती है। सरल रूप में इसका अर्थ इस प्रकार लगाया जायगा कि 1983-84 में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति माह लगभग 102 रुपये व्यय करने वाले व्यक्ति को 2400 केलोरी प्रति दिन उपभोग का स्तर मिल रहा था, तथा शहरी क्षेत्रों में 117.50 रुपये व्यय करने वाले व्यक्ति को 2100 केलोरी प्रति दिन उपभोग का स्तर मिल रहा था। इससे नीचे व्यय करो वाले व्यक्ति गरीब माने गये।

हमें पुन: यह ध्यान रखना होगा कि भारत में निर्धनता का विचार एक सापेक्ष (relative) विचार नहीं है। सापेक्ष विचार के अंतर्गत चोटी के 10% या 5% व्यक्तियों के औसत व्यय की तुलना निम्नतम स्तर के 10% या 5% व्यक्तियों के औसत व्यय से की जाती है। इससे उनके बीच असमानता का अनुमान तो लग जाता है, लेकिन निर्धनता का विचार, केलोरी की मात्रा' से जोड़े जाने के कारण यह एक निरपेक्ष विचार ही माना गया है।

भारत में निर्धन व्यक्तियों की गिनती उपर्युक्त न्यूनतम प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय के आधार पर कर ली जाती है और उसका कुल जनसंख्या से अनुपात निर्धनता-अपुपात (Pov-erty-ratio) कहलाता है।

आजकल भारत में प्रति पांच वर्ष में राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण संगठन द्वारा संकलित, उपभोग-व्यय के आकड़ों के आधार पर निर्धनों की संख्या ज्ञात की जाती है।

यहां पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि छठी पंचवर्षीय योजना के लिए प्रति परिवार वार्षिक व्यय की न्यूनतम राशि 3,500 रुपया आंकी गयी थी, जिससे नीचे व्यय करने वाले परिवार निर्धन माने गये थे। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में इसे बढ़ाकर 6,400 रुपया कर दिया गया; लेकिन विभिन्न आय-सीमाओं के अनुसार गरीबों को चार श्रेणियों में विभाग किया गया जो इस प्रकार है.

तालिका 9.1 गरीबों की श्रेणियां एवं आय सीमा

प्रति परिवार वार्षिक(आय-सीमाएं रुपयों में)	निर्धनों की श्रेणी
(1) 0-2265	अति दरिद्र (destitutes)
(2) 2266-3500	बहुत बहुत गरीब(very very poor
(3) 3501-5000	बहुत गरीब (very poor)
(4) 5001-6400	गरीब (poor)

इस वर्गीकरण का प्रयोजन यह है कि साधनों के अभाव में प्रथम व द्वितीय श्रेणी के निर्धनों को लाभ पहुंचाने पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए अर्थात् निर्धनों में भी अधिक निर्धन व्यक्तियों के कल्याण की बात पहले सोची जानी चाहिए।

विश्व बैक ने भी अत्यधिक निर्धनों (ulter-poor) का अनुमान प्रस्तुत किया है जिसमें सामान्य निर्धनता-रेखा के व्यय के 75% को इनके लिए न्यूनतम व्यय का आधार माना गया है। उदाहरण के लिए, विश्व बैक ने 1988 के लिए भारत में 396% लोगों, को निर्धनता रेखा से नीचे माना है; जबकि 'अत्यधिक निर्धनों' का अनुपात 19.2% ही आंका गया है। स्वाभाविक है कि अत्यधिक निर्धनों का अनुपात सामान्य निर्धनों के अनुपात से नीचा रहेगा।

9.2.2 निर्धनता का आकार अथवा निर्धनता-अनुपात एवं प्रवृत्तियां (Trends)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न अवधियों के लिए निर्धनता-अनुपात निकालकर निर्धनता की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। उनकी विधियों में अंतर होने से उनके परिणामों में भी अंतर पाया गया है। यहां हम योजना आयोग द्वारा सातवीं पंचवर्षीय योजना के खण्ड 1 में प्रस्तुत निर्धनता के माप निम्न तालिका में दर्शाते हैं :–

तालिका 9.2 भारत में निर्धनता का आकार

वर्ष	**निर्धनता-अनुपात (प्रतिशत में)**			**निर्धनों की संख्या (करोड़ों में)**		
	ग्रामीण	**शहरी**	**कुल**	**ग्रामीण**	**शहरी**	**कुल**
1977-78	**51.9**	**38.2**	**48.3**	**25.3**	**5.4**	**30.7**
1984-85	39.9	27.7	36.9	22.2	5.1	27.3
1989-90 (लक्ष्य)	28.2	19.3	25.8	16.9	4.2	21.1

तालिका से निम्न बातें स्पष्ट होती है

(1) ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता की समस्या शहरी क्षेत्रों की तुलना में बहुत ज्यादा गम्भीर व पेचीदी है।

(2) 1977-78 में देश में 48% लोग निर्धन थे जो 1984-85 में घट कर 37% रह गये, एवं 1989-90 में इनके और घटकर 26% पर पहुंचने का अनुमान लगाया गया था। सातवीं योजना के अंत में निर्धनता-अनुपात लगभग 30% आंका गया है।

(3) यदि निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रम लक्ष्य के अनुरूप सफलता प्राप्त कर लें तो भी 1989-90 के अंत में भारत में 21 करोड़ व्यक्ति निर्धन आंके गये है। इससे समस्या गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत में निर्धनता की स्थिति में राज्यवार काफी अंतर पाये जाते है। अनुमान है कि निम्न आठ राज्यों में देश के 80% निर्धन व्यक्ति पाये जाते है : आंध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल। इन्हीं में देश के 70% बेरोजगार व्यक्ति भी केन्द्रित है।

1983-84 में जहां समस्त भारत के लिए निर्धनता का अनुपात 37.7% था, वहीं पर बिहार में यह 49.%, मध्य प्रदेश में 46.2% व उत्तर प्रदेश में 45.3% था । लेकिन हरियाणा में यह 15.6% तथा हिमाचल प्रदेश में 13.5% पाया गया । (स्रोत: A Technical Note On The Seventh Plan Of India,P.16)

डा.मोन्टेक अहलूवालिया ने ग्रामीण-निर्धनता का अनुपात 1956-57 से 1977-78 तक के सभी वर्षों के लिए पूरे सिरीज के रूप में दिया है, लेकिन उसमें उतार-चढ़ाव होने से कोई निश्चित प्रवृत्ति उभर कर सामने नहीं आयी है । जैसे 1956-57 में 44.5%, 19970-71 में 47.5 % तथा 1977-78 में 39.1% रहा। इस प्रकार विभिन्न वर्षों में निर्धनता-अनुपात में उतार-चढ़ाव आने मे कोई दीर्घकालीन प्रवृत्ति प्रगट नहीं हुई। प्रोफेसर वी.एम.दांडेकर के अनुसार ग्रामीण निर्धनता का अनुपात 1971 -7 2 में 46% से घटकर 1983 में 44.4%' पर ही आ पाया था । यह सरकारी अनुमानों से ऊँचा पाया गया है।

9.2.3 निर्धनता की प्रकति (Nature of Poverty)

(1) **प्रमुखतया ग्रामीण-**जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है भारत में निर्धनता का प्रकोप ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता खेतिहर भूमिहीन मजदूरों, लघु व सीमान्त कृषकों, ग्रामीण कारीगरों, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जाति के लोगों, बंधुआ मजदूरों, आदि में काफी जटिल रूप में फैली हुई है। शहरी निर्धनता पर ग्रामीणों के पलायन का प्रभाव पड़ता है ।

(2) **दीर्घकालीन स्वरूप** :-यह एक अल्पकालीन समस्या न होकर दीर्घकालीन व गहन समस्या है। पीढ़ियों से लोग भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, प्रशासनिक आदि कारणों से गरीबी के नागपाश में बंधे चले आ रहे है, जिनसे मुक्ति पाना कोई सहज कार्य नहीं है। यह केवल आर्थिक समस्या नहीं है। इसका संबंध सामाजिक पिछड़ेपन

व सामन्ती परम्पराओं से भी है। अतः समस्या के स्थायी हल के लिए सभी पक्षों पर एक साथ प्रहार करके आमूल-चूल परिवर्तन लाना होगा।

(3) **कृषिगत उत्पादन के उतार-चढ़ाव से जुड़ी ग्रामीण निर्धनता :-** भारत में प्राय : यह देखा गया है कि ग्रामीण निर्धनता का सीधा संबंध कृषिगत उत्पादन से पाया जाता है। कृषिगत उत्पादन की दृष्टि से अनुकूल वर्षों में ग्रामीण निर्धनता घट जाती है। तथा प्रतिकूल वर्षो में यह बढ़ जाती है।

(4) **यह मूलत: देश के अल्पविकास (Under development) की परिचायक है :-भारत में** श्रम-शक्ति की मांग व पूर्ति में भारी असंतुलन है। देश में आर्थिक विकास की गति धीमी है जिससे यह असंतुलन निरंतर बना रहता है, और फलस्वरूप निर्धनता ने काफी भयावह रूप धारण कर लिया है।

अतः भारत में निर्धनता की समस्या दीर्घकालीन व अत्यधिक पेचीदा समस्या है। इसका विकास की सामाजिक प्रक्रिया, आर्थिक प्रक्रिया व राजनीतिक प्रक्रिया से गहरा संबंध है। जिनको समझे बिना व बदले बिना इस समस्या का स्थायी समाधान निकाल पाना अत्यंत दुष्कर है।

बोध प्रश्न-1

(1) भारत में 'गरीबी की रेखा ' के संबंध में कौन-सा कथन सही है?

(अ) यह प्रति व्यक्ति प्रति माह न्यूनतम व्वय की वह मात्रा है जो लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति को संभव बनाती है।

(ब) यह ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति दिन न्यूनतम 2400 केलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 केलोरी प्रदान करने वाले खाद्य-पदार्थो की लागत होती है ।

(स) यह प्रति व्यक्ति प्रति माह वह न्यूनतम व्यय की राशि होती है जो न्यूनतम केलोरी का उपभोग संभव बनाती है, और जिससे नीचे व्यय करने वाले लोग निर्धन माने जाते है । ()

(2) सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रतिवेदन के अनुसार 1977-78, 1984-85 व 1989-90 के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निर्धनता-अनुपात व निर्धनों की संख्या लिखिए।

(3) डा.मोन्टेक अहलूवालिया तथा योजना आयोग के अनुसार भारत में निर्धनता की प्रवृत्तिया बतलाइए।

(4) भारत में निर्धनता की प्रकृति क्या है?

9.3 निर्धनता के कारण

9.3.1 ग्रामीण निर्धनता के कारण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत में अधिकांश निर्धनता गांवों में देखने को मिलती है। इसलिए सर्वप्रथम ग्रामीण निर्धनना के कारणों पर प्रकाश डाला गया है:

(1) **ग्रामीण जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि** : जनसंख्या में निरंतर वृद्धि व तेज गति से वृद्धि गरीबी की समस्या का मुख्य कारण माना गया है। भारत में ग्रमीण जनसंख्या 1951 में 36.1 करोड थी जो बढ कर 1981 में 68.4 करोड़ हो गई। 1971-81 की अवधि में यह 9 करोड़ बढ़ी। यदि 1991 के लिए ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात 85 करोड़ माना जाय तो 1999 के अन्त

तक यह 99 करोड़ से अधिक होने का अनुमान है । जनसंख्या की इस प्रकार की वृद्धि से श्रम-शक्ति भी बढ़ती है जिसका पर्याप्त काम न मिल पाने से गरीबी का बढ़ना स्वाभाविक है।

(2) **कार्यशील भूजोतों का असमान वितरण व भूमि-सुधारों के क्रियान्वयन मे कमी:-** भारत में भूमि-सुधारों ने कार्यशील जोतों के वितरण की असमानता को नही मिटाया। परिणामस्वरूप 1985-8 6 में भी सीमान्त जोते (1 हैक्टेयर से कम) लगभग 58% थी जिनमें कुल कृषित भूमि का 13% समाया हुआ था, जबकि बड़ी जोतें (10 हैक्टेयर व अधिक आकार की) 2% थी, लेकिन उनमें कृषि भूमि का 201/2% अंश था। हर बार भूजोतों की संगणना में सीमान्त जोतों की संख्या बढ़ जाती है। देश में भूमिहीनों की संख्या भी बढ़ रही है जिसे सर्वहाराकरण' की प्रक्रिया कह सकते है । अतः भूजोतों का 'सीमान्तकरण', भूमिहीनों का 'सर्वहाराकरण' व 'निर्धनीकरण ' परसर जुड़े हुए है। इन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता।

देश में भूमि पूर्णतया लागू न होंने से बटाईदारी प्रथा (share cropping), उप-काश्तकारी, आदि विद्यमान है। सीलिंग से अतिरिक्त भूमि का वितरण भूमिहीनों में नहीं हो पाया है। अतः भूमि-सुधार गरीबी करने की दिशा में योगदान नही कर पाये है।

(3) **कषिगत उत्पादन मे धीमी व अनियमित वृद्धि :-** योजनाकाल मे कृषिगत विकास की दीर्घकालीन दर लगभग 2.7% वार्षिक रही हैं जो जनसंख्या की 2% वृद्धि-दर से थोड़ी अधिक है। कूषिगत उत्पादन की धीमी वृद्धि गरीबी को कम करने की दृष्टि से अपर्याप्त रही है। साथ में इसमें वार्षिक उतार-चढ़ाव भी आते रहते है। भारत में कृषिगत उत्पादन के तेज गति से बढ़ने पर निर्धनता में कमी आती है, तथा इसमें भारी गिरावट आने से निर्धनता में वृद्धि होती हैं। अभी तक वर्षा पर आश्रित क्षेत्रों में सूखी खेती की विधि विस्तृत रूप से नहीं अपनायी गयी है जिससे उसका प्रभाव गरीबी दूर करने की दृष्टि से प्रगट नहीं हुआ है।

(4) **हरित क्रान्ति का प्रभाव**-हरित क्रान्ति के फलस्वरूप विभिन्न कृषित क्षेत्रों व विभिन्न कृषक-वर्गो के बीच असमानता बढ़ी है। यंत्रीकरण ने कुछ क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि की है। अतः हरित क्रान्ति गरीबी कम करने की दिशा में महत्वपूर्ण व स्पष्ट योगदान नहीं कर पायी है।

(5) **गाँवों मे निर्धन**-वर्ग द्वारा खरीदे जाने वाले खाद्य-पदार्थों की कीमतों में वृद्धि-स्वः धर्मनारायन ने गांवो में गरीबों द्वारा खरीदे जाने वाले खाद्य पदार्थो को कीमतों में वृद्धि का दुष्प्रभाव गरीबी पर आंका है। भूमिहीन श्रमिको पर इसका सीधा प्रभाव आता है, और सीमान्त व लघु कृषक भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

(6) **गरीबों के लिए गांवों मे काँमन-प्रोपर्टी साधनों से मिलने वाले लाभों में भारी गिरावट :-** श्री एन.एस.जोधा व अन्य विद्वानों के अध्ययनों से पता चला है कि पहले ग्रामवासियों को चराई की काँमन भूमि, व्यर्थ भूमि, वन, जूल-साधनों, आदि के उपयोग से जों लाभ मिल जाते थे, वे अब इनके निजीकरण व व्यवसायीकरण से ठेकेदारों आदि के हाथो में चले जाने से काफी सिमट गये व संकुचित हो गये है जिससे गरीबी बढ़ी है।

(7) **गाँवों में जातिवाद, पिछड़ेपन व परम्परागत समाज को बोलबाला :-** गांव आज भी सामाजिक भेदभाव, ऊँच-नीच सम्प्रदायवाद, पिछड़ेपन व सामन्ती वातावरण से ग्रस्त है। कहीं भी समता

की हवा नजर नहीं आती। समाज का उच्च वर्ग गरीबों के लिए निर्धारित कार्यक्रमों के लाभ उन तक नहीं पहुंचने देता। गरीबों में राजनीतिक संगठन का शक्ति का अभाव रहता है।

इस प्रकार विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारणों ने ग्रामीण निर्धनता को कायम रखा है। श्रम - शक्ति की कृषिपर आश्रितता बनी हुई है। ग्रामीण औद्योगीकरण का अभाव है। गॉवो में कल्याणकारी सेवाओं - शिक्षा, चिकित्सा, व पोषण का अभाव है। गाँवों का द्रुतगति से चहुंमुखी विकास ही इसका स्ही समाधान हैं।

9.3.2 शहरी निर्धनता के कारण

शहरों मे भीं, विशेषतया महानगरों में गंदी बस्तियों में निर्धनों की भरमार पायी जाती है। कफी संख्या में भिखारी व अन्य लोग फुटपाथों पर जीवन व्यतीत करते है।

वैसे शहरी निर्धनता भी सामान्य निर्धनता के कारणों से प्रभावित होती है, लेकिन इसके विशेष कारण निमाकित है :-

(1) **गाँवों से शहरों की ओर जनसंख्या का पलायन**-ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार न मिल पाने के कारण लोग शहरों की ओर प्रस्थान करते है जिससे वहां भीड़भाड़ बढ़ती है, तथा आवास, शिक्षा, चिकित्सा, पेयजल, आदि पर दबाव बढ़ते है औंर निर्धनता बढ़ती है।

(2) **शहरों मे भी परम्परागत घरेलू उद्योगों का पतन गरीबी को बढ़ाता है।** स्वरोजगार में त्रगे कारीगर मशीन-निर्मित वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा 'मे अपने परम्परागत रोजगार से हाथ धो बैठते है ।

लघु व बड़ी औद्योगिक इकाइयों के रूग्ण हो जाने व उनके बंद हो जाने से श्रमिकों में बेकारी फैलने से भी शहरी निर्धनता बढ़ती है ।

(3) **शहरों में श्रम-शक्ति की मांग उसकी पूर्ति में कम होने से बरोजगारी पायी जाती है ।** इससे निर्धनता बढ़ती है जो दक्ष, अर्द्ध-दक्ष वे पुरुष व महिला-अदक्ष श्रमिकों में पायी जा सकती है। लेकिन जिन शहरी व्यक्तियों के पास शिक्षा, परिसम्पत्ति, दक्षता व अन्य साधनों का अभाव होता है वे तो निरंतर पिसते जाते है, और महंगाई, सामाजिक, प्रथाओं व अभावों के शिकार होते जाते है । इससे उनका जीवन-स्तर घटता जाता है और वे गरीबों की श्रेणी में प्रवेश करते जाते है ।

इस प्रकार अनेक कारणों ने मिलकर भारत में निर्धनता को बनाये रखा है । विद्वानों का यह मत सही है कि यदि निर्धनता का विचार केवल 'केलोरी की मात्रा ' से न जोड़ कर लोगों की 'सभी न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं', जैसे न्यूनतम भोजन, वस्त्र, आवास, दवा, शिक्षा, मनोरंजन, आदि से जोडा जाय तो गरीबी की रेखा से नीचे अपने वाले का प्रतिशत व कुल संख्या आज भी अपेक्षा ऊँची जायेगी । यही कारण है कि विश्व बैक ने अपनी 1990 की विकास-रिपोर्ट में निर्धनता के विचार को 'न्यूनतम आवश्यकताओं ' से जोड़ा है, न कि केलोरी के उपयोग की नयूनतम मात्रा से।

9.4 निर्धनता कम करने के सरकारी उपाय

9.4.1 विभिन्न निर्धनता-उन्मूलन-कार्यक्रमों का संक्षिप्त परिचय व प्रगति

योजनाकाल के प्रारम्भिक वर्षो में यह समझा गया था कि आर्थिक विकास का प्रभाव निर्धनता-उन्मूलन के रूप में प्रकट होगा । इसे 'टपकने वाला प्रभाव ' (trickle-down effect) माना गया था। लेकिन जब यह प्रभाव प्रगट नहीं हुआ तो निर्धनता पर प्रहार करने के लिए विशिष्ट कार्यक्रम अपनाये गये। विकास का प्रभाव निर्धनता-उन्मूलन के रूप में इसलिए प्रगट नहीं हुआ कि सर्वप्रथम विकास की वार्षिक दर केवल 3.5% रही, जो अपर्याप्त थी, और द्वितीय विकास के लाभों का वितरण समान रूप से नहीं हो पाया क्योंकि समाज में समरूपता नहीं थी। साधन-सम्पन्न लोगों ने विकास के लाभ हाथिया लिए, और साधनहीन लोग इनसे वंचित रह गये। इस कमी को दूर करने के लिए पाचवी पंचवर्षीय योजना व बाद मे गरीबी व बेरोजगारी दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम चलाये गये। इनमें निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) का सर्वाधिक महत्व माना गया है। कुछ सीमा तक ट्राइसम के अंतर्गत प्रशिक्षण से भी लाभ पहुंचा है । लेकिन मजदूरी पर रोजगार देने की दृष्टि से राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) व ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) काफी महत्व हैं जिन्हें परसर मिलाकर 1989-90 में जवाहर रोजगार योजना (JRY) के रूप में अधिक व्यापक रूप से प्रारम्भ किया गया। इन कार्यक्रमों के अलावा ' विभिन्न क्षेत्रीय कार्यक्रमों, जैसे सूखा सम्भाव्य क्षेत्र कार्यक्रम, मरू विकास कार्यक्रम, जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम, पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम आदि का भी निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से रोजगार बढ़ाने की दृष्टि से महत्व रहा है। नीचे निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से IRDP,NREP व RLEGP का संक्षिप्त परिचय दिया गया है तथा इनकी उपलब्धियो व प्रगति का उल्लेख किया गया है।

(1) **एकीकृत (समान्वित) ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP):-** यह -उन्मूलन का प्रमुख कार्यक्रम है। इसका प्रारम्भ 1976-77 में हुआ था। 1978 -7 9 में यह 2300 विकास-खण्डों में लागू किया गया और 2 अक्टूबर 1980, से देश के समस्त 5011 खण्डों- में फैला दिया गया । इसके अंतर्गत चुने हुँए निर्धन परिवारों को आय-सृजन करने वाली परिसम्पत्तियाँ उपलब्ध की जाती है। इसके लिए सब्सिडी व कर्ज की व्यवस्था की जाती है। इससे स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न होते है। छठी पंचवर्षीय योजना में 1500 करोड़ रु की सब्सिडी देने का वित्तीय प्रावधान किया गया था जिसमें केन्द्र व राज्यों का हिस्सा आधा-आधा रखा गया था। साथ में 3 000 करोड़ रु तक के कर्ज सहकारी व व्यापारिक बैकों से दिलाने का लक्ष्य रखा गया था और कुल 1 $^{1/2}$ करोड़ परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने का लक्ष्य रखा गया था । इनमें कम से कम 30% अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के शामिल किए जाने थे। निर्धनों को कृषि व सहायक क्रियाओं, ग्रामीण व कुटीर उद्योगों व सेवा-क्षेत्र की क्रियाओं के माध्यम से लाभान्वित किया जाना था।

छठी योजना में.कुल विनियोग 4763 करोड़ रु.का हुआ जो 4500 करोड़ रु के लक्ष्य से अधिक रहा । कुल लाभान्वित परिवार 1.66 करोड़; रहे जो 1.5 करोड़ के लक्ष्य से अधिक थे ।

प्रति परिवार विनियोग की राशि 2876 रुपये रही जिसमें सब्सिडी की मात्रा 1003 रुपये व कर्ज की मात्रा 1873 रुपये रही । इस प्रकार 'सब्सिडी-कर्ज का अनुपात 1:1 .8 7 रहा।'

सातवी योजना में सब्सिडी की कुल राशि 3316 करोड़ रुपये थी जो लक्ष्य से अधिक थी तथा कुल अवधि-कर्ज की मात्रा 8688 करोड़ रुपये रही जिससे 1.6 करोड परिवार लाभान्वित हुए। योजना के प्रथम चार वर्षो में लगभग 1.4 8 'करोड़ परिवारों को लाभान्वित किया जा चुका था। वर्ष 1988-89 में प्रति परिवार विनियोग की राशि 4348 रुपये (पुरानों के लिए) तथा 5069 रुपये (नयों के लिए) हो गई थी।[2] इस प्रकार 'एग्राविका' से कुछ सीमा तक निर्धन वर्ग को लाभ पहुचा है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत निर्धनों को दुधारू पशु, सिलाई की मशीनें, ऊँट गाडिगां, खुदरा-दुकानें, हथकरघा कुटी व्यवसाय व अन्य प्रकार की परिसम्पत्ति देने का प्रयास किया गया है ताकि वे अपनी आमदनी बढ़ाकर गरीबी की रेखा से ऊपर आ सकें।

(2) **राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP)-**यह कार्यक्रम अक्टूबर 1980 से प्रारम्भ किया गया तथा अप्रैल 1981 से नियमित योजना का अंग बन गया'। इसका उद्देश्य प्रति वर्ष 30 से 40 करोड़ मानव-दिवस काम का सृजन करना, टिकाऊ सामुदायिक परिसम्पत्तियों का निर्माण करना तथा निर्धनों के पोषण-स्तर व जीवन-स्तर में सुधार करना था । छठी योजना में इस कार्यक्रम के लिए 1873 करोड़ रु.की धनराशि उपलब्ध की गई । (राज्यों का अंश 794 करोड़ रु.) तथा वास्तविक उपयोग 1843 करोड़ रु की राशि का ही हो पाया । 1980-85 की अवधि में कुल 177.5 करोड़ मानव-दिवस के रोजगार का सृजन क्रिया गया। सातवीं योजना में 'केन्द्र ने इस कार्यक्रम के लिए लगभग 3092 करोड़ रुपए व्यय किए गए और कुल 145 करोड़ मानव-दिवस का रोजगार-सृजन किया गया था ।

ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) :- यह कार्यक्रम अगस्त 1983 में शुरू किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य प्रत्येक ग्रामीण भूमिहीन परिवार में कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक का रोजगार उपलब्ध कराना था। छठी योजना में केन्द्र द्वारा इस कार्यक्रम पर व्यय हेतु 500 करोड़ रु निर्धारित किये गये।1983 -84 व 1984-85 में कुल 26.3 करोड़ मानव दिवस का काम दिया गया जो लक्ष्य से कम था। सातवीं योजना में केन्द्र द्वारा इस कार्यक्रम पर व्यय हेतु 2412 करोड़ रुपए व्यय किए गए और कुल 115 करोड़ मानव-दिवस का रोजगार सृजन करने का लक्ष्य रखा गया।

NREP व RLEPG के माध्यम से सामाजिक वानिकी, वृक्षारोपाण, स्कूल भवनों के निर्माण, लघु सिंचाई, आवास आदि पर बल दिया गया है । 1989-90 में इनका विलयन जवाहर रोजगार योजना में कर दिया गया । इसी वर्ष के लिंए इस योजना पर 2625 करोड़ रु आवंटित किये गये जिसमें केन्द्र का अंश 80% तथा राज्यों का 20% रखा गया । JRY के माध्यम से ग्रामीण निर्धन परिवारों में से

---

1. A Review of the Agricultural credit System in India, RBI, 1989, p.746.
2. वही, पृ.749, आगे NREP व RLEGP की प्रगति के आकड़े भी इसी स्रोत पर आधारित है।

प्रत्येक परिवार में से कम से कम एक व्यक्ति के लिए 100 दिन तक का कम उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया। इसमें 30% ' आरक्षण ग्रामीण महिलाओं के लिए किया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में जवाहर रोजगार योजना का अंतिम स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

9.4.2 कार्यक्रमों का मूल्यांकन व कमियाँ

हम ऊपर बतला चुके है कि निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम का स्थान सर्वोपरि माना गया है । लेकिन मजदूरी पर रोजगार उपलब्ध करके निर्धनता कम करने की दृष्टि से अन्य कार्यक्रमों, विशेषतया NREP व RLEGP, का भी महत्व स्वीकार किया गया है। इन कार्यक्रमों से लोग लाभान्वित हुए है, लेकिन कुछ कमियां भी सामने आयी है जिन्हें दूर करके उनकी उपयोगिता में वृद्धि की जानी चाहिए । हम नीचे विशेषतया IRDP की कमियों पर ध्यान आकर्षित करेंगे जिसका निर्धनता-उन्मूलन से सीधा संबंध है ।

(1) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन में कई प्रकार की कमियाँ व अकुशलताएं बतलायी गयी है जैसे कुछ गैर-निर्धन परिवारों का चयन, दी जाने वाली परिसम्पत्तियों का स्थानीय निर्धन परिवारों की आवश्यकताओं व दक्षताओं से ताल-मेल न होना, परिसम्पत्ति का रख-रखाव न कर पाना जिससे उनके नष्ट होने का भय बना रहना, आगे-पीछे की कड़ियों का अभाव (जैसे दुधारू पशुओं के लिए चारे व पशु-आहार का अभाव तथा दूध की बिक्री के लिए विपणन का अभाव आदि), सब्सिडी के संबंध में भ्रष्टाचार व दुरूपयोग की शिकायतें, कर्ज की वसूली में कठिनाइयाँ, आदि, आदि।

(2) एकीकृत, ग्रामीण विकास कार्यक्रम के माध्यम से दी जाने वाली सहायता व कर्ज की राशि गरीबी की रेखा से ऊपर ले जाने की दृष्टि से अपर्याप्त मानी गयी है जिससे दूसरी बार पुन: वित्तीय सहायता की मांग की गयी है।

(3) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि बहुत निर्धन-व्यक्तियों को स्वरोजगार में न लगाकर मजदूरी पर रोजगार में लगाया जाय तो ज्यादा लाभकारी होगा, क्योंकि वे परिसम्पत्तियों को काम में लेने को क्षमता नहीं रखते । प्रोफेसर नीलकंठ रथ IRDP के माध्यम से निर्धनता-उन्मूलन को संभव नही मानते। इसमें सब्सिडी का महत्व रहने से सदैव उसके दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है। अतः पहले विकास की प्रक्रिया में टपकने का प्रभाव ' (trickle-down effect) उत्पन्न न होने से निर्धनता उन्मूलन में बाधा पड़ी, लेकिन विशिष्ट कार्यक्रमों के रिसाव-प्रभाव (leakage effect) की वजह से काफी धनराशि गरीबों तक नहीं पहुंच पाती और बिचौलियों में नष्ट हो जाती है । इससे वित्तीय साधनों का सदुपयोग नहीं हो पाता है।

(4) NREP व RLEGP के माध्यम से अल्पकालिक रोजगार ही मिल पाया है। अतः इन्होंने राहत-सहायता के रूप में कार्य किया है।

(5) विभिन्न कार्यक्रमों के अंतर्गत सुदृढ़ व उत्पादक परियोजनाओं का अभाव रहने से उनसे दीर्घकालीन विकास की प्रक्रिया को बल नहीं मिल पाता। उनका विकेन्द्रित नियोजन से ताल-मेल नहीं बैठाया गया है जिसके अभाव में उनके दूरगामी प्रभाव कमजोर रह- गये है।

9.5 निर्धनतासुझाव उन्मूलन के लिए-

निर्धनता-उन्मूलन की समस्या अत्यंत जटिल व पेचीदा मानी गयी है। इसका कोई सुगम हल नहीं है। भारत में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम सबसे बड़ा निर्धनता-उन्मूलन क्रार्यक्रम है जिसके क्रियान्वयन का मूल्यांकन विभिन्न समितियों, कार्यकारी दलों, संस्थाओं व अनुसंधानकर्ताओं ने किया है। इसमें इस कार्यक्रम को नई दिशा देने के कई सुझाव दिये गये है। सार्वजनिक लेखा-समिति (1986-87) ने लोक सभा सचिवालय की इक्कानवीं: (91) रिपोर्ट (1987), जिलो-नियोजन पर कार्यकारी दल की रिपोर्ट (1984), ग्रामीण विकास के प्रशासनिक प्रबन्ध की समीक्षा के लिए नियुक्त डा.जी.वी.के.राव समिति की रिपोर्ट (1985) तथा भारत में कृषिगत साख-प्रणाली की समीक्षा पर खुसरो रिपोर्ट (1989) आदि में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम की व्यापक रूप से समीक्षा की गई है और इसे अधिक सफल बनाने के लिए अनेक सुझाव दिये गये है।

चूकि निर्धनता की समस्या काफी गहन व बहुआयामी है, इसलिए इसको हल करनें के लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी क्षेत्रों में भारी परिवर्तन करने होंगे, तभी इस दिशा में सफलता सुनिश्चित की जा सकेगी ।

कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार है:-

(1) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम को नई दिशा प्रदान करने के लिए निम्न परिवर्तन किये जाने आवश्यक है:-

(i). यह कार्यक्रम इस समय बिखरे हुए परिवारआधार (family-basis) पर चलाया जा रहा है। इसके स्थान पर इसे एक सुनियोजित संसाधन-आधारित क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम के अंतर्गत चलाया जाना चाहिए। इसके लिए जिला, खण्ड व ग्राम स्तर पर योजनाएं बनानी होंगी। इन योजनाओं में उन क्षेत्रों के आर्थिक विकास की सम्भावनाओं का पता लगाना होगा । इसके लिए प्रोजेक्ट-दृष्टिकोण अपनाना होगा।जैसे यदि कहीं पोशाक बनाने, जेम पालिश व कटाई, गलीचा बुनाई, आदि का काम हो सकता है तो इनके विकास पर ध्यान केन्द्रित करना होगा । सभी खण्डों के लिए एक-सी योजनाएं बनाना व लागू करना नितान्त गलत व अव्यावहारिक होगा।

(ii). निर्धनों के चुनाव व उनके लिए आर्थिक क्रियाओं के चुनाव में बैकों की भागीदारी बढ़ानी होगी। इसके लिए यह बेहतर होगा कि उनको गरीबों की एक 'मास्टर लिस्ट ' पाँच वर्ष के लिए दे दी जाय और वे स्वयं यह तय करें कि किन गरीबों को किन कामों के लिए कर्ज दिया जाए ताकि वे गरीबी की रेखा से ऊपर आ सकें।

(iii). 'आधारभूत सुविधाओं के विकास (सड़क, जल-पूर्ति, विद्युत, आदि) पर अधिक बल दिया जाय, और कार्यक्रमों के लिए आगे-पीछे की कड़ियाँ सुनिश्चित की जाएं और उनको विकसित किया जाय जैसे दुधारू पशुओं के लिए चारा तथा आहार व दूध की बिक्री की उचित व्यवस्था, आदि।

(iv). सब्सिडी का दुरुपयोग रोकने के लिए यह कर्ज के अंतिम भुगतान के साथ समायोजित (adjust) की जाय तो उत्तम होगा । इससे कर्ज व परिसम्पत्ति पर निगाह भी बढ़ जायगी और उनकी क्षति रुकेगी।

(2) जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए "एक परिवार एक बच्चा" को लागू करने के लिए अभियान तेज किया जाय । इसके लिए महिला व बाल-कल्याण पर अधिक ध्यान दिया जाय तथा स्त्रियों के लिए शिक्षा, चिकित्सा वं रोजगार उपलब्ध कराने पर बल दिया जाय ।

(3) 'बहुत बहुत गरीब' व 'अत्यधिक दरिद्र ' वर्ग के लोगों के लिए, जो परिसम्पत्ति का प्रबंध करने में समर्थ न हों, उनको 'मजदूरी पर रोजगार' दिया जाय। अपाहिज, बूढ़े व कमजोर लोगों के लिए 'सामाजिक सुरक्षा' के मार्फत निःशुल्क सुविधाएं उपलब्ध करने पर जोर दिया जाय।

(4) न्यूनतम मजदूरी कानून, 1948 व बंधुआ श्रम-व्यवस्था (समाप्ति) कानून, 1976 कड़ाई से लागू किया जाय।

(5) भूमि-सुधार कानूनों को प्रभावकारी ढंग से लागू किया जाय। इससे कृषिगत उत्पादन बढ़ेगा तथा भूमि के पुनर्वितरण से समतावादी समाज-व्यवस्था की दिशा में प्रगति होगी ।

(6) विकेन्द्रित नियोजन का पंचायती राज संस्थाओं से ताल-मेल बैठाया जाय ताकि योजनाओं के क्रियान्वयन में सर्वसाधारण की भागीदारी हो सके। इसके लिए 'राजनीतिक इच्छा-शक्ति ' को विकसित किया जाना चाहिए।

(7) ग्रामीण विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के परस्पर समन्वय बैठाया जाना चाहिए । वर्तमान में एक परिवार कई कार्यक्रमों के दायरे में आता है और एक क्षेत्र में कई कार्यक्रम एक-साथ संचालित हो रहे है जिससे काफी श्रम व अनिश्चितता की दशाएं उत्पन्न हो गई है।

अतः विकेन्द्रित नियोजन को अधिक कारगर बना कर धीरे-धीरे विशिष्ट कार्यक्रमों की संख्या कम करते जाना चाहिए। एक विशिष्ट राष्ट्रीय रोजगार गारंटी कार्यक्रम को चलाने पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जो 'सुरक्षा-जाल ' (safety-net) का काम करेगा और बेकार लोगों को रोजगार की गारंटी अवश्य प्रदान करेगा ।

(8) ग्रामीण निर्धनों का राजनीतिक संगठन बनाया जाना चाहीए जो उनके लिए निर्धारित साधन उन तक पहुंचाने में मदद देगा। वह उनके लिए सतत संघर्षरत भी रहेगा ।

आशा है, दिये हुए आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत निर्धनता-उन्मूलन के लिए उपर्युक्त दिशाओं में प्रयास करने इस दिशा में अधिक सफलता मिल पायेगी।

बोध प्रश्न-2

(1) ग्रामीण निर्धनता के चार प्रमुख कारण बताइए ।

(2) क्या आप इस मत से सहमत है कि 'शहरी निर्धनता ' ग्रामीण निर्धनता का विस्तार मात्र है?

(3) विकास का 'टपकने वाला प्रभाव ' (trickle-down effect) स्पष्ट कीजिए ।

(4) निर्धनता-उन्मूलन की दृष्टि से एकीकृत ग्रामीण कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएं बतलाए।

(5) निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रमों में मुख्य कमियाँ क्या रही हैं?

(6) भारत में निर्धनता-उन्मूलन की दिशा में ठोस प्रगति के लिए पांच सुझाव दीजिए।'

9.6 समानता का अर्थ, आकार व प्रकृति

9.6.1 असमानता का अर्थ-आय के वितरण की असमानता

एक देश में कई प्रकार की आर्थिक असमानताएं पायी जा सकती है जैसे धन के वितरण में असमानता, आय की असमानता, उपभोग व्यय में असमानता आदि । सामाजिक असमानताओं में अवसर की असमानताओं का भी उल्लेख किया जाता है और सामाजिक ऊँच-नीच का विवेचन किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य सम्पत्ति भूमि मानी जाती है और स्थायित्व के अनुसार एवं कार्यशील भूजोतों के अनुसार वितरण की असमानता का वर्णन किया जा सकता है।

प्राय: असमानता के अंतर्गत हम आय के वितरण की असमानता का विवेचन करते है जिसमें विभिन्न समूहों के अनुसार पारिवारिक आय का वितरण दर्शाया जाता है । विभिन्न अवधियों के लिए एक देश में पारिवारिक आय के वितरण का अध्ययन करके यह पता लगाया जा सकता है कि आय के वितरण किस दिशा में हो रहा है। इसी प्रकार एक अवधि के लिए विभिन्न देशों में आय के वितरण की तुलना की जा सकती है । अतः आजकल आर्थिक विकास के अध्ययन में आय के वितरण के अध्ययन का महत्व बढ़ गया है।

9.6.2 आय की असमानता का आकार व माप

भारत में राष्ट्रीय आय के वितरण के आकड़े लम्बी अवधि के लिए नहीं मिलते। हमें राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण संगठन (NSSO) के द्वारा एकत्र उपभोक्ता के व्यय के आंकड़ो का उपयोग करने से देश में उपभोग की असमानता की जानकारी होती है । भारत में व्यावहारिक आर्थिक अनुसंधान की राष्ट्रीय परिषद् (NCAER) नई दिल्ली ने भी आय, बचत व उपभोग-व्यय के अखिल भारतीय पारिवारिक सर्वेक्षण (1972) के द्वारा 1967-68 की अवधि के लिए शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों के लिए खर्च के योग्य आय के वितरण के आंकड़े प्रकाशित किये है। जिनसे आय के वितरण की असमानता का अनुमान लगाया जा सकता है।

विश्व विकास रिपोर्ट, 1990 मे वर्ष 1983 के लिए भारत के लिए आय की असमानता की निम्न सारणी दी गई है:

तालिका 9.3 आय की असमानता

परिवारों का प्रतिशत समूह	पारिवारिक आय में प्रतिशत अंश
निम्नतम 20%	8.1
दूसरा 20%	12.3
तीसरा 20%	16.3
चौथा 20%	22.0
सर्वोच्च 20%	41.4

1983 में चोटी के 10% के पास आय का अंश 26.7% रहा।

उपर्युक्त तालिका से 1983 के लिए भारत में आय के वितरण की असमानता अनुमान लगाया जा सकता है। निम्नतम 20% परिवारों के पास कुल पारिवारिक आय का 8% अंश पाया गया, जबकि चोटी के 20% परिवारों के पास यह अंश लगभग 41% या 2/4 पाया गया। अलग से यह सूचना भी

दी गई है कि चोटी के 1 0% परिवारों के पास पारिवारिक आय का 26.7% (अगभाग 1/4 अंश) था। इस प्रकार निमतम 20% परिवारों व उच्चतम 20% परिवारों के बीच आय के प्रतिशतों की असमानता का अनुपात 1:5 पाया गया।

जिनी-अनुपात (Gine ratio):- आय के वितरण की आसमानता जानने के लिए जिनी-अनुपात ज्ञात किया जाता है। 1975-76 के लिए भारत के लिए यह 0.3844 रहा था, जो घट कर 1983 में 0.3044 पर आ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि 1975-83 की अवधि में आय के वितरण की असमानता में कुछ कमी आयी है जिनी-अनुपात के बढ़ने से (इसकी अधिकतम राशि 1 होती है) आय की असमानता बढ़ती है और इसके घटने से (इसकी न्यूनतम राशि शून्य होती है) आय की असमानता कम होती है।

भारत मे उपभोग-व्यय की असमानता-एस.पी.गुप्ता व के.एल.दत्ता के अनुसार 1977-78 व 1983 के लिए उपभोग-व्यय के लिए जिनी-अनुपात इस प्रकार रहे:-

तालिका 9.4 ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के लिए जिनी-अनुपात

वर्ष	ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र
1977-78	0.337	0.353
1983	0.297	0.332

इस प्रकार 1977-78 से 1983 की अवधि में उपभोग-व्यय में जिनी-अनुपात शहरी व ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में कुछ कम हुआ है। लेकिन यह ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में अधिक रहा है।

9.6.3 असमानता की प्रकृति

(1) **विकास के प्रारम्म मे असमानता :-** आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विकास के साथ-साथ आय व उपभोग की असमानता में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है क्योंकि समाज में विभिन्न वर्ग विकास के समान रूप से लाभान्वित नहीं होते। साधन-सम्पन्न वर्ग अपनी स्थिति और मजबूत कर लेता है और' साधनहीन वर्ग विकास के लाभ कम मात्रा में प्राप्त कर पाता है । अतः विकास के साथ-साथ असमानता में वृद्धि हो सकती है, जिसे कम करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय करने आवश्यक हो जाते है।

(2) **सम्पत्ति के वितरण की असमानता आय के वितरण की असमानता से अधिक :-** हम यह भी स्मरण रखना होगा कि धन व सम्पत्ति के वितरण की असमानता का जिनी-अनुपात आय का उपभोग के वितरण की असमानता के जिनी-अनुपात से ऊँचा पाया जाता है । उदाहरण के लिए, भारत में कार्यशील जोतों के वितरण का जिनी-अनुपात 1985-86 में 0.5974 पाया गया जबकि 1983 में आय के वितरण का जिनी-अनुपात केवल 0.3044 ही था। अतः धन की असमानताएं आय अथवा उपभोग की असमानताओं से ऊँची पायी जाती है । इन दोनों में परस्पर संबंध होता है, लेकिन असमानता का अंश भिन्न-भिन्न पाया जाता हैं।

(3) **असमानता में निरंतरता की प्रवृत्ति :-** आर्थिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार की असमानता में बने रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि किसी आधार-वर्ष में धन की' परिसम्पत्ति की असमानता को न बदला जाय तो कालान्तर में भी वह जारी रहती है, अथवा बढ़ भी सकती है। अतः असमानता को कम

करने के लिए कठोर कदम उठाने पड़ते है, अन्यथा यह बराबर बनी रहती है । पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्तराधिकार या विरासत की प्रथा के कारण धन का हस्तान्तरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है जिससे असमानताएं जारी रहती है।

बोध प्रश्न-3

(1) असमानताएं कितनी प्रकार की होती है

(2) भारत में आय की असमानता का जिनी-अनुपात लिखिए।

(3) 1983 में भारत के आय के वितरण का उल्लेख कीजिए।

(4) असमानता की प्रकृत्ति (nature) के बारे में तीन बातें लिखिए।

9.7 आय की असमानता के कारण

भारत में नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे में आर्थिक विकास किया जा रहा है। यहां कृषि, लघु उद्योग, खनन, व्यापार व परिवहन में निजी क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थव्यवस्था पूँजीवादी बाजार-प्रणाली के नियमों से काफी सीमा तक प्रभावित होती है । अतः देश में धन, आय, उपभोग, आदि की असमानताओं का पाया जाना स्वाभाविक है।

भारत में उपभोग व आय की असमानता के लिए निम्न कारण उत्तरदायी माने जा सकते है:-

(1) **ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि व पूँजीगत साधनों का असमान वितरण:-**ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि परिसम्पत्ति का मुख्य रूप होती है । योजनाकाल में कार्यशील जोतों के वितरण में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है । 1960-61 में 1 हैक्टेयर तक की सीमान्त जोतें 41% थी और उनमें कुल कृषित भूमि का 7% अंश था। 1985-86 में सीमान्त जोतों का अंश 58% हो गया और इनमें कृषित भूमि का 13% अंश पाया गया। इसके विपरीत 10 हैक्टेयर व अधिक आकार की बड़ी जोते 1960-61 में 5% थी तथा उनमें कृषित भूमि का 31% अंश था। 1985-86 में इनका अंश 2% हो गया तथा इनमें कृषि 'भूमि का 20.5% अंश पाया गया । इस प्रकार योजनाकाल के 25 वर्षों के बाद 'भी भूमि का वितरण काफी असमान बना हुआ है। बड़े भूस्वामी सिंचाई, बीच, उर्वरक, साख, आदि की सुविधाओं का लाभ लघु व सीमान्त कृषकों की तुलना में ज्यादा मात्रा में.उठाते है । हरित क्रान्ति ने भी 1966 के बाद अंतर्प्रादेशिक व अंतर्वर्गीय असमानताएं बढ़ायी है। भारत में कार्यशील भूजोतों के वितरण का जिनी-अनुपात 1970-71 में 0.6207 था जो 1985-86 में 0.5974 हो गया। इसमें कुछ कमी होने पर भी यह आज भी काफी ऊँचा बना हुआ है।

भारत में भूमिसुधारों का ठीक से क्रियान्वयन नहीं होने से मौखिक काश्तकारी (oral tenancy) ,फसल-बटाई, प्रथा, बंधुआ मजदूरी की प्रथा, आदि विद्यमान है । देहातों में ट्रैक्टर, बैल, दुधारू 'पशु, औजार आदि के वितरण में भी काफी असमानता पायी जाती है । कृषि आय के आय-कर-मुक्त होने से भी असमानता कायम रही है। बड़े किसान अपनी सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति के कारण ऊँचे वसूली मूल्य, उर्वरक-सब्सिडी, आदि का लाभ उठा कर अपनी आय ऊँची रखने में समर्थ हो जाते है, जबकि भूमिहीन श्रमिको की स्थिति बदतर होती जाती है।

(2) **औद्योगिक जगत मे बड़े व्यावसायिक घरानों का परिसम्पत्तियों पर अधिकार:-** भारत में निजीक्षेत्र में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण पाया जाता है और वह योजनाकाल में बढ़ा है । 1986-87

में 10 चोटी के औद्योगिक घरानों की परिसम्पत्ति का मूल्य 18638 करोड़ रु.था जिसमें टाटा-बिड़ला घरानों का अंश लगभग आधा था। बड़ी कम्पनियों (भारतीय व विदेशी दोनों) के प्रबंधकों के वेतन, भत्ते व अन्य देय राशियाँ बहुत ऊंची होती है। ये देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत अधिक होती है। ये देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत अधिक होती है । इससे आय की असमानताएं ऊँची बनी रहती है।

(3) **काली मुद्रा का प्रसार :-** भारत में कर की चोरी, भ्रष्टाचार व अन्य कारणों से काली मुद्रा का प्रसार बढ़ा है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर माल्कम- आदिशेशैया के अनुसार 1984-85 में यह 80 हजार करोड़ रु.हो गयी थी, जो राष्ट्रीय आय का 40% थी।

देश में एक समानान्तर अर्थव्यवस्था चल रही है जो मुद्रास्फीति, असमानता व निर्धनता को बढ़ाती है।

(4) शिक्षा के अवसरों में असमानता होने से आय की असमानता बनी रहती है। आज भी उच्च शिक्षा व उच्च नौकरियों के अवसर कुलीन व सम्भ्रान्त परिवारों को अधिक सुलभ है, और पिछड़ी जातियों के लिए अपेक्षाकृत सीमित है ।

(5) बेरोजगारी, अल्परोजगार व निर्धनता की समस्याओं के बने, रहने से भी असमानता बनी रहती है।

(6) देश में कोई अल्प-नीति नहीं है। अतः उसके अभाव में आय की असमानता बनी रहती है। मजदूरी, ब्याज, मुनाफा व किराये में आमदनी का कोई नियमन नही है।

(7) मुद्रास्फीति के कारण भी आय की असमानता बढ़ती है। योजनाकाल में आम उपभोग की वस्तुओं के भाव बढने से लोगों की वास्तविक आमदनी बहुत घट गई है। 1990 में रुपये की क्रयशक्ति 1960 'की तुलना में लगभग 1/10 रह गयी है।

देश में बड़े व्यवसायी व उद्योगपति, राजनीतिक नेता, सरकारी अफसर, ठेकेदार व बड़े किसान अपने हितों को आगे बढ़ाने में समर्थ व सक्षम है, जबकि खेतिहर मजदूर घरेलू उद्योग में संलग्न कारीगर, पिछड़ी जाति के लोग, आदि विकास की दोड़ में पिछड़ गये है। ऐसी स्थिति में आर्थिक असमानताओं का बढ़ना व जारी रहना स्वाभाविक है। देश में 'गरीबी की रेखा' की तो बात की जाती है, लेकिन सम्पन्नता की रेखा' (line of affluence) की कोई बात नहीं करता अभी तक समानता की दिशा में ठोस व कड़े कदम नहीं उठाये गये है।

9.8 आय की असमानता को कम करने के संबंध में सरकारी उपाय

भारत में योजनाकाल में 'समता व न्याय के साथ विकास' (growth with equity) की चर्चा की जाती है। इस संबंध में कुछ प्रयास भी किये गये है लेकिन अभी तक इस दिशा में अपर्याप्त सफलता ही मिल पायी है। आय की असमानता को कम करने के लिए विभिन्न सरकारी उपाय इस प्रकार किये गये है:-

(1) **प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर, विशेषतया वैयक्तिक आयकर:-**भारत में समानता की तरफ अग्रसर होने के लिए धन-कर (wealth tax), आयकर, उपहार-कर, आदि का उपयोग किया गया है । 1999-2000 के केन्द्रीय बजट, के अनुसार 1.5 लाख रुपये से अधिक की आय पर, 10% कर

राशि पर सरचार्ज के अलावा आयकर की अधिकतम सीमान्त दर 30% है । देश में आयकर को कानूनी तौर पर बचा लेने व आय को छुपा कर कर की चोरी के प्रयास किये जाने से आयकर आय की असमानता को कम करने में विफल रहा है।

(2) सरकार ने व्यावसायिक व व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर छापे, तलाशियाँ, जब्तियों, चालानों व कानूनी कार्यवाही करके काला धन व काली मुद्रा को बाहर निकालने के प्रयास किये है और ये निरंतर जारी है। लेकिन इनमें प्रक्रिया बड़ी जटिल व लम्बी चलती है और समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं निकल पाता।

(3) सरकार ने भूमि का वितरण अधिक समान -बनाने के लिए भूमि सीमा (Ceiling) कानून बनाये है, लेकिन उनका क्रियान्वयन ठीक से नहीं हो पाया है।

(4) सरकार ने एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) व ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण देने (ट्राइसम) के माध्यम से गरीबों के लिए स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न करने का प्रयास किया है तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम व ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (बाद में जवाहर रोजगार कार्यक्रम) के माध्यम से मजदूरी पर रोजगार बढ़ाया गया है। इससे रोजगार व गरीब लोगों की कुछ सीमा तक आमदनी बढ़ी है।

(5) सामाजिक सुरक्षा- कार्यक्रमों जैसे पेंशन, प्रोविडेण्ट- कोष, प्रसूति-सहायता, तथा कल्याण-कार्यक्रमों जैसे शिक्षा, चिकित्सा व पोषण- कार्यक्रम चला कर लोगों को लाभ पहुंचाने के प्रयास किये गये है।

(6) कीमत-नियंत्रण व राष्ट्रव्यापी सार्वजनिक वितरण.प्रणली को अपनाकर अलग, चीनी, खाद्य-तेल, आदि की सप्लाई निर्धारित भावों पर बढ़ा कर लोगों को कुछ सीमा तक मुद्रा स्फीति की चपेट एसे बचाने का प्रयास किया गया है लेकिन इसका प्रभाव शहरी क्षेत्रों तक विशेष रूप से सीमित रहा है।

(7) निजी क्षेत्र के एकाधिकारी प्रवृत्तियों को कम करने के लिए न MRTP अधिनियम 1969 लागू किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र, सहकारी क्षेत्र व लघु क्षेत्र का विकास किया गया। परन्तु अब उदारीकरण की प्रक्रिया ये प्रयास शिथिल हो गए है।

इस प्रकार आय की असमानताओं को कम करने के लिए योजनाकाल में विभिन्न प्रकार के प्रयास किये गये है, लेकिन दिये हुए आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक ढांचे में असमानताओं को कम करने की अपनी सीमाएं व कठिनाइयां होने से अपर्याप्त सफलता ' नहीं मिल पायी है। अतः भविष्य में निम्न दिशाओं में प्रयास करने की आवश्यकता है।

9.9 आय की असमानताओं को कम करने के लिए सुझाव

बेरोजगारी, निर्धनता व असमानता के प्रश्न 'बहुत जटिल व पेचीदे माने गये है। भारत जैसे जनाधिक्य वाले विकासशील देश में इनका समुचित व संतोषजनक हल निकाल पाना लोकतांत्रिक व्यवस्था में विशेष रूप से कठिन है। फिर भी आय की असमानताओं को कम करने के लिए निम्न उपयोगी सुझावों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(1) नियोजन व विकास की व्यूहरचना में आमूल-चूल परिवर्तन-विकास की व्यूहरचना में रोजगार पर बल दिया जाना चाहिए । साधन-आधारित क्षेत्रीय नियोजन, विकेन्द्रित नियोजन, उत्पादक प्रोजेक्टों

का चुनाव व समुदायिक परिसम्पतियों का निर्माण आदि एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते है इन सभी में स्थानीय साधनों का उपयोग स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है । इस प्रक्रिया में असमानता कम करने के बीच विद्यमान रहते है। केन्द्रिय नियोजन में नौकरशाही के निर्णयों का बोलबाला होने से विशेष लाभ नहीं मिल पाते। योजना के निर्माण, क्रियान्वयन आदि में सर्वसाधारण की भागीदारी से सामाजिक परिवर्तन व पूर्ण कायापलट की दशाएं उत्पन्न होती है।

(2) सार्वजनिक उपक्रमों व निजी उपक्रमों में प्रबंध, पूँजी व लाभ सभी में धीरे-धीरे श्रम की साझेदारी बढ़ायी जानी चाहिए जैसा कि कुछ यूरोपीय देशों जैसे फ्रांस, इटली, आदि में किया गया है। इससे औद्योगिक शक्ति बढ़ेगी और आय की समानता की दिशा में ठोस प्रगति हो'पायेगी।

(3) आधुनिक टेक्नोलोजी, आन्तरिक व विदेशी प्रतिस्पर्धा, पैमाने की किफायतें प्राप्त करके अर्थव्यवस्था को अधिक कार्यकुशल, अधिक उत्पादक विकासोन्मुख व लाभकारी बनाया जाना चाहिए। इससे लागतें कम होंगी व कीमतें भी नियमित होंगी।

(4) ग्राम व शहर की खाई कम करने के लिए ग्रामों का सर्वाधिक विकास किया जाना चाहिए। इससे ग्रामीण जनता का शहरों की तरफ पलायन रूकेगा। छोटे नगरों व कस्बों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

आशा है कि इक्कसवीं शताब्दी में भारतीय नियोजन नई दिशाओं में अग्रसर होकर गरीबी व असमानता जैसी जटिल समस्याओं का समाधान निकालने में अधिक सफलता प्राप्त कर पायेगा।

बोध प्रश्न-4

(1) भारत में आय की असमानता के चार प्रमुख कारण लिखिए,

(2) मुद्रास्फीति आय की असमानता को बढ़ाती है, स्पष्ट कीजिए।

(3) सरकार द्वारा आय की असमानता को कम करने के लिए कौन-चार उपाय किये गये है?

(4) आय की असमानताओं को कम करने के लिए आप क्या सुझाव देना चाहेंगे?

(5) ऐसे कार्यक्रम बताइए जिनसे निर्धनता की असमानता दोनों पर कडा प्रहार सम्भव हो सकता है।

9.10 सारांश

भारत में निर्धनता व असमानता की समस्याएं बहुत जटिल व दीर्घकालीन रूप धारण कये हुए है। निर्धनता की धारणा निरपेक्ष है, और इसका संबंध केलोरी की मात्रा' से किया गया है। वर्तमान समय में योजना आयोग के अनुसार लगभग 30% जनता गरीबी,क़ी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में सीमान्त व लघु कृषक, भूमिहीन श्रमिक, ग्रामीण कारीगर, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़ी जाति के अधिकांश लोग, आदि 'गरीबी के शिकार है।

निर्धनता की समस्या सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दशाओँ की देन है। सरकारी ने इसके समाधान के लिए योजनाओं में विकास-कार्यक्रम तथा विशिष्ट कार्यक्रम'अपनाये है। इनसे कुछ लाभ मिले है, लेकिन भविष्य में इनकी कमियों को दूर करके तथा विकेन्द्रित नियोजन पद्धति को अपना कर निर्धनता दूर करने का प्रयास जारी रखना होगा।'

असमानता धन की, आय की व व्यय आदि की हो सकती है। भारत में आय की असमानता का जिनी-अनुपात 1983 के लिए0.3044 रहा था। आज भी असमानता का अनुपात काफी ऊँचा है। गांवों में भू-जोतों का स्वामित्व काफी असमान है। इनके संबंध में कार्यशील जोतों में असमानता का जिनी-अनुपात 1985-86 में 0.5974 पाया गया जो काफी ऊँचा था। सरकार ने असमानता कम करने के लिए प्रत्यक्ष करों का उपयोग किया है, लेकिन उनमें काफी मात्रा में कर-वंचन होने से असमानता कम करने में कठिनाई रही है। भविष्य में सम्पूर्ण नियोजन-तन्त्र को ग्रामोन्मुख व रोजगारोन्मुख बना कर इन समस्याओ पर कड़ा प्रहार करने से ही विशेष सफलता की आशा की जा सकती है।

9.11 शब्दावली

(1) **निर्धनता की रेखा (Poverty line):-** गाँवों में प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन 2400 केलोरी तथा शहरों में 2100 केलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्ति निर्धन माने जाते है। व्यय की दृष्टि से 1983-84 के भावों पर गांवों में प्रति व्यक्ति प्रति माह 101 .80 रुपये तथा शहरों में 117.50 रुपये से कम व्यय करने वाले व्यक्ति निर्धन माने गये है।

(2) **निर्धनता-अनुपात (Poverty ratio):-** कुल निर्धन व्यक्तियों क़ा कुल जनसंख्या से अनुपात निर्धनता-अनुपात कहलाता है। यह ग्रामणी क्षेत्रों समस्त क्षेत्रों के अनुसार अथवा राज्यवार व विभिन्न समुदायों (अनुसूचित जाति, आदि) के अनुसार ज्ञात किया जा सकता है।

(3) **असमानता का जिनी-अनुपातः-**यह असमानता को ज्ञात करने के लिए कम में लिया जाता है। इसके लिए आय की पूर्ण समानता की रेखा व लॉरेन्ज वक्र के बीच की दूरी का क्षेत्रफल आय की पूर्ण समानता व आय की पूर्ण असमानता के बीच की दूरी या क्षेत्रफल का भाग दिया जाता है।

(4) **प्रत्यक्ष कर:-** ये वे कर होते है जिनका भार करदाताओं को ही वहन करना होता है जैसे व्यक्तिगत आयकर, कम्पनी लाभ कर, धन-कर, उपहार-कर आदि । ये आय की असमानता को कम करने के लिए काम में लिये जाते है तथा सरकारी राजस्व बढ़ाने में भी सहायक होते है।

(5) **विकेन्द्रित नियोजन:-**इसे 'नीचे के नियोजन' (planning from below) भी कहते है। इसमें जिला, खण्ड व ग्राम स्तर पर योजनाएं बनायी जाती है । इससे बेरोजगारी, निर्धनता व असमानता दूर करने में विशेष मदद मिलती है।

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(1) Mishra & Puri, Indian Economy, latest Ed.

(2) L.N. Nathuramka, भारतीय उर्लशास्त्र समस्याएं, नवीनतम संस्करण

(3) D. Bandyopdhyay, Direct Intervention Programmes for Poverty Alleviation-AnAppraisal, an article in EPW, June 25,1988, pp. A-77 to 1-88.

(4) A review of the Agricultural Cedit System in India, Report, (RBI, Bombay), 1989, ch. 21 (IRDP), Pay VIII, pp. 741-782.

9.13 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

(1) (स)

(2) ग्रामीण-निर्धनता के अनुपात प्रतिशत में (%)	ग्रामीण निर्धनों की संख्या (करोड़ में)
1977-7851.2	25.3
1984-8539.9	22.2
1989-9028.2	16.9

(2) डा.मोन्टेक अहलूवालिया के अनुसार 1956-57 से 1977-78 के बीच ग्रामीण निर्धनता में कोई निश्चित प्रवृत्ति नहीं। योजना-आयोग के अनुसार 1977-7 8 से 1989-90 के बीच निर्धनता-अनुपात में कमी।

(3) (अ) मूलतः ग्रामीण

(ब) दीर्घकालीन

(स) कृषिगत उत्पादन के उतार-चढ़ाव से जुड़ी

(द) मूलतः अल्पविकास की परिचायक।

बोध प्रश्न-2

(1) (1) ग्रामीण जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि

(2) कार्यशील भू-जोतों का असमान, वितरण व भूमि-सुधारों के क्रियान्वयन में कमी

(3) गांवों में निर्धन-वर्ग द्वारा खरीदे जाने वाली खाद्य-पदार्थों की कीमतों में वृद्धि

(4) कृषिगत उत्पादन में धीमी व अनियमित वृद्धि।

(2) हां, कुछ सीमा तक यह सही है कि क्योंकि ग्रामीण जनता के शहरों की ओर निरंतर पलायन से शहरी निर्धनता का दबाव बढ़ता है। लेकिन अन्य कारणों ने भी शहरी निर्धनता को बढ़ाया है। इस संबंध में शहरों में घरेलू उद्योगों का पतन व श्रम की पूर्ति की मांग से अधिक होना जैसे कारण गिनाये जा सकते है।

(3) विकास के टपकने वाले प्रभाव' का अर्थ है स्वयं विकास की प्रक्रिया से निर्धनता का कम होना, बेरोजगारी कम होना। भारत में यह प्रभाव कमजोर रहा क्योंकि गांवों में विभिन्न जन-समूह एक-से नहीं है, और विकास के अधिक लाभ सम्पन्न वर्ग ने हथिया लिए। इसलिए निर्धनता-उन्मूलन के लिए विशिष्ट कार्यक्रम अपनाने पड़े।

(4) (i) इससे स्वरोजगार के अवसर उत्पन्न किये जाते है और गरीबों को कोई-न-कोई परिसम्पत्ति (asset) दी जती है; जैसे दुधारू पशु, हथकरघा, सिलाई की मशीन आदि।

(ii). इसमें सब्सिडी व कर्ज की व्यवस्था की जाती है। जिनका अनुपात प्राय: 1:2 पाया जाता है।

(iii). आमदनी बढ़ने से लोग गरीबी की रेखा से ऊपर आ सकते है।

(iv). इसमें केन्द्र व राज्यों का अंश सब्सिडी या वित्तीय साधनों में आधा-आधा होता है।

(5) (i) ये परिवार-आधारित होने से संकुचित रहे है। इन्हें संसाधन-आधारित क्षेत्रीय नियोजन का अंग बनाया जाना चाहिए था।

(ii). इनमें प्रशासनिक दृष्टि से कई प्रकार की कमियां व दोष रहे है जैसे गलत परिवारों का चयन, सभी खण्डों में एक से कार्यक्रम अपनाना स्थानीय साधनों व स्थानीय आवश्यकताओं का ध्यान न रखना, सब्सिडी का दुरुपयोग आदि।

(iii). अवास्तविक लक्ष्य निर्धारित करना।

(iv). कार्यक्रम के आगे-पीछे की कड़ियों (linkages) पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया।

(6) (i) जिला, खण्ड व ग्राम स्तर पर प्रोजेक्ट-आधारित नियोजन तथा आर्थिक विकास,

(ii). भूमि-सुधारों का प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन

(iii). सामाजिक कल्याण संबंधी कार्यक्रमों का विस्तार- शिक्षा,चिकित्सा, पोषण आदि

(iv). निर्धनों का राजनीतिक संगठन

बोध प्रश्न-3

(1) (i) धन की असमानता

(ii). आय की असमानता

(iii). उपयोग-व्यय की असमानता

(iv). अवसर की असमानता

(2) 1983 के लिए आय के वितरण का जिनी-अनुपात 0.3044 रहा था।

(3) निम्नतम 20% परिवारों के पास आय का 8% या 1/12 अंश

उच्चतम 20% परिवारों के पास आय का 41% या 2/5 अंश

उच्चतम 10% परिवारों के पास आय का 27% या 1/4 अंश।

(4) (i) विकास के प्रारम्भ में इसमें बढ़ों की प्रवृत्ति

(ii). सम्पत्ति के वितरण की असमानता आय के वितरण की असमानता से अधिक

(iii). असमानता में जारी रहने या निरंतरता की प्रवृत्ति

बोध प्रश्न - 4

(1) (i) ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि व पूँजीगत साधनों का असमान वितरण

(ii). औद्योगिक जगत में बड़े व्यावसायिक घरानों का परिसम्पत्तियों पर अधिकार

(iii). कालीमुद्रा का प्रसार

(iv). देश में व्याप्त बेरोजगारी, अल्परोजगार व निर्धनता

(2) मुद्रास्फीति से धनी अधिक धनी हो जाते है और गरीब अधिक गरीब हो जाते है। धनी लोग मुनाफे, ब्याज, आदि के रूप में अधिक आय जुटा लेते है जबकि गरीब लोगों की क्रय शक्ति काफी घट जाती है। इससे आय की असमानता घटती है। भारत में 1990 में 1960 की तुलना में रुपये का मूल्य 10 पैसे रह गया है।

(3) (i) प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर, विशेषतया वैयक्तिक आय कर का उपयोग

(ii). काली मुद्रा को बाहर निकालने के लिए छापे, तलाशियां, वगैरह;

(iii). स्वरोजगार व मजदूरी पर रोजगार देने के कार्यक्रमों का लागू किया जाना

(iv). सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम लागू करना

(4) (i) विकास की व्यूहरचना में आमूल-चूल परिवर्तन-स्थानीय साधनों व स्थानीय आवश्यकताओं से ताल-मेल बैठाते हुए स्थानीय /विकेन्द्रित नियोजन पद्धति अपनाना व उसे रोजगारोन्मुख बनाना'

(ii). श्रमिकों को प्रबन्ध, पूँजी व लाभ सभी में भागीदारी देना

(iii). अर्थव्यवस्था आधुनिकीकरण न लागत-कुशलता बढ़ाना

(iv). ग्राम व शहर की खाई पाटना, छोटे शहरो व कस्बों का औद्योगीकरण करना।

(5) (i) नियोजन का केन्द्र ग्राम,खण्ड,जिला हो, तथा विकास का आधार रोजगार बनाया जाय

(ii). आम उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जाय तथा मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 5% से नीची रखी जाय।

(iii). सामाजिक कल्याण - शिक्षा, चिकित्सा व पोषण पर सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके आम आदमी को विशेष लाभ पहुंचाया जाय

इकाई 10

बेरोजगारी स्वरूप तथा आकार-उद्योगीकरण तथा रोजगार एवं रोजगारनीति

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 बेरोजगारी का स्वरूप

10.2.1 बेरोजगारी के प्रकार

10.2.2 विकसित तथा अविकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप

10.3 बेरोजगारी के कारण

10.4 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

10.5 भारत सरकार की रोजगार सम्बन्धी नीति

10.6 भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी

10.7 भारत में उद्योगीकरण तथा रोजगार

10.8 सारांश

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 उद्देश्य

भारत में प्रत्येक वर्ष रोजगार चाहने वालों की संख्या की तुलना में रोजगार के अवसर बहुत कम बढ़े है । भारत की जनसंख्या वृद्धि की दर पिछले कई दशकों से 2 प्रतिशत वार्षिक से अधिक रही जबकि रोजगार के अवसर धीमी गति से बढ़े यही कारण है रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत आवेदकों की संख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है । यह भी सर्वविदित ही है कि केवल शहरी एवं शिक्षित युवा ही अपना पंजीकरण करवाते है। एक अनुमान के अनुसार नौवीं योजना अवधि (1997-2002) में जनसंख्या 94.98 करोड़ से बढ़कर 102 करोड़ हो जाएगी । रोजगार इसी अवधि में 39.72 करोड़ से बढ़कर 45.2 करोड़ होंगे। जबकि बेरोजगारों की संख्या इस अवधि में 5.9 करोड़ तक बढ़ने का अनुमान है। अर्थात् बेरोजगारों में 1.18 करोड़ की वृद्धि प्रतिवर्ष होगी। नौवीं योजना में कुल बेरोजगार 10.6 करोड़ होने का अनुमान है।

भारत में रोजगार की औसत वार्षिक वृद्धि दर (संगठित एवं असंगठित).दोनो क्षेत्रों में 1972-78 की अवधि में 2.75% वार्षिक थी जो घटकर 1977-83 की अवधि में 1.77% रह गई। रोजगार वृद्धि की दर 1987-94 की अवधि में यह पुन: बढ़कर 2.37% वार्षिक हो गई । परन्तु संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि की दर घटी यह गिरावट सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक रही। अब यह नकारात्मक हो गई है। निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़े है। 1996 में इसमें 5.62% की वृद्धि हुई यह आर्थिक उदारीकरण

का परिणाम है। परन्तु निजीक्षेत्र की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तुलना में काफी कम हैं । इस कारण सम्भव हैं निजी क्षेत्र भविष्य में इस वृद्धि दर को कायम न रख सकें। उदारीकरण के पाँच वर्षों में (1991-95) संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर निरन्तर घटी है। अतः इस इकाई का उद्देश्य आपको:

- बेरोजगारी के स्वरूप तथा आकार के बारे में विस्तृत जानकारी देना है
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप बेरोजगारी के विभिन्न प्रकार एवं इसके कारणों से परिचित हो सकेगे।

10.1 प्रस्तावना

भारत एक अल्पविकसित किन्तु विकासशील देश है । हमारे देश में सारी श्रमिक सख्या रोजगार में नियोजित नही है । इसका एक बड़ा भाग बेरोजगारी की स्थिति में है । बेराजगारी भारत को मूलभूत एवं अत्यन्त गम्भीर समस्या है। यह सम्पूर्ण देश में बहुत व्यापक रूप में फैली हुई है और प्रतिवर्ष इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है।

हमारे देश मे बेरोजगारी का स्वरूप औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की अपेक्षा भिन्न है। लार्ड केन्स के विश्लेषण के अनुसार विकसित देशों में बेरोजगारी का मूल कारण समर्थ मांग का अभाव (Lack of effective Demand) है। इसका अर्थ यह है कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं में मशीने बेकार हो जाती है और श्रम की मांग उद्योगों के उत्पादन की मांग से कम हो जाने के कारण गिर जाती है । इस कारण केन्स ने बेरोजगारी को दूर करने के उपचारों में इस बात पर बल दिया कि देश में मन्दी को रोकने के लिए समर्थ मांग को पर्याप्त स्तर पर ऊँचा रखना होगा।

भारत में बेरोजगारी गांवों तथा शहरों में व्यापक रूप में फैली हुई है । वह समस्या शिक्षित वर्गो के बीच भी विद्यमान है और अशिक्षित वर्गों में भी व्यापक रूप में फैली हुई है। देश में काफी बड़ी संख्या में श्रमिक बेरोजगार है या अल्प-रोजगार की स्थिति में है। हमारे देश में ऐसे श्रमिक भी है जो वर्ष के कुछ महीनों में तो रोजगार में रहते है और शेष महीनों में बेरोजगारी का जीवन बिताते है।

बेरोजगारी के अनेक आर्थिक एवं सामाजिक टुष्परिणाम होते है। आशिक मात्रा में बेरोजगारी की स्थिति में राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है जिसका पूंजी निर्माण, व्यापार-व्यवसाय और देश की आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । सामाजिक सुरक्षा के अभाव में बेरोजगार व्यक्ति प्राय: अनेंक बुराईयों-जैसे चोरी, डकैती बेईमानी शराबखोरी आदि के शिकार हो जाते है।

10.2 बेरोजगारी का स्वरूप

भारतीय अर्थव्यवस्था में श्रम की अधिकता है और भूमि पूंजी, उद्यम आदि का अभाव है। देश की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, भूमि पर जनभार अधिक है। और जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि की दर भी ऊँची है। जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने के कारण श्रम-शक्ति में भी अतितीव्र गति सें निरन्तर वृद्धि हो रही हैं।

भारत में बेरोजगारी के स्वरूप की जानकारी के आधार पर हो हम इसके लिए उपयुक्त नीति व उपाय के बारें में नीति निर्धारण कर सकते है।

हमारे देश में औद्यौगिक क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा है जिसमें सीमित मात्रा में ही श्रमिकों को रोजगार मिल सकता है । परम्परागत कुटीर एवं लघु उद्योगों में रोजगार देने की मात्रा तो अधिक होता है लेकिन इनके विकास में बाधाये अधिक होने के कारण इनका विकास धीमी गति से ही हो पा रहा है।

भारत में प्रतिवर्ष श्रमशक्ति में वृद्धि हो रही है परंतु श्रम बाजार में प्रवेश करने वाले सभी नये श्रमिकों को रोजगार नहीं मिल पा रहा है। इस कारण देश में बेरोजगारी की स्थिति गम्भीर एवं जटिल होती जा रही है।

10.2.1 संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Unemployment)

भारत की बेरोजगारी देश के पिछले आर्थिक ढाँचे के साथ संबंधित है। हमारे देश में बेरोजगारी दीर्घकालिक है क्योंकि यह देश के अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के साथ गहरे तौर पर संबंधित है। देश में बचत की दर तथा पूंजी निर्माण की मात्रा विकसित देशों की तुलना में नीची है इसलिये रोजगार की मात्रा भी अल्प ही है। देश में नये काम-धन्धे एवं रोजगार की मात्रा इतनी कम है कि प्रतिवर्ष रोजगार की मात्रा में नाममात्र की वृद्धि होती है। इस कारण रोजगार की मात्रा लगभग स्थिर रहती है। निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उपलब्ध रोजगार के अवसरों में भारी अन्तर होने के कारण बेरोजगारी स्थायी या दीर्घकालिक हो गई है देश में बेरोजगारी की समस्या का समाधान तीव्र आर्थिक विकास द्वारा ही संभव है।

बेरोजगारी के प्रकार (Types Of unemployment)

भारत में बेरोजगारी के निम्न प्रकार है एवं रूप है।

(i). प्रच्छन्न बेरोजगारी (Disguised unemployment)

प्रच्छन्न बेरोजगारी प्राय : ग्रामीण क्षेत्रों में पाई जाती है । इस प्रकार की बेरोजगारी में ऊपरी तौर पर तो श्रमिक काम में लगे दिखाई देते है परन्तु वास्तव में वे बेरोजगार होते है । इनकी यह बेरोजगारी छिपी होती है । क्योंकि इन श्रमिकों का काम में लगे होने क उपरान्त भी उत्पादन में कोई योगदान नहीं होता है। अर्थात् इन श्रमिकों का सीमान्त उत्पादन शून्य होता है । प्रा० नर्कसे के अनुसार अल्प विकसित देशों में कृषि क्षेत्र में काफी संख्या में ऐसे श्रमिक लगे होते है जिन्हें कृषि से हटा लिया जावे तो भी उत्पादन में किसी प्रकार की कमी नहीं होगी । इस प्रकार के श्रमिक आर्थिक दृष्टि से बेरोजगार की श्रेणी में आवेंगे जबकि देखने में ये काम पर लगे हुए दिखाई देते है स्पष्टतः इन श्रमिकों की बेराजगारी छिपी हुई या प्रछन्न बेरोजगारी होती है।

(ii). खुली बेरोजगारी

इस श्रेणी में श्रमिकों का वह वर्ग आता है जिन्हें किसी प्रकार का काम उपलब्ध नहीं है। काम न मिलने से यह वर्ग पूरी तरह से बेरोजगार है। इस प्रकार की बेरोजगारी ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों के बेरोजगार व्यक्ति काम की तलाश में शहरी क्षेत्रों में आते रहते है। शहरों में काम उपलब्ध होने के कारण वे वहां बेरोजगारी की श्रेणी में पड़े रहते है। ऐसे श्रमिकों को जब तक रोजगार नहीं मिलता है इन्हें खुली बेरोजगारी को क्षेणी में माना जाता है। इस श्रेणी में अधिकतर साधारण कोटि के श्रमिक होते है जो उद्योग एवं कारखानों में रोजगार प्राप्त करना चाहते है। इस श्रेणी में शिक्षित बेरोजगार वर्ग के श्रमिक भी सम्मलित होते है।

(iii). शिक्षित बेरोजगारी

शिक्षित बेरोजगारी की स्थिति भी देश में अत्यन्त जटिल होती जा रही है । इस श्रेणी में वे श्रमिक आते है जिनको शिक्षित करने के लिए देश में आर्थिक संसाधनों का उपयोग किया गया है ओर विशेष ज्ञान शिक्षा एवं दक्षता के कारण इस प्रकार के श्रमिकों को काम करने की क्षमता अन्य साधारण श्रमिकों की अपेक्षा अधिक होती है । यह श्रमिक विशेष प्रकार के कार्य करने के योग्य होते है इसलिए काम के प्रति इनकी प्रत्याशाये भी भिन्न प्रकार की होती है।

इस श्रेणी में ऐसे व्यक्ति भी होते है जिन्हें अपनी शिक्षा के अनुरूप काम नहीं मिला होता है या उपलब्ध कार्य उनकी क्षमता से कम होता है। इस स्थिति में यह श्रमिक अल्प रोजगार की स्थिति में होते हैं देश में बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति है जिन्हे किसी प्रकार का काम उपलब्ध नही हें । इस प्रकार के शिक्षित व्यक्ति खुली बेरोजगारी की श्रेणी में आते है।

देश में शिक्षा के प्रकार होने से शहरी क्षेत्रों में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस समस्या के समाधान के लिए विशेष प्रयास अपेक्षित है।

(iv). ग्रामीण क्षेत्रों मे बेरोजगारी

भारत में अधिकांश बेरोजगारी ग्रामीण क्षेत्रों में पाई जाती है। हमारे देश में कृषि का व्यवसाय देश वासियों का प्रमुख तथा प्रधान व्यवसाय है परन्तु यह मौसमी व्यवसाय होता है । देश के विभिन्न राज्यों में मौसमी बेरोजगारी की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है । एक अनुमान के अनुसार लगभग पांच से सात माह तक ग्रामीण श्रमशक्ति का बड़ा भाग बेरोजगार रहता है। देश में कुटीर उद्योगों के पराभव के कारण कृषि क्षेत्र के श्रमिकों को अपना फालतू समय कुटीर उद्योगों में लगाने का अवसर भी समाप्त हो गया है।

हमारे देश में कृषि क्षेत्र में निरन्तर अल्प रोजगार तथा अदृश्य बेरोजगारी की विकट एवं गम्भीर समस्या है। देश में भूमि पर निर्भर कार्यशील जनसंख्या में तो निरन्तर वृद्धि हो रही है परन्तु कृषि योग्य क्षेत्र में उस परिमाण में वृद्धि नहीं हो पाई है । इसलिये कृषि में जनाधिक्य की स्थिति पैदा हो गई है। हमारे यहां कृषि में आवश्यकता से अधिक व्यक्ति लगे हुए है। इसलिए कृषि में प्रतिव्यक्ति औसत उत्पादकता बहुत ही कम है।

10.2.2 विकसित तथा अविकसित देशों मे बेरोजगारी का स्वरूप

विकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या मूलतः व्यापार चक्र से संबंधित रहती है । इन देशों में व्यापार चक्र में मन्दी की स्थिति उत्पन्न होने पर बहुत से श्रमिक एक साथ बेकार हो जाते है । पूंजीवादी देशों में व्यापार चक्र के कारण बेकारी की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। इस प्रकार की बेरोजगारी अल्पकालीन होती है। आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि होने पर बेरोजगारी की स्थिति भी समाप्त हो जाती है। आर्थिक मन्दी की स्थिति में प्रभावपूर्ण मांग कम हो जाती है। मांग कम होने से उत्पादन कम कर दिया जाता है। अनेक कारखाने बन्द हो जाते है या उत्पादन की मात्रा कम कर दी जाती है। इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में श्रमिक बेरोजगारी हो जाते है।

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी का कारण आर्थिक मन्दी या प्रभावपूर्ण मांग का अभाव नहीं है। इन देशों में बेरोजगारी मूल रूप से जनशक्ति के पूर्ति पक्ष से जुड़ी हुई है। अल्पविकसित देशों में उत्पादन क्षमता तथा विकास का स्तर नीचा होता है। इस कारण यहां रोजगार के अवसर सीमित रहते है और अधिसंख्या श्रमिक बेरोजगार रहते है। इस प्रकार की बेकारी को दूर करने के लिए उत्पादन क्षमता में तीव्रगति से वृद्धि करनी आवश्यक है। यह तभी संभव है जब इन देशों में पूजी निर्माण में भी तेजी

से वृद्धि की जाय जबकि विकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप चक्रिय बेरोजगारी होती है जो मांग में कमी आने के कारण पैदा होता है। उनका निराकरण प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करके किया जा सकता है।

भारत में बेरोजगारी का फैलाव बहुत अधिक है । यह दीर्घकालिक स्वरूप की समस्या है। हमारे देश में बेरोजगारी जन-शक्ति के पूर्ति पक्ष से संबंधित है । देश में पूंजी निर्माण की दर बहुत नीची है और उत्पादन क्षमता भी काफी कम है । हमारे देश में बहुत बड़ी मात्रा में प्रच्छन्न बेरोजगारी विद्यमान है। कृषि अर्थव्यवस्था होने के कारण यहां अल्प रोजगार तथा मौसमी बेरोगारी की स्थिति पाई जाती है।

हमारे देश में खुली बेरोजगारी प्राय: शहरी देशों में पाई जाती है । ग्रामों में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो सारे साल में काफी समय बेरोजगार रहते है। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाश जनसंख्या कृषि कार्य से जुड़ी रहती है जिसे मौसमी आधार पर समय-समय पर थोड़ा बहुत रोजगार मिलता रहता है। हमारे यहां बेरोजगारी की समस्या प्रमुख रूप से ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार व्यक्ति काम की तलाश में शहरों में आते रहते है जिससे शहरी क्षेत्र में अकुशल तथा अशिक्षित व्यक्तियों की बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न होती है।

10.3 बेरोजगारी के कारण

भारत में पिछले 50 वर्षों में नियोजित आर्थिक विकास के बावजूद बेरोजगारी की समस्या अधिक जटिल हुई है । इस दौरान जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है जिससे बहुत अधिक संख्या में नये लोग श्रम-बाजार में सम्मलित हो रहे है। योजना काल में ग्रामीण उद्योगीकरण में विशेष प्रगति नहीं हुई है। कृषि के क्षेत्र में भी नवीन विधियों का प्रयोग पिछले 35 वर्षों से ही सम्भव हुआ है। देश को शिक्षा नीति भी दोषपूर्ण रही है तथा सरकार के पास आर्थिक साधनों का अभाव बना रहा है। सामाजिक पिछड़ेपन के कारण श्रमिक गतिशीलता में रुकावट बनी रही है। समय-समय पर प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी बेरोजगारी की स्थिति में वृद्धि हुई है । भारत में बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्न प्रकार है

(1) जनसंख्या की तीव्रवृद्धि

(2) कृषिगत विकास का अभाव

(3) सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग का अभाव

(4) पूंजी गहन योजनाओं पर अधिक जोर

(5) शिक्षा प्रणाली के दोष

(6) निजी क्षेत्र में अनिश्चितता की स्थिति तथा सरकारी नियंत्रण

(7) रोजगार नीति व जनशक्ति नियोजन

(1) जनसंख्या की तीव्र वृद्धि

भारत में बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या है। देश में जनसंख्या 2.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है जबकि रोजगार की सुविधाएं उस दर से नहीं बढ़ रही है। अब देश में आर्थिक विकास की दर जनसंख्या की वृद्धि दर की तुलना में कम होती है तो बेरोजगारी की समस्या पैदा होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले देश में कुटीर उद्योगों के पतन के कारण रोजगार के अवसर समाप्त होते गये। अंग्रेजो के शासनकाल में देश की अर्थव्यवस्था

गतिहीन बनी रही । उस काल में आधुनिक ढंग के बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना नहीं की गई इस कारण देश में रोजगार के नये अवसर बहुत सीमित मात्रा में सृजित हुए।

प्रो० सुंदरम के अनुमानों के अनुसार 1981 -9 1 के दशक में श्रम-शक्ति में 8 करोड़ लोगों की वृद्धि हुई है। उनके अनुमान के अनुसार 1991.2001 के दस वर्षों में जनसंख्या में अधिक तीव्र वृद्धि होने के कारण श्रमशक्ति में लगभग 10 करोड़ लोगों की वृद्धि हो जावेगी। अर्थात एक करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष देश की श्रमशक्ति में जुड़ते रहेंगे। यह एक विस्फोटक स्थिति होगी।

(2) कृषिगत विकास का अभाव

देश में 1951 में नियोजन का कार्य चल रहा है । परन्तु यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। भारत में कृषिगत विकास की दर बहुत धीमी रही हैं। हमारे देश में कृषि विकास की दर 2% से कम हो रही है। जब तक खाद्य फसलों की पैदावार में तेजी से वृद्धि नहीं होगी तब तक कृषि एवं गैर कृषि क्षेत्रों में रोजगार के अवसर सृजित नहीं होंगे। देश में कृषिगत विकास की धीमी गति ने बेरोजगारी की समस्या को अधिक जटिल बना दिया है।

(3) सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग का अभाव

देश में नये-नये कारखाने खुलने से रोजगार की स्थिति में सुधार होता है। सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी निवेश करने से बड़े पैमाने पर नये रोजगार के अवसर सृजित होते है। हमारे देश में 1965 के पश्चात सार्वजनिक विनियोग की वार्षिक वृद्धि की दर पहले की तुलना में कम रही है। विदेशी सहायता की अनिश्चितता की स्थिति, मुदा स्फीति तथा 1965 व 1971 के युद्ध के कारण देश में पूंजी निवेश में धीमी गति से वृद्धि हुई है। सार्वजनिक विनियोग के कम होने के कारण रोजगार के अवसर भी पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़े है। सार्वजनिक विनियोग की धीमी वृद्धि दर के कारण देश में आधार ढांचे का भी पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। जिनका निजी क्षेत्र कें विनियोग पर भी प्रभाव पड़ा है। सार्वजनिक तथा निजी विनियन की वृद्धि दर धीमी रहने के कारण रोजगार के अवसर पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़ सके है।

(4) पूंजीगहन योजनाओं पर अधिक जोर

हमने द्वितीय पंचवर्षीय योजना से पूंजी गहन तथा आधारभूत उद्योगों के विकास पर अधिक चल दिया है । इसके अन्तर्गत भारी इन्जीनियरी भारी रसायन आदि उद्योगों से अधिक पूंजी निवेश किया गया किन्तु इन उद्योगों की स्थापना से रोजगार के अवसरों में अधिक वृद्धि नहीं हुई। इस प्रकार के उद्योगों की स्थापना से अल्पकाल में रोजगार के अवसर बहुत कम सृजित होते है। इस दौरान कुटीर लघु, एवं ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहित करने का संकल्प तो दोहराया गया परन्तु उस दिशा में सफल प्रयास नहीं किये गये। इससे बेरोजगारी की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती रही हैं।

(5) शिक्षा प्रणाली के दोष

हमारे देश में शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण रही है। अभी तक शिक्षा प्रणाली को आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप नही बनाया जा सका है। प्रारम्भ से ही शिक्षा प्रणाली में नौकरी तलाश करने वाले लोगों के वर्ग को जन्म दिया है। इससे स्वरोजगार को कभी बढ़ावा नहीं दिया गया है। इसी कारण शिक्षित बेरोजगारी की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही है । 1990 के प्रारम्भ में हाईस्कूल या इससे अधिक शिक्षा प्राप्ति शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 195 लाख से अधिक आंकी गई है। इस स्थिति को बदलने के लिए हमें व्यवसाय प्रधान शिक्षा प्रणाली का अवलम्बन करना होगा।

(6) निजी क्षेत्र में अनिश्चितता की स्थिति तथा सरकारी नियंत्रण

सरकार द्वारा निजी क्षेत्रों पर आर्थिक नियंत्रण की नीति अपनाये जाने के कारण निजी क्षेत्र हतोत्साहित हुआ है। इस कारण निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर अपेक्षा के अनुरूप सृजित नहीं हुए है। सरकार की राजकोषीय नीतियां निजी विनियोग को प्रोत्साहित नहीं कर पाई है। सरकार द्वारा अनेक प्रकार के औद्योगिक नियत्रण लगाये गये है जिससे उन्हें अपने कार्यो का विस्तार करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है । सरकारी नियंत्रण में ढील देने की नीति अपनाने के परिणाम स्वरूप उन्हें अपने कार्यों के विस्तार का अवसर मिलेगा जिससे रोजगार के अधिक अवसर सृजित हो सकेंगे।

(7) रोजगार नीति व जन शक्ति नियोजन

हमने 1951 से देश में पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश के आर्थिक विकास का संकल्प लिया परन्तु इन योजनाओं में देश की अधिसंख्य जनसंख्या को रोजगार देने की कोई व्यापक तथा प्रगतिशील नीति का निर्धारण नहीं किया गया। हमने जन-शक्ति नियोजन की निरन्तर अपेक्षा की है। इसी कारण देश में रोजगार को मात्रा बढ़ने के उपरान्त भी बेरोजगारी की समस्या निरन्तर उग्र हो रही है।

10.4 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

भारत में बेरोजगारी की मात्रा का अनुमान लगाना कठिन कार्य है। आर्थिक नियोजन के बावजूद बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। बेरोजगारी की श्रेणी में बालक, युवा, प्रोढ, स्त्री पुरुष सभी समाविष्ट है जो शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में फैले हुए है । देश में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी अधिक व्यापक है। शहरों में कुशल, अकुशल, शिक्षित तथा अशिक्षित सभी वर्गों में बेरोजगारी की भयावह स्थिति है। देश में खुली बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी, अल्प रोजगार तथा प्रच्छन्न रोजगार सभी का अन्तहीन सिलसिला चला जा रहा है। सन् 1985 में विभिन्न आयु वर्गो में बेरोजगारों की स्थिति निम्न प्रकार थीं:

	आयु वर्ग	**बेरोजगारी**
1.	बालक तथा वृद्ध	90.20 लाख
2.	15 वर्ष की आयु तक	80.37 लाख
3.	15-59 आयुवर्ग	80.6 7 लाख

सातवी पंचवर्षीय योजना के दौरान बेरोजगारों की स्थिति में विशेष सुधार की आशायें नहीं हैं। सातवीं योजना के दौरान 20 मिलियन अतिरिक्त रोजगार के अवसरों का सृजन करने का प्रावधान था। उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के बाद बेरोजगारी की संख्या में और वद्धि हुई। इस शताब्दी के अन्त में भारत में कुल 10 करोड़ सें अधिक व्यक्ति बेरोजगार होंगे।

सन् 1984-85 और 1989-90 कें बीच रोजगार की वृद्धि की दर विभिन्न क्षेत्रों में निम्न प्रकार आंकी गई है।

तालिका 10.1

विभिन्न क्षेत्रों में 1984- 85 से 1989-90 तक रोजगार वृद्धि के अनुमान

क्र०सं०	**क्षेत्र**	**रोजगार के अवसर (मिलियन)**		**वृद्धि**	**रोजगार की वार्षिक वृद्धि प्रतिशत में**
		1984.85	**1989.90**		
1.	कृषि	96.108	114.092	17.084	3.49

2.	खनन तथा खनिज	1.153	1.494	0.341	5.32
3.	विनिर्माण उद्योग	26.790	33.466	6.676	4.55
4.	भवन निर्माण आदि	10.427	12.624	2.197	3.90
5.	विद्युत	1.031	1.498	0.467	7.76
6.	रेलवे	1.544	1.688	0.144	1.80
7.	अन्य यातायात	9.440	11.810	2.370	4.58
8.	संवाद वहन	0.951	1.224	0.273	5.18
9.	अन्य सेवाये	39.261	49.165	9.904	4.60
	योग	**186.705**	**227.061**	**40.356**	**3.99**

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1985-90 के दौरान 40.4 मिलियन नये रोजगार के अवसर उपलब्ध कराये जा सकेंगे। इस दौरान 36.3 मिलियन नये लोग श्रम बाजार में जुड़ जावेंगे। 1985 से पूर्व देश में 7.8 मिलियन व्यक्ति बेरोजगार थे। 1985-90 के दौरान 44 मिलियन से अधिक व्यक्ति बेरोजगार होंगे जबकि 1985-90 के दौरान कुल 40 मिलियन नये रोजगार के अवसर सृजित होंगे। इस प्रकार 1990के30 मिलियन व्यक्ति बेरोजगारी स्थिति में रहेंगे।

इन आँकड़ों के उपरान्त भी देश में बेरोजगारी की सही स्थिति आंकलन करना अत्यधिक कठिन कार्य है सन् 1991 की जनगणना ने बेरोजगारी की स्थिति का कुछ स्पष्ट आंकलन किया है।

10.5 भारत सरकार की रोजगार संबंधी नीति

भारत सरकार ने बेरोजगारी के संबंध में 1970 में "भगवती समिति की स्थापना की थी। इस समिति ने 16 मई 1973 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें बताया गया कि 1971 में 187 लाख व्यक्ति बेरोजगार थें । इनमें 90 लाख व्यक्तियों के पास कोई रोजगार नहीं था। 97 लाख व्यक्तियों के पास सप्ताह में मात्र 14 घण्टे का काम था अर्थात् यह भी बेरोजगारों की ही श्रेणी में आते थे। इस समिति ने बेरोजगारी' को दूर करने के निम्न'सुझाव दिये थे:

1. जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए लड़कों को न्यूनतम विवाह आयु 21 वर्ष तथा लड़कियों को विवाह आयु- 18 वर्ष को जावे।
2. रोजगार तथा श्रम शक्ति नियोजन पर एक राष्ट्रीय आयोग गठित किया जावे।
3. काम देने की मौलिक अधिकार की योजना सम्पूर्ण देश पर लागू की जावे।
4. बेरोजगार व्यक्तियों को काम की गारंटी देने के लिए एक देशव्यापी कार्यक्रम लागू किया जावें।जो लोग रोजगार में लगे हुए है उनके लिए रोजगार की हानि होने पर बीमा व्यवस्था लागू की जावे।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण, सड़क निर्माण, लघु सिंचाई तथा ग्रामीण भवन निर्माण की योजनाओं को आगामी दो वर्षों में तेजी से लागू किया जावे। रोजगार कार्यक्रमो को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए आवश्यक संसाधन की व्यवस्था की जावे।
6. सप्ताह के काम के घण्टों को 48 घण्टे से घटाकर 42 घण्टे किया जावे कारखानों में सप्ताह में सात दिन पूरी क्षमता से काम होना चाहिए।
7. श्रम प्रधान उद्योगों के लिए करो में छूट और रियायत की व्यवस्था की जावे तथा बड़े-बड़े नगरों से उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जावे।

8. कृषि क्षेत्र में श्रम बचाने वाली भारी मशीनों के प्रयोग पर नियंत्रण लगाया जावे।
9. शिक्षा तथा प्रशिक्षण के क्षेत्र में वार्षिक दर से 5 लाख नौकरियों के लिए प्रबन्ध किया जावे।
10. राज्य स्तर पर रोजगार तथा श्रम शक्ति नियोजन व्यवस्था कार्यो की देखभाल के लिए पृथक विभाग स्थापित किये जावे।

भारत में सन् 1951 के पश्चात् प्रथम बार पांचवी पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी दूर करने पर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना में अधिक रोजगार उपलब्ध कराने को एक प्रमुख उद्देश्य माना गया था। इस योजना में यह भी स्वीकारा गया कि बेकार श्रम शक्ति को समुचित रूप में प्रयोग में लाने पर विकास क्षेत्र को पर्याप्त मदद मिलेगी।

पांचवी पंचवर्षीय योजना में रोजगार के अवसर बढ़ाने 'के लिए लघु सिचाई, पशुपालन, दुग्ध व्यवसाय वन, भू-सरक्षण, क्षेत्रीय विकास, वेयर-हाउसिंग, लघु उद्योग, लघु कृषक विकास, सीमान्त कृषक व खेतिहर मजदूरों की विकास एजेन्सी, सूखाग्रस्त क्षेत्रों का विकास एवं सड़क परिवहन के विकास पर विशेष बल देने का निश्चय किया गया। इसके अलावा मजदूरी पर रोजगार तथा स्वरोजगार को बढ़ावा देने के लिए ग्रामीण जलापूर्ति, प्राथमिक शिक्षा, भूमिहीनों के लिए आवासीय सुविधा, ग्रामीण विद्युतीकरण एवं ग्रामीण क्षेत्रों में एवं शहरों में भवन निमार्ण को प्राथमिकता देने पर जोर दिया गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)

छठी योजनाकाल में कुल 3 करोड़ 40 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने का कार्यक्रम निश्चित किया गया। जबकि कुल बेरोजगारों की संख्या 4 करोड़ 60 लाख आंकी गयी इस योजनाकाल में रोजगार में वार्षिक वृद्धि की दर 4.2% निर्धारित की गई जबकि श्रम शक्ति में वार्षिक वृद्धि दर 2.5% अनुमानित की गई।

छठी योजना में अतिरिक्त रोजगार के अवसर सृजित करने के लिए निम्न प्रबन्ध किये गये

(1) एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के प्रत्येक खण्ड में 3000 निर्धन परिवारों को कृषि तथा गैर कृषि धन्धों में काम देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। यह ग्रामीण निर्धनता को दूर करने का कार्यक्रम है। इसमें प्रत्येक खण्ड में प्रतिवर्ष 600 परिवारों को रोजगार उपलब्ध कराने की व्यवरथा की गई जिससे पांच वर्षों में 3000 निर्धन परिवारों को रोजगार के अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इस कार्यक्रम में पांच वर्ष की अवधि में प्रत्येक खण्ड पर 35 लाख रु० खर्च करने का प्रावधान किया गया। छठी योजना में इस कार्यक्रम से 1.5 करोड़ परिवारों को लाभ पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया। इस कार्यक्रम के लिए योजना में 1500 करोड़ रु0 तथा बैकों से 3000 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया।

(2) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम

यह कार्यक्रम "काम के बदले अनाज" कार्यक्रम का संशोधित रूप है। इसके अन्तर्गत सुस्त मौसम में श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इसके द्वारा वर्ष में 30 से 40 करोड़ श्रम-दिवस सृजित होने की व्यवस्था की गई है।

(3) ग्रामीण युवावर्ग स्व-रोजगार प्रशिक्षण योजना

इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिवर्ष 2 लाख युवा व्यक्तियों को स्व-रोजगार का प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। इन व्यक्तियों को प्रशिक्षित करके स्व-रोजगार के लिए तैयार

किया जावेगा जिससे वे स्वयं का काम-धन्धा चालू कर सके। इन प्रशिक्षित व्यक्तियों को बैकों से कर्ज दिलवाने की भी व्यवस्था की गई। छठी योजना में इस कार्यक्रम द्वारा 9.4 लाख युवाओं को प्रशिक्षण दिया गया। इनमें से 50 प्रतिशत से अधिक स्व-रोजगार में लग गये है। इस कार्यक्रम का लाभ अनुसूचित जाति तथा जनजाति के व्यक्तियों को भी प्राप्त हुआ है।

(4) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भिक शिक्षा, खेतीहर मजदूरों के लिए आवासीय भूखण्ड, पेयजल अपूर्ति, सड़क निमार्ण एवं स्वास्थ्य सुधार आदि की व्यवस्था करके नये नये रोजगार के अवसर सृजित करने का प्रावधान किया गया।

(5) आपरेशन फ्लड- II कार्यक्रम

इस कार्यक्रम में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में दूध की पूर्ति करने के लिए विशेष प्रयास करने का निर्णय किया गया । इस प्रकार की दुग्धविकास परियोजनाओं सें दूध व्यवसाय में कार्यरत लाखों ग्रामीण परिवारों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे तथा उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

(6) ग्रामीण लघु उद्योग विकास कार्यक्रम

इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योगों का तीव्र गति से विकास करना तथा इस क्षेत्र में 90 लाख से अधिक बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार के उावसर उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया।

(7) मछली पालन विकास कार्यक्रम

मछली पालन के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए मछली कृषक विकास एजेन्सियों द्वारा मछुआरों के परिवारों को लाभ पहुंचाने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। यह एजेन्सियां देश के आन्तरिक तथा तटीय प्रदेशों में मछली उद्योग को प्रोत्साहित करने के कार्य करेंगी।

(8) अनुसूचित जाति, जनजाति विकास कार्यक्रम

छठी योजनाकाल में ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए विशेष अभियान चलाने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। जिससे इन जातियों के बेरोजगार श्रमिकों को त्वरित आधार पर रोजगार में सहभागी बनाया जा सके।

(9) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम

यह कार्यक्रम सम्पूर्ण देश में सन् 1983 मे लागू किया गया। इस कार्यक्रम के द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर विकसित करने के लिए टिकाऊ परिसम्पतियों का निमार्ण करने पर जोर दिया गया। इस कार्यक्रम में भूमिहीन परिवार के कम से कम एक व्यक्ति को वर्ष में 100 दिन तक का काम दिलाने का प्रावधान किया गया। इस कार्यक्रम को लागू करने के लिए केन्द्र सरकार राज्य सरकारों एवं संघीय प्रदेशों को शत-प्रतिशत अनुदान देती हैं।

(10) शिक्षित बेरोजगार व्यक्तियों के लिए स्व-रोजगार कार्यक्रम

यह कार्यक्रम 1983 में प्रारम्भ किया गया। इसमें शहरी इलाकों में रहने वाले बेरोजगार नवयुवकों को स्व-रोजगार के लिए 25 हजार रु० तक का कर्ज देने कीं व्यवस्था है। यह कार्यक्रम 10 लाख से कम जनसंख्या वाले शहरी क्षेत्रों में लागू किया गया है। यह कार्यक्रम जिला उद्योग केन्द्रों के द्वारा संचालित होता है।

(11) राज्य सरकारों द्वारा विशेष रोजगार कार्यक्रम

देश में मध्यप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, तथा महाराष्ट्र सरकारों द्वारा अपने राज्यों में विशेष रोजगार कार्यक्रम लागू किये गये हैं। अनेक राज्यों ने शिक्षित बेरोजगारी के लिए प्रशिक्षण व्यवस्था, वित्तीय सहायता तथा अन्य सुविधायें देने का प्रबन्ध किया है। राज्यों के अकुशल श्रमिकों को रोजगार देने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाये गये हैं। महाराष्ट्र सरकार ने 1972 से रोजगर गारंटी कार्यक्रम लागू किया है। इस कार्यक्रम में अकुशल तथा शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिकों को रोजगार के प्रबन्ध किये जाते हैं। महाराष्ट्र सरकार ने 1977 में रोजगार गारंटी कानून भी बनाया है। इसी आधार पर अन्य राज्य सरकारों ने भी बेरोजगार लोगों को रोजगार देने के कार्यक्रम बनाये हैं।

सातवी पंचवर्षीय योजना में रोजगार संबंधी नीति

सातवी योजना के प्रारम्भ में 92 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे । 1985-90 के दौरान 3.9 करोड़ व्यक्ति श्रम-बाजार में जुड़ जावेंगे इस आधार पर कुल 4.82 करोड़ व्यक्तियों के लिए रोजगार के प्रबन्ध करने अपेक्षित होंगे। योजना अवधि में 4.04 करोड़ अतिरिक्त रोजगार के अवसर उपलब्ध होंगे। इस प्रकार 82 लाख व्यक्ति सातवीं योजना के अन्त में बेरोजगार रहेंगे। इस योजना में रोजगार को वार्षिक वृद्धि दर 3.99% रहने का अनुमान है । योजना काल में कृषि क्षेत्र में 1.8 करोड़ बेरोजगार तथा विनिर्माण क्षेत्र में 67 लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया था ।

सातवीं योजना में अतिरिक्त रोजगार का सृजन करने के लिए निम्न कार्यक्रम व नीतियां अपनाई गई हैं। इनके साथ ही छठी योजना में लागू किये गये कार्यक्रम सातवीं योजना में भी लागू रहेंगे।

(1) कृषि क्षेत्र में सुधार के कार्यक्रम

कृषि उद्योग में सुधार करने के लिए सिंचाई सुविधाओं का पर्याप्त विकास एवं पूरा उपयोग किया गया है । सूखी खेती में नवीन तकनीक से उत्पादन, मोटे अनाज, तिलहन, चावल दालों आदि के उत्पादन में वृद्धि, भूमि सुधार के कार्यक्रम, पशुपालन, मछली पालन व वृक्षारोपण के कार्यक्रम त्वरित आधार पर लागू किये गये हैं।

(2) कृषि कार्यों के नवीन तकनीक

इनके अन्तर्गत कृषि का उत्पादन बढ़ाने के लिए उर्वरक, कीटनाशक दवाईया व कृषि से संबंधित मशीनों के उपयोग को बढ़ावा दिया गया है ।

(3) लघु उद्योगों का विस्तार

सातवीं योजना में लघु उद्योगों के विस्तार पर विशेष बल दिया गया जिससे ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में अधिक रोजगार के अवसर सृजित हुए हैं ।

(4) भवन निर्माण

भवन निर्माण के कार्यक्रम ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में तेजी से लागू किये गये । भवन निर्माण एवं गहन रोजगार कार्यक्रम हैं जिससे काफी बड़ी मात्रा में रोजगार सृजित होते हैं ।

(5) बाढ़-नियंत्रण एवं सिंचित क्षेत्र विकास

देश में बाढ़-नियंत्रण के कार्यक्रमों तथा सिंचित क्षेत्र विकास कार्यक्रमों के द्वारा रोजगार के नये अवसर सृजित किये गये हैं।

(6) परिवहन सुविधाओं का विकास

सातवीं योजना में ग्रामीण तथा शहरी सड़कों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है । इसके साथ ही आन्तरिक जल-परिवहन, सड़क परिवहन, समुद्री जहाजों के निर्माण आदि द्वारा नये रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है ।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत रोजगार उपलब्ध कराने के विशेष कार्यक्रम अपनाये गये हैं । देश में ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों तथा ग्रामीण रोजगार की शीघ्र परिणाम देने वाली योजना-क्रेश स्कीम आदि पर भारी मात्रा में विनियोग किया गया है । इनसे रोजगार के नये अवसरों का सृजन हुआ है । सातवीं योजना में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण युवाओं के लिए स्वरोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम, शिक्षित बेरोजगारों के लिए स्व-रोजगार कार्यक्रम तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी स्कीम आदि के लागू होने से करोड़ों बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार तथा स्व-रोजगार के अवसर प्राप्त हुए हैं ।

राष्ट्रीय रोजगार सेवा

भारत में राष्ट्रीय रोजगार सेवा 1965 में प्रारम्भ की गई इसके अन्तर्गत प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा अनेक रोजगार कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये । यह रोजगार कार्यालय काम की तलाश करने वाले सभी प्रकार के व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने में सहायता करता है। इन कार्यालयों में भूतपूर्व सेनिक, अनुसूचित जाति एवं जनजाति, विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, शरीरिक रूप से अपंग व्यक्ति तथा व्यावसायिक और प्रबन्धक पदों के उम्मीदवारों को रोजगार प्राप्त करने में सहायता एवं सहयोग दिया जाता है । रोजगार कार्यालय कानून 1959 के अन्तर्गत 25 या 25 से अधिक श्रमिकों को रोजगार देने वाले मालिकों को रोजगार कार्यालयों में अपने यहां के रिक्त पदों के बारे में सूचना देते रहना अनिवार्य है ।

देश के समस्त रोजगार कार्यालयों तथा सभी विश्वविद्यालयों के रोजगार सूचना तथा मार्गदर्शन केन्द्रों द्वारा युवक-युवतियों को काम धन्धे से संबंधित मार्गदर्शन और रोजगार संबंधी परामर्श दिया जाता है ।

शिक्षित युवक-युवतियों को लाभदायक रोजगार दिलाने की दिशा में प्रवृत करने के लिए रोजगार और प्रशिक्षण महानिदेशालय के मार्गदर्शन और आजीविका परामर्श कार्यक्रमों को विस्तृत और व्यवस्थित किया गया है । रोजगार सेवा अनुसंधान और प्रशिक्षण के केन्द्रीय संस्थान में रोजगार संबंधी मार्गदर्शन चाहने वालों को व्यवसाय संबंधी साहित्य भी उपलब्ध कराया जाता है ।

भारत में बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए निम्न बिंदुओं पर विशेष ध्यान दिया जाना अपेक्षित है :

(1) योजनाओं में विनियोग के स्वरूप में परिवर्तन किया जावे।
(2) जनसंख्या की वृद्धि दर को प्रभावी रूप से नियंत्रित किया जावे ।
(3) विनियोग की दर में वद्धि की जावे ।
(4) जनशक्ति का प्रभावी नियोजन किया जावे ।
(5) कृषि क्षेत्र में संस्थागत परिवर्तन किये जावे ।
(6) कृषि के विभिन्न सहायक धन्धों का विकास किया जावे ।
(7) ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारोन्मुख नियोजन किया जावे ।

(8) ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों का विस्तार किया जावे ।

(9) शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन किया जावे ।

(10) रोजगार प्रदान करने वाले कार्यालयों का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार किया जावे ।

(11) महाराष्ट्र सरकार की रोजगार गारंटी योजना के आधार पर अन्य राज्यों में कार्यक्रम बनाये जावे ।

(12) ग्रामीण औद्यौगीकरण को बढ़ावा दिया जावे ।

(13) महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर बढ़ाये जावे ।

(14) कृषि क्षेत्र में वृद्धि की जावे । लाखों एकड़ बंजर तथा बेकार पड़ी जमीन को अल्प प्रयास से कृषि योग्य बनाया जा सकता है । इससे ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि होगी ।

(15) मानवीय श्रम पर अधिकाधिक बल दिया जाना चाहिए ।

(16) देश में सार्वजनिक सेवाओं, प्रशासनिक सेवाओं तथा सामाजिक सेवाओं का विस्तार करना चाहिए इससे शिक्षित बेरोजगारों को रोजगार प्राप्त होगा ।

10.6 भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी

हमारे देश में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी की गम्भीर समस्या है । शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी का एक कारण यह रहा है कि हमारे यहां पिछले वर्षों में जिस परिमाण में शिक्षा का विस्तार हुआ है उस तुलना में अर्थव्यवस्था का विकास नहीं हुआ है । रोजगार सेवा कार्यालयों में मैट्रिक तथा उससे ऊपर की योग्यता वाले लाखों बेरोजगार त्यक्तियों के नाम प्रतिवर्ष पंजीकृत होते रहते हैं । देश के लाखों शिक्षित बेरोजगार ऐसे भी हैं जिन्होंने किन्हीं कारणों से रोजगार कार्यालयों में अपने नाम पंजीकृत नहीं कराये हैं । इन सब का कुल योग अत्याधिक भयावह स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करता है । हमारे देश में केरल, पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में आधे से अधिक शिक्षित बेरोजगार निवास करते हैं ।

1985 में शिक्षित बेरोजगारी की संख्या 47 लाख आँकी गई थी । इनमें 32 लाख मैट्रिक तथा हायर सेकेण्डरी पास बेकार व्यक्ति थे तथा 12 लाख व्यक्ति स्नातक स्तर तथा प्राविधिक डिप्लोमा डिग्री प्राप्त थे।

सातवीं योजना काल में शिक्षित बेरोजगारी की संख्या में काफी वृद्धि होने का अनुमान है । 1985 में देश में शिक्षित श्रमिकों की संख्या 3 करोड़ थी । 1990 तक यह बढ़कर 4.1 करोड़ हो गई है । इस प्रकार सातवीं योजना के दौरान 1.1 करोड़ नये शिक्षित व्यक्ति जुड़ गये हैं ।

हमारे देश में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण शिक्षा नीति तथा मानव शक्ति नियोजन में समन्वय का अभाव रहा है । देश में एक ओर प्राविधिक योग्यता प्राप्त शिक्षित वर्ग के लोग बेरोजगार बने रहते हैं जबकि आर्थिक विकास के लिए आवश्यक योग्यता एवं दक्षता वाले लोगों का अभाव रहता है । देश में कम्प्यूटर प्रशिक्षित व्यक्तियों, इलेक्ट्रिकल तथा मेकेनिकल इन्जीनियरों, डाक्टर, सर्जन, पेरा मेडिकल स्टाफ इलेक्ट्रिशियनों विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों तथा उच्चतम माध्यमिक विद्यालय में विज्ञान तथा गणित के अध्यापकों की कमी रहती है । जबकि स्नातक तथा स्नातकोत्तर डिग्रीधारी कला एवं वाणिज्य विषयों के शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार का अल्प रोजगार की स्थिति में अनेक वर्षों तक भटकते रहते हैं ।

इस स्थिति को दूर करने के लिए माध्यमिक शिक्षा के बाद विश्वविद्यालय में जाने की प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए । दसवीं कक्षा के बाद छात्रों को व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए । इसके लिए औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान, पोलीटेकनिक व कृषि स्कूलों आदि का विस्तार करने की नीति होनी चाहिए तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिए स्वरोजगार कार्यक्रमों के अन्तर्गत लघु उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिए । नौकरियों में डिग्री की अनिवार्यता को समाप्त करना चाहिए ।

10.7 भारत मे उद्योगीकरण तथा रोजगार

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हमारा देश औद्योगिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ था । उस समय कुल श्रमिकों का 9.3 प्रतिशत खनन तथा विनिर्माण के कार्यों में कार्यरत था । 1971 मे 9.8 प्रतिशत था तथा 1981 में यह प्रतिशत बढ़कर 12.7 हो गया । 1951 से 1981 के दौरान 30 वर्षों में इसमें मात्र 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई । भारत का 1951 के बाद औद्योगिक विकास हुआ है । औद्योगिक उत्पादन के आधार पर भारत का विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में विशिष्ट स्थान हो गया है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारम्भिक वर्षों में भारत मे उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योगों की प्रधानता थी । इस्पात, सीमेन्ट, उर्वरक, भारी रसायन, भारी मशीनरी आदि उद्योगों का अभाव था । अतः योजना के प्रारम्भिक वर्षों में देर का औद्योगिक ढांचा काफी विकृत तथा असन्तुलित था । देश में पूंजीगत उद्योगों का अभाव था । योजनाकाल में आधारभूत तथा भारी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने के कार्यक्रम निर्धारित किये गये । 1980-81 में देश में 96,503 फैक्ट्रियों में 77.20 लाख व्यक्ति रोजगार पर नियोजित थे ।

पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान औद्योगिक नियोजन के अन्तर्गत निमलिखित उद्देश्यों पर जोर दिया गया ।

(1) सार्वजनिक क्षेत्र का तीव्र गति से विस्तार करना जिससे यह औद्योगिक क्षेत्र में प्रभुत्व की स्थिति प्राप्त कर सके ।

(2) भारी आधारभूत तथा पूंजीगत उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देना ।

(3) औद्योगिक विकास द्वारा क्षेत्रीय असमानताओं व असन्तुलन को दूर करना ।

(4) औद्योगिक उत्पादन क्षमता में विस्तार करना ।

(5) आर्थिक सत्ता के निजी हाथों के केन्द्रीयकरण को कम करना तथा एकाधिकार की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना।

(6) अर्थव्यवस्था में कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान देना ।

पिछले 40 वर्षों में देश में उपभोक्ता उद्योगों के अन्तर्गत चीनी, वनस्पति, सूती वस्त्र, साईकिल आदि उद्योगों का विकास हुआ है मध्यवर्ती उद्योगों में सूत, जूट का माल, मनुष्य निर्मित रेशे, तथा पैट्रोलियम पदार्थ उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास हुआ है । आधारभूत उद्योगों में इस्पात, सीमेन्ट, उर्वरक व विद्युत आदि उद्योगों का विकास हुआ है और पूंजीगत उद्योगों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के भारी मशीनरी तथा इन्जीनियरिंग उद्योग एवं परिवहन उपकरण के उद्योगों की स्थापना की गई है । इन सभी उद्योगों की स्थापना से देश में रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई है ।

देश में औद्योगिकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात 1951 के बाद प्रारम्भ हुआ । इस कार्यक्रम में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में भारी मात्रा में पूंजी निवेश किया गया है । देश में औद्योगिक आधार का अनेक क्षेत्रों में विस्तार हुआ है । आधार तथा पूंजीगत उद्योगों में आत्मनिर्भरता प्राप्त की है । औद्योगीकरण के कारण देश में प्रबन्धकीय एवं साहस उठाने वालों के एक नये वर्ग का जन्म हुआ है।

भारत की रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि का अध्ययन किया है । संगठित क्षेत्र में वे सभी प्रतिष्ठान सम्मिलित होते हैं जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र या निजी क्षेत्र के अधीन कृषि से भिन्न क्षेत्र में 10 या अधिक श्रमिक कार्य करते हैं ।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में रोजगार में औसत वार्षिक वृद्धि दर 6.0 प्रतिशत रही । यह सार्वजनिक क्षेत्र में 5.9 प्रतिशत और निजी क्षेत्र में 6.2% थी । 1966-67 और 1967-68 के दो वर्षों में सूखे और औद्योगिक क्षेत्र के प्रतिसार के कारण रोजगार की स्थिति में गिरावट आ गई थी इसके बाद की वार्षिक योजनाओं में रोजगार की चक्रवृद्धि की दर मात्र एक प्रतिशत रही । सार्वजनिक क्षेत्र में बेरोजगारों की वार्षिक वृद्धि दर 2.6 प्रतिशत आँकी गई जबकि इसी दौरान निजी क्षेत्र में यह वृद्धि दर नकारात्मक होकर (–) 1.3 प्रतिशत तक गिर गई । वार्षिक योजनाओं के दौरान व्यापक स्तर पर निजी क्षेत्र में श्रमिकों की छटनी के कारण रोजगार की वृद्धि नकारात्मक रही ।

चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान रोजगार की स्थिति में सुधार हुआ और संगठित क्षेत्र में औसत वार्षिक वृद्धि की दर 3 प्रतिशत हो गई ।

इस दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में औसत वृद्धि की दर 4.4 प्रतिशत आँकी गई जबकि निजी क्षेत्र में यह मात्र 0.8 प्रतिशत थी । स्पष्ट है कि चौथी योजना काल में निजी क्षेत्र में रोजगार के बहुत कम अवसर उपलब्ध हुए । चौथी योजना के दौरान सरकार ने 14 बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया था इसके साथ ही कोकिंग कोल माइन्स का काम भी सरकारी क्षेत्र में ले लिया गया था तथा अनेक बीमार सूती वस्त्र की मिलों को भी सरकार ने अपने स्वामित्व में ले लिया था । निजी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र में इन संस्थानों के परिवर्तन के कारण निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर कम हो गये और सार्वजनिक क्षेत्र के रोजगार में वृद्धि हुई सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार में 3.3 प्रतिशत की ही वृद्धि हो पाई । 1979-81 में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में रोजगार में बहुत ही धीमी गति से वृद्धि हुई। यह वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत हो रही जो कार्यकारी जनसंख्या की वृद्धि दर से बहुत कम थी ।

तालिका 10.2

भारत मे संगठित क्षेत्र मे रोजगार की वृद्धि

वर्ष	रोजगार प्राप्त श्रमिकों की सं0 (लाखों में)			प्रतिशत भाग	
	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र
1961	70.50	50.40	120.90	58	42
1966	93.78	68.10	161.88	58	42
1962	100.95	65.30	166.25	61	39
1972	113.05	67.69	180.74	63	37
1974	124.86	67.69	192.80	65	33

1977	138.76	68.67	207.40	67	33
1980	150.78	72.37	223.15	68	32
1981	154.80	74.37	229.17	68	32
रोजगार की वार्षिक चक्रवृद्धि - दर %					
1961-66	+5.9	+6.2	+6.0		
1966-69	+2.6	-1.3	+1.0		
1969-74	+4.4	-0.8	+3.0		
1974-79	+3.8	+1.2	+2.8		
1979-81	+1.5	+1.5	+1.5		

स्रोत-रिजर्व बैंक आफ इण्डिया बुलेटिन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1961-81 के बीच सार्वजनिक क्षैत्र में निरन्तर वृद्धि होती रही तथा कुल रोजगार में सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार 58 प्रतिशत से बढ़कर 68 प्रतिशत हो गया । इसके विपरीत निजी क्षेत्र में रोजगार की मात्रा 42 प्रतिशत से पटकर मात्र 32 प्रतिशत रह गई स्पष्ट है कि सरकारी क्षेत्र के उद्योग संगठित क्षेत्र मे कुल रोजगार के दो-तिहाई से अधिक रोजगार के अवसर की व्यवस्था कर रहे थे । जबकि निजी क्षेत्र में एक-तिहाई से कम रोजगार कें अवसर उपलब्ध कराये गये थे ।

उपर्युक्त तालिका के अनुसार 1961-81 के दौरान रोजगार की वार्षिक वृद्धि की दर मे निरन्तर गिरावट आई है । सरकारी क्षेत्र में 1961-66 के बीच वार्षिक वृद्धि दर 5.9 प्रतिशत थी । 1966-69 में यह घट कर 2.6 प्रतिशत हो गई । 1969- 74 में इसमें सुधार हुआ और यह बढ़कर 4.4 प्रतिशत उचित की गई । 1974-79 में उसमें पुन: गिरावट आई और 3.8 प्रतिशत रही । अगले दो वर्षा में इसका औसत मात्र 1.5 प्रतिशत ही रहा ।

इसी प्रकार निजी क्षैत्र में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 1961.66 में यहाँ 6.2% थी यह अगले तीन वर्षों (1966-69) में नकारात्मक होकर (-) 1.3 प्रतिशत अंकित की गई । 1969.74 में इसमें सुधार हुआ जब यह बढकर 3.0 प्रतिशत हो गई । 1974-79 में इसमें पुन: गिरावट आई तथा यह 2.8 प्रतिशत तक घट गई । अगले दो वर्षो में इसमें काफी कमी रही और यह 1.5 प्रतिशत पर बनी रही ।

सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों के कुल योग का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि 1961-66 में कुछ रोजगार में 6.0 प्रतिशत की वृद्धि आँकी गई । 1966-69 में यह वृद्धि मात्र 1.0 प्रतिशत रही। 1969-74 में इसमें सुधार हुआ जब यह बढ़कर 3.0 प्रतिशत हो गई । 1974-79 में यह वृद्धि दर गिरकर 2.8 प्रतिशत रही और अगले दो वर्ष में (1979.81) मे इसमें पुन: गिरावट आई और यह 1.5 प्रतिशत हो अंकित की गई ।

निम्न तालिका में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र में क्षेत्रानुसार रोजगार की वृद्धि को दर्शाया गया है ।

तालिका 10.3

भारत मे रोजगार की क्षेत्रानुसार वृद्धि (हजारों में)

औद्योगिक वर्गीकरण	सरकारी क्षेत्र			निजी क्षेत्र		
	रोजगार		वार्षिक	रोजगार		वार्षिक
	1961	1979	चक्रवृद्धि दर	1961	1979	चक्रवृद्धि दर
1. बागान उद्योग एवं बानिकी	180	777	8.5	670	841	1.2
2. खनन एवं खदान	129	771	10.4	550	124	-7.8
3. विनिर्माण	369	1416	7.8	3020	4433	2.1
4. निर्माण	603	1032	3.0	240	83	-5.6
5. बिजली गैस जलसम्भारण	224	634	5.9	40	34	-0.9
6. व्यापार एवं वाणिज्य	94	99	0.3	160	281	3.1
7. परिवहन एवं संचार	1724	2597	2.3	80	71	-0.6
8. सेवाये	3727	7718	4.1	280	1341	9.0
योग	7050	15045	4.3	5040	7232	2.0

उपयुक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1961-79 के बीच सरकारी क्षेत्र में खनन एवं खदान मे सबसे अधिक 10.4 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त हुई। इसके बाद बागान एवं वानिकी में 8.3% और निर्माण उद्योग में 7.8% की वृद्धि दर आँकी गई। परिवहन एवं संचार उद्योग में केवल 2.3% की वृद्धि दर रही।

निजी क्षैत्र में सबसे अधिक वृद्धि दर सेवाओं मे 9% रही किन्तु खनन एवं खदान तथा विनिर्माण उद्योगों में रोजगार की स्थिति निराशाजनक रही क्योंकि इन उद्योगों में रोजगार की वृद्धि नकारात्मक आँकी गई ।

1961-79 के दौरान संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर मात्र 3.45 प्रतिशत आँकी गई। देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिए यह वृद्धि दर बहुत ही निराशजनक रहीं । अतः यह आवश्यकता महसूस की गई कि हमें हमारी राष्ट्रीय नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहिए कि जिससे उत्पादन की अधिक वृद्धि दर का रोजगार की अधिक वृद्धि दर से सामजस्य स्थापित किया जा सके । उत्पादन की दर बढ़ाने के लिए विनियोग दर में तेजी से वृद्धि करने के प्रबन्ध किये जावे तथा रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध कराने के लिए अधुनिकीकरण के नाम पर श्रम बचाव मशीनरी के प्रचलन की गति को धीमा किया जाना चाहिए ।

तालिका 10.4

भारत में 1971-1987 के बीच सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में रोजगार की स्थिति

(हजार में)

उद्योग	1971	1976	1981	1985	1986	1987
सार्वजनिक क्षेत्र						
1. कृषि तथा संबधित उद्योग	281	350	463	498	526	557
2. खनिज नथा खनन	254	719	818	974	966	942

3. विनिर्माण	862	1113	1502	1761	1815	1862
4. निर्माण उद्योग	595	992	1089	1146	1181	1184
5. बिजली गैस तथा जलापूर्ति	455	536	683	760	785	791
6. व्यापार एवं व्यवसाय	367	56	117	131	131	134
7. यातायात व संवाद वहन	2238	2418	2409	2894	2929	2972
8. सेवाये	5476	7129	8103	9106	9315	9587
योग	**11,098**	**13,322**	**15,484**	**17,269**	**17,683**	**18,028**
		निजी क्षेत्र				
1. कृषि तथा संबधित उद्योग	824	827	858	807	822	848
2. खनिज नथा खनन	340	132	130	113	111	91
3. विनिर्माण	3940	4158	4545	4421	4421	4409
4. निर्माण उद्योग	163	94	72	70	70	58
5. बिजली गैस तथा जलापूर्ति	46	35	35	39	39	40
6. व्यापार एवं व्यवसाय	294	287	277	277	277	277
7. यातायात व संवाद वहन	94	74	60	54	54	52
8. सेवाये	1032	1238	1418	1528	1528	1588
योग	**6734**	**6844**	**7395**	**7309**	**7309**	**7369**
सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र **योग**	**17,832**	**20,717**	**22,842**	**24,578**	**25,056**	**25,397**

स्रोत- आर्थिक सर्वेक्षण-1988-89 तथा अन्य स्रोत

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि निजी क्षेत्र की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध हुए है । सार्वजनिक क्षेत्र में विनिर्माण उद्योग में अत्यधिक रोजगार के अवसर सृजित हुए है । इसके बाद भवन निर्माण उद्योग में अधिक रोजगार सृजित हुआ है । सेवाओं में भी नये-नये रोजगार के अवसर सृजित होते रहते है ।

निजी क्षेत्र में भी विनिर्माण उद्योगों में ही सर्वाधिक रोजगार की व्यवस्था रही है । इसके बाद सेवाओं में और कृषि उद्योग में रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त होते रहे है । सार्वजनिक क्षेत्र में सबसे कम रोजगार के अवसर व्यापार तथा व्यवसाय में सृजित हुए जबकि निजी क्षेत्र में यातायात तथा संवादवहन के क्षेत्र में रोजगार के अवसर कम सृजित हुए ।

तालिका 10.5

भारत में रोजगार के आकार के अनुसार फैक्ट्रियों मे प्रमुख लक्षण

रोजगार का आकार	**फैक्ट्रियों की संख्या**	**रोजगार (हजार में)**
0-49 श्रमिक	79,297	1,306
	(78.5)	(17.5)
50-99 श्रमिक	10,959	707

	(10.9)	(10.7)
100-199 श्रमिक	5,356	756
	(5.3)	(10.1)
200-499 श्रमिक	3,286	1,339
	(3.2)	(18.0)
500-999 श्रमिक	1,208	1,042
	(1.2)	(13.9)
1000-1999 श्रमिक	550	911
	(0.5)	(12.2)
2000-4999 श्रमिक	308	885
	(0.3)	(11.8)
5000 और अधिक श्रमिक	52	43
	(0.1)	(5.8)
योग	1,01,016	7,472
	(100.0)	(100.0)

पिछले दशक में देश में रोजगार की स्थिति में विशेष सुधार नही हुआ है । छठी पंचवर्षीय योजना के अन्त में लक्ष्य से अधिक रोजगार के अवसर सृजित हुए है । सातवी योजना में भी 4 करोड़ से अधिक रोजगार के अवसर सृजित होने का अनुमान लगाया गया है । परन्तु पिछले वर्षों की बेरोजगारों की संख्या को नई श्रम शक्ति में जोड़ने पर सातवी योजना की समाप्ति पर 82 लाख से अधिक व्यक्ति बेरोजगारी की स्थिति में रहेंगे ।

रोजगार के बारे में वर्तमान स्थिति

श्री टी0 एस0 पपोला के अनुमान के अनुसार 1972-73 से कुल रोजगार की विकास दर में गिरावट आ रही है । छठी तथा सातवीं योजना के दौरान सकल उत्पादन में वृद्धि होने के उपरान्त भी देश में रोजगार की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से कम रही है । कृषि क्षेत्र में रोजगार में गिरावट आई है और ग्रामीण क्षेत्र में ग्रामीण व्यक्तियों की अन्य उद्योग व्यवसायों में काम न मिलने के कारण बेरोजगारी तथा अल्प रोजगार की मात्रा में वृद्धि हुई है । इस स्थिति में श्रमिकों को भवन निर्माण तथा खनन उद्योग में रोजगार के अवसर बदलने से कुछ राहत मिली है । 1983 से 1987-88 के दौरान देश में रोजगार में मात्र 1.55 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई है जबकि इस दौरान जनसंख्या 2.1 प्रतिशत बढ़ा है और कार्यशील जनसंख्या में इससे भी अधिक वृद्धि हुई है भारत में 1972 से 1988 तक की अवधि में रोजगार की वृद्धि की दर निम्न प्रकार थी ।

तालिका 10.6

भारत मे प्रमुख क्षेत्रों में रोजगार वृद्धि दर

क्षेत्र	1972 -73 से 1977-78	1977-78 से 1983	1983 से 1987-88
कृषि	2.32	1.20	0.65
खनिज एवं खनन	4.68	5.58	6.16

विनिर्माण	5.10	3.75	2.10
बिजली गैस तथा जलापूर्ति	12.23	5.07	4.64
यातायात तथा संवाद वहन	4.85	6.35	2.67
अन्य सेवाए	3.67	4.69	2.50
योग	**2.82**	**2.22**	**1.55**

स्रोत-इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली-2 फरवरी 1991

80 के दशक मे रोजगार की स्थिति में एक विषय समस्या यह उत्पन्न हुई कि संगठित औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर बहुत ही कम रही है । इस दशक में बिजली गैस जलापूर्ति और अन्य सेवाओं को छोड़कर संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से कम रही है । इस दशक में भूमिहीन कृषकों की संख्या में भी अपेक्षाकृत वृद्धि हुई हए । इस कारण ग्रामीण क्षेत्र में खुली बेरोजगारी बढ़ी है । शहरी क्षेत्र में 1973 में खुली बेरोजगारी 2.77 प्रतिशत थी । 1987-88 में यह बढ़कर 3.77 प्रतिशत हो गई ।

देश में 1990-95 के दौरान में 3 करोड़ 70 लाख नये व्यक्तियों के श्रम शक्ति में जुड़ने का अनुमान है । 1995-2000 के दौरान 4 करोड़ 10 लाख अतिरिक्त व्यक्ति श्रम' शक्ति में जुड़ जायेंगे। यदि हम 1995 तक सभी रोजगार चाहने वालों को काम देने का लक्ष्य रखते है तो आठवीं योजना में 6 करोड़ 50 लाख नये रोजगार के अवसर सृजित करने थे । सन् 2000 तक पूर्ण रोजगार देने का लक्ष्य निश्चित होता है तो 10 करोड़ 60 लाख नये रोजगार के अवसर उत्पन्न करने पड़ेंगे ।

रोजगार के इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हमें रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर को आठवी योजना में 4.0 प्रतिशत प्रतिवर्ष होनी चाहिए थी । परन्तु 1983- 1987 के बीच हमारे यहां रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर मात्र 1.55 प्रतिशत ही रही है । इसलिए हमें 2000 तक पूर्ण रोजगार का लध्य निर्धारित करते हुए 1990-2000 में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक निश्चित करने के बावजूद बेरोजगारी की समस्या समाप्त नही होगी एवं भारतवर्ष बेरोजगारों की एक बड़ी सेना के साथ -इक्कसवीं शताब्दी में प्रवेश करेगा ।

10.8 सारांश

बेरोजगारी का स्वरूप तथा आकार

1. बेरोजगारी का अर्थ-बेरोजगारी का स्वरूप संचालक बेरोजगारी -बेरोजगारी के प्रकार -प्रच्छन्न बेरोजगारी-खुली बेरोजगारी-शिक्षित बेरोजगारी-ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी -विकसित तथा अविकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप-बेरोजगारी के कारण-भारत में बेरोजगारी के अनुमान
2. भारत सरकार की रोजगार संबंधी नीति-बेरोजगारी दूर करने के सुझाव-भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी
3. भारत में औद्योगीकरण एवं रोजगार-भारत में संगठित क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि-भारत में रोजगार की क्षेत्रानुसार वृद्धि-भारत में 1971 -87 के बीच सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में रोजगार की स्थिति-भारत में रोजगार के आकार के अनुसार फैक्ट्रियों में प्रमुख लक्षण-रोजगार के बारे में वर्तमान स्थिति ।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था : ए.एन.अग्रवाल
2. भारतीय अर्थशास्त्र : लक्ष्मी नारायण नाथूरामका
3. आर्थिक विकास के सिद्धान्त एवं भारत में आर्थिक नियोजन : प्रो0 जी.एल.गुप्ता
4. भारतीय अर्थव्यवस्था : रुद्रदत्त एवं सुंदरम्
5. भारतीय अर्थव्यवस्था : डा0 मामोरिया एवं जैन
6. Indian Economy : S.K. Ray
7. Indian Economy Problems of Development and Planning : A.N. Agarwal
8. India - Economic Information Year Book 1989-90 : A.N. Agarwal,Ho.Verma and R.C. Gupta

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में बेरोजगारी की समस्या एवं समाधान पर एक विश्लेषणात्मक लेख लिखिये ।
   संकेतः इसमें बेरोजगारी की समस्या तथा इसे दूर करने के उपाय का विस्तार से वर्णन करना है।
2. भारत में बेरोजगारी के कारणों पर प्रकाश डालिये । देश में इस समस्या के हल के लिए क्या प्रयास किये जा रहे है? इसको दूर करने के लिए आप क्या उपाय बतायेंगे?
   संकेतः इसमें बेरोजगारी के कारण लिखने है तथा इसे दूर करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में तथा विशेष रूप से 1970 के बाद के प्रयासों का उल्लेख करना है ।
3. भारत में ग्रामीण बेरोजगारी के स्वरूप पर प्रकाश डालिये । इस समस्या के समाधान के लिए आप क्या उपाय सुझायेंगे?
   संकेत.इसमें ग्रामीण बेरोजगारी के कारण तथा ग्रामीण बेरोजगारी के सरकारी प्रयास देने है ।
4. भारत में शिक्षित बेरोजगारी की वर्तमान स्थिति का उल्लेख कीजिये । आयोजना काल में बेरोजगारी बढने के कारणों का विश्लेषण कीजिये ।
   संकेतः इसमें शिक्षित बेरोजगारी की स्थिति के बारे में उल्लेख करना है । योजनाकाल में जिन कारणों से बेरोजगारी बढ़ी है उन कारणों का उल्लेख करना है ।

इकाई 11
कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भूमि सुधार
(Agrarian Relation and Land Reforms)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 कृषि भूमि सम्बन्ध

11.2.1 कृषि भूमि सम्बन्ध से तात्पर्य

11.2.2 कृषि भूमि सम्बन्ध के प्रकार

11.2.3 कृषि भूमि सम्बन्धों की समीक्षा के लिए नियुक्त कर्मचारी दल

11.2.4 कृषि भूमि सम्बन्धों में समय के साथ हुए परिवर्तन

11.3 भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम

11.3.1 भूमि सुधार कार्यक्रम से तात्पर्य

11.3.2 भूमि सुधार कार्यक्रमों के उद्देश्य

11.3.3 भूमि सुधार कार्यक्रम

— मध्यस्थों की समाप्ति

— भू-धारण पद्धति में सुधार

— जोत की उच्चतम सीमा नियत करना

— कृषि भूमि का पुनर्गठन/जोत चकबन्दी करना

— सहकारी कृषि का गठन

11.3.4 भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन से प्राप्त लाभ

11.3.5 भूमि सुधार कार्यक्रमों की असंतोषजनक प्रगति के कारण

11.4 सारांश

11.5 शब्दावली

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

11.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास विषय के इस तृतीय खण्ड की प्रस्तुत इकाई में कृषि भूमि सम्बन्ध एवं भारत में हुए भूमि सुधार कार्यक्रमों का विवेचन किया जा रहा है । प्रस्तुत अध्ययन के पश्चात् आप निम्न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे :-

* कृषि भूमि सम्बन्धों को परिभाषित करते हुए उन्हें विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकेंगे।
* कृषि भूमि सम्बन्धों में हुए परिवर्तन एवं उनसे कृषि उत्पादन पर होने वाले प्रभावों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।

* भूमि सुधार कार्यक्रम से तात्पर्य एवं विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों के कारण कृषकों को प्राप्त लाभ का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
* भूमि सुधार कार्यक्रमों को अपनाने में आने वाली कठिनाईयों का ज्ञान प्राप्त करके उनके सुधार हेतु उपाय सुझावित कर सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाइयों में भारत में व्याप्त गरीबी एवं आय असमानता तथा कृषि श्रमिकों में व्याप्त बेरोजगारी समस्या उसकी प्रवृत्ति, बेरोजगारी का आकलन व इस समस्या को हल करने के लिए अपनाए गए उपायों का अध्ययन आप कर चुके है । गरीबी एवं बेरोजगारी दोनों ही देश की प्रमुख आर्थिक समस्याएं है जिनके होने मे देश में विकास की गति में तीव्रता नहीं आ पाई है । प्रस्तुत इकाई में कृषि भूमि सम्बन्धों एंव भूमि सुधार कार्यक्रमों का विवेचन किया जा रहा है जो उपर्युक्त दोनों ही समस्याओं को उत्पन्न करने में सहायक रहे है ।

कृषि भूमि सम्बन्ध तथा भूमि सुधार कार्यक्रमों एवं कृषि उत्पादन में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । उचित कृषि भूमि सम्बन्ध के होने तथा भूमि सुधार कार्यक्रम अपनाने पर कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है । कृषकों को भूमि पर स्थायी स्वामित्व अधिकार प्राप्त होने, भूमि के लगान की उचित राशि निर्धारित करने तथा भूमि पर स्थायी सुधार करने के अधिकार प्राप्त होने पर उन्हें उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है । इसके विपरीत इनके अभाव में कृषकों में उत्पादन वृद्धि की प्रेरणा का ह्रास होता है । प्रस्तुत इकाई में उन सभी कृषि भूमि संबंधों एवं भूमि सुधार के लिए सरकार द्वारा अपनाए गए विभिन्न कार्यक्रमों जैसे मध्यस्थों की समाप्ति, भू-धारण पद्धति में सुधार, जोत की उच्चतम सीमा नियत करना, जोत चकबन्दी आदि का अध्ययन किया जायेगा । पिछले दशक से इन क्षेत्रों में किए गए प्रयासों के कारण उत्पादन भूमि के आधारधारिक संरचना में परिवर्तन आया है तथा कृषि क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि हुई है । फलस्वरूप कृषकों को भूमि की प्रति इकाई क्षेत्र से लाभ की राशि भी अधिक प्राप्त होने लग गई है ।

11.2 कृषि सम्बन्ध (Agrarian Relations)

कृषि भूमि उत्पादन का प्रमुख साधन है । पूर्व काल से ही मनुष्य एवं भूमि में प्रबल संबंध विद्यमान है। मनुष्य भूमि से विभिन्न कृषि वस्तुओं का उत्पादन करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता आया है। भूमि की पूर्ति देश में सीमित होने के कारण प्रारंभ से ही इसके स्वामित्व संबंधी प्रश्न उठे है। भूमि पर स्वामित्व होने से मनुष्य को अपनी खुशहाली एवं सुरक्षितता, सुनिश्चित एवं अन्तर्निष्ठ होना लगता है । भूमि पर स्वामित्व होने वाले कृषक, अपनी भूमि पर इच्छानुसार उत्पादों का उत्पादन करके आय एवं संतोष प्राप्त करते है । प्राप्त आय से कृषक अपना जीवन निर्वाह उचित स्तर पर करते है । भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि भूमि संबंधों की महत्ता अधिक है, क्योंकि कृषि क्षेत्र राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा अंश प्रदान करता है । वर्ष 1950 में कृषि क्षेत्र, राष्ट्रीय कुल आय का 59 प्रतिशत अंश प्रदान करना था, लेकिन अन्य क्षेत्रों प्रमुखतया औद्योगिक क्षेत्र के विकास से कृषि क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में अंशदान कम होकर वर्तमान में भी 31 प्रतिशत अंश प्रदान करता है।

भार में कृषि भूमि, कृषक संपत्ति का एक प्रमुख अवयव है । कृषकों के पास अन्य सम्पत्ति का अभाव होता है । कृषि भूमि कृषकों में असमान रूप से वितरित है । कृषि भूमि एक ओर ग्रामीण

क्षेत्र में कृषकों का रोजगार उपलब्धि एवं जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन है लेकिन दूसरी ओर इसका असमान वितरण ही देश के ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त गरीबी एवं आय असमानता का प्रमुख कारण भी हें । ग्रामीण क्षेत्र में सामाजिक वैमनस्यता में हुई वृद्धि का प्रमुख कारण भी कृषि भूमि संबंध ही है। अतः इस खण्ड में कृषि भूमि संबंधों का विस्तार से विवेचन किया गया है ।

11.2.1 कृषि भूमि संबंध के तात्पर्य

कृषि भूमि संबंध उन मनुष्यों में जो भूमि के स्वामी एवं भूमि पर कार्य करके भूमि से प्राप्त उत्पादन का आपस मे विनिमय करते है, उनके आपसी संबंधों के घोतक होते है । भूमि के स्वामी कृषि भूमि एवं कृषि यन्त्रों के स्वामी होते है तथा दूसरी ओर अन्य मनुष्य जो उस भूमि के स्वामी नहीं होते है वे भू स्वामियों से प्राप्त भूमि पर कृषि करके उत्पादित उत्पादन की मात्रा को आपस में विनिमय करते है । विनियम विभिन्न कृषकों एवं भू-स्वामियों में विभिन्न दर से होता है । इस प्रकार भू-स्वामियों एवं भूमि पर कृषित करने वाले दोनों वर्गो में व्याप्त संबंध को कृषि भूमि संबंध से संबोधित किया जाता है।'

भू-स्वामियों एवं कृषकों में पाये जाने वाले इन संबंधों में बहुत विभिन्नता पाई जाती है । साथ ही उनमें पाये जाने वाले संबंधों में निरंतर परिवर्तन हाते रहते है । यह परीवर्तन धीमी गति से सूक्ष्म स्तर पर होते है, जिसके कारण आए हुए परिवर्तन पुरानी विधि में पूर्ण रूप से सम्मिलित या संलग्न हो जाते है और उनका आभास साधारणतया नहीं होता है 1 अतः कृषि भूमि संबंधों का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है ।

11.2.2 कृषि भूमि सम्बन्ध के प्रकार

कृषि भूमि संबंध प्रमुखतया तीन प्रकार के होते है : -

1. पूर्ण समान्तवादी सम्बन्ध (Pure Feudal Relations)

इस प्रकार के संबंधों में भूमि पर स्वामित्व पूर्णतया सामन्तों का होता है । भूमि पर कृषि करने वाले कृषक भू-स्वामियों अर्थात सामन्तों की इच्छा पर पूर्णतया आश्रित होते है ।

पूर्ण सामन्तवादी प्रथा को जागीरदारी प्रथा भी कहते है । इस प्रथा में गांव के व्यक्ति सामन्तों से भूमि प्राप्त करके कृषि करते थे और भूमि से प्राप्त उत्पादों को आपस में समझौते के अनुसार (Crop

---

1. Agrarian relations are the mutual relations among men as a class who exchange their activities in the process of production and exchange . In the sphere of production who owns land and agriculture implements and in the sphere of distribution and exchange the objective of production , i.e.,production for use value or for exchange value determine the type of agrarian relations. However, it is very difficult to identify the pure nature of agrarian relations because in this sphere relations of production change slowly almost imperceptibly, coalescing and evermerging with old forms".
   Harihar Bhakta ; Agrarian Relations and Development (Regional Study of North-West Bihar), Indian Journal of Agricultural Economics, Vol.XXXVI (4) October-December 1981,p.166.

share basis) भू-स्वामी एवं कृषक बांटते थे । भूमि पर कृषि करने वाले कृषको को आसामी कृषक (tenant farmer) कहते है । इन आसामी कृषकों को चरागाह भूमि के उपयोग के लिए भी भू-स्वामी को नकद अथवा प्राप्त उत्पाद के रूप में कर देना होता था । साथ ही आसामी कृषकों को सामान्तों के यहां विवाह अथवा अन्य समारोह पर भेंट या उपहार भी देनी होती थी । सामान्त वर्ग कृषकों से भूमि के उपयोग के उपलक्ष में उत्पादित फसल का 25 से 50 प्रतिशत भाग लगान के रूप में ले लेते थे और आसामी कृषकों के पास शेष बचत बहुत कम होता थी । इस प्रकार सामन्तवादी प्रथा में कृषकों का शोषण होता था । इस प्रकार के संबंध ही मनुष्य एवं भूमि में इस प्रथा की प्रमुख विशेषता होती थी । कृषकों से प्राप्त उत्पाद की मात्रा को सामन्त विक्रय करते अपना जीवन निर्वाह करते थे । यही उत्पाद बाजार में अधिशेष उत्पादन के रूप में कहलाता है । पूर्ण सामान्तवादी प्रथा में व्याप्त उपरोक्त दोषों के कारण, यह संबंध निरंतर विच्छेदन एवं विघटन की ओर अग्रसर हुए और वर्तमान में पूर्ण रूप से समाप्त हो चुके है ।

2. पूर्ण पूँजीवादी सम्बन्ध (Pure Capitalist Relation)

इस प्रकार के संबंधों में भूमि पर स्वामित्व पूँजीपतियों अर्थात उन व्यक्तियों का होता है जो स्वयं उत्पादन में भागीदार नहीं होते है । भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उत्पादन की उन्नत विधियों को अपनाया जाता है । पूँजीपति भूमि से अधिक उत्पादन या आय प्राप्त के लिए उन फसलों का चुनाव करता हैं जिनकी बाजार में सर्वाधिक मांग होती है तथा जिनके लेने से लाभ अधिक प्राप्त होता है। काश्तकार भूमि पर कृषि करने के लिए पूर्णतया बाजार की आवश्यकता वाले उत्पादों के उत्पादन एवं उन्नत कृषि विधि के अपनाने के लिए भू-स्वामी की इच्छा पर आश्रित होता है ।

पूंजीवादी संबंध में निम्न गुण विद्यमान होते है :-

(अ) उत्पादन का प्रमुख साधन भूमि पर स्वामित्व उन व्यक्तियों का होता है जो उत्पादन में स्वयं भागीदार नहीं होते है ।

(ब) उत्पादन का प्रमुख उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है जिसके कारण भूमि पर उत्पादन करने के लिए फसलों का चुनाव बाजार की मांग के अनुसार किया जाता है ।

(स) काश्तकार खेती की दृष्टि से पूँजीपति की इच्छा पर निर्भर रहता है तथा स्वयं निर्णय नहीं ले सकता है ।

(द) पूंजीपति भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए नई तकनीकी विधियों के अपनाने के लिए निरंतर प्रयास करता है ।

पूर्ण पूँजीवादी संबंध निरंतर अग्रसर हो रहे है । समाज के समृद्ध व्यक्ति अधिक कीमत पर भूमि क्रय कर लेते है और उस पर कृषि करवाने के लिए श्रमिकों की सहायता लेते है । कृषि क्षेत्र में कर के नहीं होने से भी पूँजीवादी विधि का प्रसार हुआ है । वर्तमान में देश के प्रत्येक क्षेत्र में बड़ेबड़े कृषि फार्म पूँजीपतियों ने स्थापित कर लिये है जहाँ वाणिज्यिक फसलों का बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है ।

3. **अर्द्ध सामन्तवादी संबंध (Semi-Feudal Relations**)

इस प्रकार के संबंध में भूमि या तो काश्तकार के अधिकार में अथवा उनके सीधे स्वामित्व में होती है । उत्पादक कृषकों को अपनी आवश्यकता के अनुसार विभिन्न फसलों का उत्पादन करने

की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। यह संबंध पूर्ण सामन्तवादी प्रथा से भिन्न है इसमें कृषक भू-खण्ड का कृषि करने के दृष्टिकोण से स्वामी होता है ।

कृषि भूमि संबधों के ऐतिहासिक अध्ययन से स्पष्ट है कि पूर्ण सामान्तवादी संबंध देश में प्राय विच्छेदित हो चुके है तथा पूर्ण पूंजीवादी संबंध निरंतर अग्रसर हो रहे है । वर्तमान में भूमि संबंध इन दोनों के मिश्रित रूप में विद्यमान है। स्वतन्त्रता के पश्चात सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति पर विशेष बल दिया गया था । इसका प्रमुख कारण सामन्तों द्वारा कृषकों का शोषण करना, बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भूमि की आवश्यकता एवं उस पर स्वामित्व प्राप्त करने की ' इच्छा का होना था । ऐसा महसूस किया गया भूमि पर स्वामित्व प्राप्त कृषक भूमि से अधिक मात्रा में फसलों का उत्पादन कर सकते हैं । सामाजिक दृष्टिकोण से भी सामन्तवादी 'अर्द्ध सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति अनिवार्य हो गई थी, क्योंकि इसके होने से समाज मे व्याप्त असमानता के कारण आपसी वैमनस्यता में वृद्धि हुई है । एक तरफ तो समाज के कुछ ही व्यक्तियों के पास भूमि का अधिकांश भाग केन्द्रित था, जो उत्पादन वृद्धि में किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष रूप में भूमिका नहीं निभाते है बल्कि भूमि पर पराक्षयी के रूप में होते है। दूसरी तरफ समाज का एक बहुत बड़ा भाग जो उत्पादन वृद्धि करने में प्रत्यक्ष भूमिका निभाते है उन्हे भूमि पर किसी प्रकार का स्वामित्व प्राप्त नहीं होता है । इस प्रकार इन दोनो वर्गों में बढ़ती हुई सामाजिक असमानता को समाप्ति के लिए सामन्तवादी प्रथा का अन्त होना आवश्यक हो गया था ।

अर्द्ध सामन्तवादी प्रथा के अंतर्गत कृषकों के भूमि से संस्थागत सम्बन्ध :

भूमि पर कृषि करने वाले कृषकों के स्वामित्व की दृष्टि से निम्न तीन प्रकार के संस्थागत संबंध पाये जाते है:

1. भू-स्वामी कृषक (Owner Cultivator)

यह वे कृषक होते है जो भूमि के स्वयं ही स्वामी होते है और स्वयं ही अपनी भूमि को कृषित करते है । भू-स्वामी कृषित भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए भूमि पर विभिन्न रूप में जैसे कुंआ बनाने, भूमि को समतल करने, बाढ़ लगाने आदि कार्यों पर पूँजी निवेश करते है । इस विधि में पूँजी के निवेश करने से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा अथव आय से भू-स्वामी कृषकों को ही शत प्रतिशत लाभ होता है ।

2. पट्टे पर भूमि प्राप्त भू-धारक कृषक (Lease Holder)

इस विधि में भू-धारक कृषक भू-स्वामियों से एक निश्चित समयावधि के लिए प्राप्त भूमि पर कृषि करते है । भू-धारक कृषक कृषि के भूमि के स्वामी नहीं होते है । भू-धारक भूमि का लगान भू-स्वामी को उनके मध्य पूर्व में निर्धारित शर्तो के अनुसार भुगतान करता है।

भू-स्वामी, भू-धारक को भूमि एक निश्चित समय जैसे एक वर्ष या दो वर्ष के लिए कृषि करने के लिए देता है और समय की समाप्ति पर भू-धारक से भूमि वापिस लेकर दूसरे काश्तकार को कृषि करने के लिए देता है । अतः इस विधि में भू-धारक कृषक प्राप्त भूमि पर स्थाई सुधार के कार्य करने जैसे कुआं बनाना, भूमि को समतल करना, पक्का घोरा बनाना आदि पर पूँजी निवेश नहीं करता है। ऐसी स्थिति में भूमि का सुधार नहीं होता है और भूमि से आय की वृद्धि नही हो पाती है । कृषि करने के लिए प्राप्त भूमि के समय अनिश्चितता की स्थिति में भू-धारक कृषक भूमि में गोबर की खाद भी कम से कम प्रयोग करता है क्योंकि भू-स्वामी द्वारा भू-धारक कृषक को भूमि से पृथक किये जाने की स्थिति में उसके द्वारा किये गये पूँजी निवेश का पूर्ण लाभ उसे प्राप्त नहीं होता है ।

3. बटाई पर भूमि प्राप्त भू-धारक कृषक (Share Cropper)

इस विधि में भी भू-धारक कृषक भूमि का स्वामी नहीं होता है बल्कि भू-स्वामी से एक निश्चित समयावधि तक कृषि करने के लिए भूमि प्राप्त करता है। इस विधि में भू-धारक कृषक, भूमि का लगान भू-स्वामी को निश्चित राशि में नहीं देकर प्राप्त उत्पादन की मात्रा का एक भाग के रूप में देता है। बटाई विधि में भू-धारक एवं भू-स्वामी पूर्व में हुए समझौते के अनुसार उत्पादन लागत की राशि एवं भूमि से प्राप्त विभिन्न उत्पादों की उत्पादन मात्रा को आपस में विभाजित करते है। अतः उपरोक्त दोनों विधियों-पट्टे पर प्राप्त भूमि एवं बटाई पर प्राप्त भूमि में लगान के भुगतान विधि में ही अन्तर होता है लेकिन अन्य सभी बातों में दोनों विधियाँ समान है। अतः कुछ विद्वानों ने कृषकों को दो ही श्रेणी में विभक्त किया है:

1. भू-स्वामी कृषक (Owner cultivators)
2. आसामी कृषक (Tenant cultivators)

आसामी कृषक की श्रेणी में पट्टे पर भूमि प्राप्त करने वाले एवं बटाई पर भूमि प्राप्त करने वाले दोनों ही श्रेणी के कृषक सम्मिलित होते है। बटाई पर भूमि देकर की जाने वाली कृषि में लगान भुगतान की निम्न दो विधियाँ होती है।

(अ) उत्पाद की मात्रा का 50 : 50 के अनुपात में विभाजन करना

इस विधि में प्रमुख कृषि निविष्टों-उत्पादन बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाईयां तथा सिंचाई के लिए प्रयोगित बिजली अथवा डीजल तेल के भुगतान की राशि का भू-स्वामी एवं आसामी कृषक के मध्य समान रूप से विभाजन किया जाता है तथा मानव व बैल श्रम की लागत पूर्णतया आसामी कृषक को वहन करनी होती है। भूमि का राजस्व भू-स्वामी को वहन करना होता है। उपयोगित निविष्टों के कारण भूमि से प्राप्त सभी उत्पादों एवं उनके उपोत्पाद की मात्रा का 50-50 के अनुपात में भू-स्वामी एवं आसामी कृषक में विभाजन कर लिया जाता है।

(ब) स्थिर मात्रा में भूमि का लगान भुगतान करना

इस विधि में सभी कृषि लागत (भू-राजस्व के अतिरिक्त) आसामी कृषक को वहन करनी होती है। भू-राजस्व राशि का भुगतान भू-स्वामी द्वारा सरकार को किया जाता है। तथा भूमिका लगान कृषक एवं भू-स्वामी में आपसी समझौते के अनुसार एक निश्चित राशि के रूप में अथवा उत्पादित फसल के रूप में भू-स्वामी को देना होता है। लगान की राशि उत्पादन की मात्रा से प्रभावित नहीं होती है अर्थात उत्पादन अधिक, कम एंव नहीं प्राप्त होने की सभी स्थितियों में आसामी कृषकों द्वारा समान मात्रा में भू-स्वामी को देना होता है।

उपर्युक्त दोनों ही विधियों में भूमि भूस्वामी द्वारा कृषकों को बटाई पर दी जाती है।भूमि के बटाई पर देने की यह प्रथा भूमि की उत्पादकता में वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि एवं काश्तकारी कानूनों की अड़चन के कारण धीरे-धीरे कम होती जा रही है। वर्तमान में भूमि को बटाई पर देने की यह विधि अनेक स्थानों पर जैसे अपाहिज व्यक्तियों के स्वामित्व की भूमि, विधवाओं की भूमि, सेना में कार्यरत सेनिकों के स्वामित्व की भूमि में साधारणतया पाई जाती है। पर्याप्त सिंचाई सुविधा एवं ट्रैक्टर सुविधा वाले दीर्घ जोत कृषक भी लघु पड़ौसी कृषकों की भूमि को बटाई पर ले जाने में सक्षम होते हैं। लघु कृषक अपने पास उत्पादन साधनों की कमी के कारण अपनी भूमि को दीर्घ कृषकों को देते है। इस प्रकार इस विधि से दीर्घ एवं लघु जोत दोनों ही कृषकों को लाभ प्राप्त होता है।

इस प्रकार की बटाई विधि के होने से देश में अनुपस्थित भू-स्वामियों की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। ऐसा पाया गया है कि कृषि निविष्टों एवं मानव श्रम का उपयोग स्वयं के स्वामित्व वाली भूमि पर बटाई पर ली गई भूमि की अपेक्षा प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र में अधिक होता है । जिससे कृषकों को आय भी अधिक प्राप्त होती है और देश में खाद्यानों का उत्पादन भी अधिक होता है ।

11.2.3 कृषि भूमि सम्बन्धों की समीक्षा के लिए नियुक्त कार्यकारी दल,1972 (Task Force on Agrarian Relations)

भारत सरकार के योजना आयोग ने फरवरी 1972 में कृषि भुमि संबंधों की समीक्षा के लिए एक कार्यकारी दल की नियुक्ति श्री पी. एस. अप्पू की अध्यक्षता में की थी जिसका मुख्य उद्देश्य भूमि सुधार के अंतर्गत अपनाये गये उपायो का आलोचनात्मक समीक्षा करके वृतान्त प्रस्तुत करना था । कार्यकारी दल ने महसूस किया कि भू-धारण प्रथा में मध्यस्थों के उन्मूलन संबंधी पारित कानूनों की अनुपालना तो वृहत स्तर पर दक्षता से हुई है । लेकिन भू-धारणा सुधार एवं जोत को उच्चतम सीमा कानून अपने निर्धारित नीति से बहुत दूर हैं ।कार्यकारी दल ने अपने वृतान्त में इसके निम्न कारण दिये है ।

1. पारित कानूनों को लागू करने में राजनैतिक इच्छा का नही होना !
2. लाभान्वित होने वाले कृषक वर्ग द्वारा पारित कानूनों की अनुपालना के लिए सरकार पर आवश्यक दबाव नहीं डालना । सागाजिक एवं आर्थिक असमर्थता के कारण अधिकांश कृषक ऐसा नहीं कर पाते हैं ।
3. सरकारी अधिकारियों द्वारा भूमि सुधार कार्यक्रमों के विभिन्न पहलुओं की उपेक्षा करना क्योंकि उन्हें लगान वसूली एत अन्य कार्य भी प्राथमिकता पर करने होने है ।
4. घोषित नीति को कार्यान्वित करने में कानूनन अड़चनों का होना एवं प्रभावित समृद्ध वर्ग द्वारा न्यायालय से इनके कार्यान्वित में देरी करने के लिए स्थगन आदेश प्राप्त कर लेना ।
5. सरकार द्वारा भूमि युधार कार्यक्रमों को क्रियान्वयन करने के लिए आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान नहीं करना ।
6. भूमि संबंधित अभिलेख सही एवं पूर्ण उपलब्ध नही होना ।
7. केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार तथा विभिन्न सरकारों में भूमि कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के लिए सही तालमेल का नही होना, जिससे इनकी प्रगति विभिन्न राज्यों में समान नहीं है। कार्यकारी दल ने अपने वृतान्त में उपरोक्त कमियों को दूर करने के लिए सुझाव दिए
   - (I). भूमि सुधार कानून में व्याप्त कमियों को दूर करना ।
   - (II). भू-सीमा के निर्धारण कें लिए नया कानून बनाना एवं उससे प्राप्त अधिशेष भूमि को भूमिहीन श्रमिकों में वितरित करना ।
   - (III). भूमि सुधार कार्यक्रमों के कार्यान्वित करने के लिए एक पृथक व्यवस्था स्थापित करना एवं उसे आवश्यक अधिकार कानूनन प्रदान करना ।
   - (IV). भूमि सुधारों कों पूर्णरूप से कार्यान्वित करने एवं राजनैतिक प्रभावों को करने के लिए कृषकों में आवश्यक चेतना जागृत करना ।

11.2.4 कृषि भूमि सम्बन्धों मे समय के साथ हुए परिवर्तन

वर्तमान में विद्यमान कृषि भूमि सम्बन्धों की संरचना में समय के साथ अनेक परिवर्तन हुए है । यह परिवर्तन भूमि सुधार कार्यक्रमों के अपनाने के फलस्वरूप आये है । कृषि भूमि सम्बन्धों में समय के साथ हुए प्रमुख परिवर्तन निमांकित है

1. लघु एवं सीमान्त कृषकों की संख्या एवं अनुपात में वृद्धि (Increase in number and proportion of small and marginal farmers)

भूमिसुधार कार्यक्रमों के लागू होने के फलस्वरूप देश में लघु कृषकों (एक से दो हैक्टर भूमि का क्षेत्र) एवं सीमान्त कृषकों (एक हैक्टर से कम भूमि का क्षेत्र) की संख्या एवं उनके पास उपलब्ध भूमि के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है । दूसरी ओर दीर्घ जोत कृषकों (10 हैक्टर से अधिक भूमि का क्षेत्र) की प्रतिशतता एवं उसके पास उपलब्ध भूमि के क्षेत्रफल में कमी हुई है । तालिका 11.1 में पिछली तीन कृषि जनगणना के आंकड़े प्रदर्शित किये गये है जो उपरोक्त तथ्यों- की पुष्टि करते है ।

तालिका 11.1 विभिन्न जोत कृषकों की संख्या एवं उनके पास उपलब्ध भूमि का क्षेत्रफल कृषक श्रेणी संख्या (मिलियन में) उपलब्ध जोत क्षेत्रफल

कृषक श्रेणी	**संख्या (मिलियन मे)**		**उपलब्ध जोत (मिलियन हैक्टेयर में)**	
	1970-71	**1990-91**	**1970-71**	**1990-91**
सीमान्त कृषक (1 हेक्टर से कम)	36(51%)	62(58%)	15(9%)	25(15%)
लघु कृषक (1-4 हेक्टर)	24 (34%)	34(33%)	49 (30%)	67(41%)
मध्यम जोत कृषक (4-10 हेक्टर)	8 (11%)	8(7%)	48 (30%)	45(27%)
दीर्घ जोत कृषक (10 हैक्टर व ऊपर)	11 (4%)	2(1%)	50(31%)	29(27%)
कुल	**71 (100 %)**	**106 (100%)**	**162(100%)**	**166(100%)**

तालिका 11.1 से स्पष्ट है कि 1990-91 में लघु एवं सीमान्त जोत कृषक कुल कृषकों की संख्या का 91 प्रतिशत होते हुए भी उनके पास कुल जोत क्षेत्रफल का 56 प्रतिशत क्षेत्रफल उपलब्ध था । जबकि दीर्घजोत कृषकों की संख्या मात्र 1 प्रतिशत होने पर भी उनके पास कुल जोत क्षेत्रफल का 17 प्रतिशत भाग है । अतः स्पष्ट है कि विभिन्न कृषक वर्गो के पास भूमि का वितरण समान मात्रा में ना होकर दीर्घ जोत कृषकों के पास अधिक है । उपरोक्त काल में दीर्घ जोत कृषकों के पास उपलब्ध क्षेत्र में कमी आई है लेकिन अभी भी भूमि का वितरण बहुत असमान है जिसमें सुधार लाना आवश्यक है ।

2. भूमिहीन परिवारों की प्रतिशतता में कमी (Decline in the proportion of landless households)

भूमि सुधार कार्यक्रमों विशेषकर जोत की उच्चतम सीमा नीति कें क्रियान्वयन से देश में भूमिहीन कृषक परिवारों की प्रतिशतता में कमी आई है । देश में जोत की उच्चतम सीमा कानून के क्रियान्वयन से प्राप्त अधिशेष भूमि को भूम्हिीन परिवारों में वितरण करने से भूमिहीन कृषक परिवारों की संख्या में निरंतर कमी आई है । देश में वर्ष 1953 -5 4 में भूमिहीन कृषक परिवार कुल परिवारो का 23.9 प्रतिशत थे । यह प्रतिशतता कम लेकर 1970-71 में 9.34 रह गई ।

3. जोत के औसत आकार मे कमी होना (Decrease in average size of holding)

देश में जनससंख्या की वृद्धि संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन तथा भूमि की मांग की अधिकता के कारण जोत संख्या में निरंतर वृद्धि हुई है। वर्ष 1970-71 की कृषि जनगणना के अनुसार देश में कुल जोत 70.493 मिलियन था,जो जोत अपखण्डन के कारण 1990-9 1 की कृषि जनगणना के अनुसार 106 मिलियन हो गई । इसके कारण जोत का औसत क्षेत्रफल 1970-71 में 2.28 हैक्टर से कम होकर 1976-77 में 2 .00 हैक्टर एवं 1990-91 में मात्र 1.57 हैक्टर ही रह गया ।

4. आसामी कृषकों एवं बटाई पर प्राप्त होने वाले भूमि के क्षेत्र मे कमी होना (Decline in number of tenant farmers and leased in land area)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप दूसरों की भूमि को बटाई पर प्राप्त करके कृषित करने वाले आसामी कृषकों (Tenant farmers) की संख्या में निरन्तर कमी आई है । मध्यस्थों की समाप्ति के लिए पारित कानूनों के फलस्वरूप बटाई पर कृषि करने वाले आसामी कृषकों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो गये है और वे अब भू-स्वामी कृषकों की श्रेणी में आ गये है । साथ ही बटाई पर दी जाने वाली भूमि के क्षेत्र में कमी आई है । पहले जो कृषक भूमि की अधिकता के कारण अधिशेष भूमि को दूसरे कृषको को बटाई पर देते थे, वे अब जोत की उच्चतम सीमा लागू होने से अपने पास सीमित क्षेत्रफल के कारण बटाई पर नहीं देते है । अतः बटाई पर दी जाने वाली भूमि के क्षेत्रफल में भी कमी आई है ।

5. कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि (Increase in number of Agricultural Labourers)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के अपनाने से देश में लघु एवं सीमान्त कृषकों तथा कृषि श्रमिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है । लघु एवं सीमान्त कृषक अपनी जोत से पर्याप्त कार्य के अभाव में बचे हुए समय में दूसरों के फार्म पर कार्य करते है और कृषि श्रमिकों की श्रेणी में वर्गीकृत हो जाते है । पूर्व में जब जोत का आकार बड़ा होता तो था, कृषकों को अपनी ही फार्म पर पर्याप्त कार्य उपलब्ध हो जाता था और उन्हे दूसरों के फार्म पर मजदूरी करने के लिए नही जाना पड़ता था ।

देश में कृषि श्रमिकों की संख्या 1961 में 31.5 मिलियन थी जो बढ़कर 1971 में 47.1 मिलियन हो गई । कुल श्रमशक्ति में कृषि श्रमिकों का प्रतिशत 1961 में 16.7 प्रतिशत था जो बढ़कर 1971 मे 25.7 प्रतिशत हो गया । इसके विपरीत, उपरोक्त काल में कृषको की संख्या 99 .6 मिलियन से कम होकर 78 .6 मिलियन ही रह गयी ।

6. मध्यस्थों की समाप्ति (Abolition of intermediaries)

भूमि सुधार कार्यक्रम के अपनाने से देश में सरकार एवं कृषक के मध्य में विद्यमान मध्यस्थ जैसे जमींदार एवं जागीरदार समाप्त हो गए है तथा काश्तकार सरकार के सीधे सम्पर्क मे आ गए है। कृषकों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार भी प्राप्त हो गये है । कृषकों अपने स्वामित्व वाली भूमि पर

स्थायी सुधार करके अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकते है । मक्कों का समाप्ति के कारण देश के लाखों कृषक सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गए है ।

7. कृषित एवं स्वामित्व जोत की स्थिति मे परिवर्तन (Change in Operational and Ownership Holdings)

भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ भार तथा भूमि की प्राप्ति की सामाजिक इच्छा की प्रबलता के कारण, देश की विभिन्न राज्य सरकारों ने भूमि सुधार की दिशा में अनेक कानून पारित किये है, जिनके कारण कृषित जोत एवं स्वामित्व जोत की स्थिति में परिवर्तन हुए है । स्वामित्व जोत के क्षेत्रफल में वृद्धि एवं कृषित जोत क्षेत्र में कमी आई है ।

11.3 भारत में भूमि सुधार कार्यक्रम)Land Reforms in India)

कृषि क्षेत्र में उत्पादकता में वृद्धि लाने वाले कारकों को दो मुख्य समूहों तकनीकी एवं संस्थागत में विभाजित किया जाता है । तकनीकी कारकों में कृषि निविष्टों का उचित मात्रा में उपयोग करना सम्मिलित है जिनके कारण उत्पादकता में परोक्ष रूप से वृद्धि होती है । दूसरे वर्ग में उत्पादन वृद्धि के वे कारण आते है जिन्हें संस्थागत कहते है । इनमें प्रमुखतया भूमि सुधार कार्यक्रम सम्मिलित होते है । उदाहरण के लिए भूमि पर कृषकों का स्थायी स्वामित्व होने पर ही वे सिंचाई साधन का विकास कर सकते है, । सिंचाई साधन के विकास होने पर फार्म पर उन्नत बीजों एवं उर्वरक का संतुलित मात्रा में उपयोग कर पाना संभव है । अत तकनीकी एवं संस्थागत कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए एक दूसरे के समपूरक होते है ।

11.3.1 भूमि सुधार कार्यक्रम से तात्पर्य

भूमि सुधार से तात्पर्य देश में भूमि व्यवस्था में उन परिवर्तनों के करने से है जिनके द्वारा भूमि व्यवस्था में सुधार करके कृषकों को भूमि की उत्पादकता बढ़ाने एवं उन्हें उचित जीवन स्तर प्रदान करने का प्रयास किया जाता है । भूमि सुधार शब्द का अर्थ बड़ा विस्तृत है, जिसके अंतर्गत न केवल भूमि -अवस्था के सुधार ही सम्मिलित है बल्कि भूमि सुधार कार्यक्रम में भूमि का पुन वितरण करके भूमि का स्वामित्व कृषकों को प्रदान करना, जोत अपखण्डन को रोक कर जोत के आकार में वृद्धि करना, कृषकों की भूमि-धारण विधि में सुधार लाना, भूमि पर लगने वाले लगान की राशि में कमी करना, सहकारी कृषि एवं कृषि का पुर्नगठन, आदि सम्मिलित होते है । दूसरे शब्दों में भूमि सुधार के अंतर्गत भूमि पर सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति, आसामी कृषकों एवं भूमिहीनों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्रदान करना, भूमि का लगान राशि का निर्धारण करना मुख्यतया सम्मिलित होता है ।

भूमि पर स्वामित्व की सामाजवादी प्रथा, देश में लघु एवं सीमान्त जोतों के अधिक संख्या में होने भूमि का वितरण समान नही होने, जोत उप विभाजन एवं अपखण्डन, कृषकों से अधिक मात्रा में लगान लेने, कृषकों को भूमि पर स्थाई अधिकार प्राप्त नहीं होने के कारण, कृषकों में उत्पादन वृद्धि को प्ररेणा ह्रास होता है । फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में कम पूंजी का निवेश एवं कृषकों को कृषि क्षेत्र से कम आय एवं कम बचत राशि प्राप्त होती है । कृषकों में गरीबी भी बढ़ती है ।

भूमि सुधार कार्यक्रम नया नहीं है । वर्ष 1946 में कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र में सुधार के लिए निर्णय लिया गया था कि कृषक एवं सरकार के मध्य पाए जाने वाले मध्यस्थों को समाप्त किया

जाये और मध्यस्थों को भूमि के बदले क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान किया जावे । ग्राम्य सुधार समिति, 1948 ने भी सुझाव दिया था कि भूमि पर स्वामित्व कृषक का लेना चाहिए । संयुक्त राष्ट्र संघ ने या अपने वृतान्त में लिखा था कि भारत में भूमि सम्बन्धी पद्धति उचित नहीं होने से आर्थिक विकास नहीं हो रहा है ।

11.3.2 भूमि सुधार कार्यक्रमों के उद्देश्य

भूमि सुधार कार्यक्रमों को गरीबी उन्मूलन, कृषि में आधुनिकीकरण तथा उत्पादकता में वृद्धि के क्षेत्र में प्रमुख तत्व माने जाते है । भूमि के पुन: वितरण विधि द्वारा गरीब भूमिहीनों को स्थायी सम्पदा प्राप्त होती है जिससे वे भूमि आधारित एवं अन्य सहायक उद्यम अपना सकते है और आय में वृद्धि कर सकते है । इसी प्रकार जोत चकबन्दी, भू-धारण में सुधार भूमि अभिलेखों मे सही बनाकर लघु एवं सीमान्त कृषक भी उन्नत सुधार कार्यक्रम अपनाकर अपने भूमि के क्षेत्र से कृषि उत्पादकता एवं उत्पादन की मात्रा में वृद्धि कर सकते है ।

आजादी के बाद भूमि सुधारों को ग्रामीण विकास का महत्वपूर्ण अंग माना है । इन्हें पुराने सामंतवादी सामाजिक आर्थिक ढांचे को तोड़ने का माध्यम समझा एवं यह भी अपेक्षा की गई कि इनसे कृषि उत्पादकता बढ़ेगी । गरीब कृषकों एवं कृषि मजदूरों के लिए आर्थिक विकास की मुख्य धारा से जुड़ने का मार्ग भी भूमि सुधारों को समझा गया।

भू-स्वामित्व चाहे कितने ही छोटी जोत का क्यों न हो, अपने साथ मनोवैज्ञानिक और सामाजिक मूल्य लिए हु ए होता है । यह सामाजिक मूल्य केवल गरीब वर्गों का स्तर ही नहीं बढ़ाता बल्कि सामाजिक जीवन के अस्तित्व का आभास भी कराता है । इसलिए भूमि सुधार कार्यक्रमों को आर्थिक विकास का माध्यम और सामाजिक उत्थान का आधार भी माना गया है ।

भूमि सुधार कार्यक्रमों के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित है :

1. सीमित भूमि उत्पादन-साधन का अनुकूलतम उपयोग करना

देश में भूमि सीमित मात्रा में है तथा सीमित भूमि से अधिकतम मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए इस साधन का अनुकूलतम उपयोग करना आवश्यक है । अतः आवश्यक है कि जोत की उच्चतम सीमा का निर्धारण होवे, जोत एक खण्ड में हो अथवा जोत के विभिन्न खण्ड पास पास होवे । ऐसा होने से कृषक अपने पास उपलब्ध अन्य सीमित साधन जैसे श्रम एवं पूँजी का पूर्ण उपयोग कर सकेंगे और प्रत्येक उत्पादन-साधन से उत्पादन की अधिकतम सीमान्त मात्रा प्राप्त कर सकेंगे । अतः कृषकों के पास उपलब्ध सीमित साधनों से अधिकतम मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रमों को अपनाना आवश्यक है ।

2. सीमित भूमि साधन से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के इच्छुक होना

भूमि सुधार कार्यक्रमों का दूसरा प्रमुख उद्देश्य कृषकों को भूमि से अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के इच्छुक होना है । यह तब ही संभव है जब कृषकों को भूमि पर स्थायी स्वामित्व अधिकार प्राप्त होवे, भूमि का लगान अधिक राशि में नहीं होवे तथा पट्टे पर प्राप्त भूमि की शर्ते कृषको के लिए लाभकारी होवे। यह कार्यक्रम कृषकों को भूमि के क्षेत्र पर स्थायी सुधार करने की प्रेरणा प्रदान करता है, जिससे कृषक भूमि पर अधिक राशि में पूँजी निवेश करते है।

3. कृषि में तकनीकी ज्ञान ये विस्तार एवं उत्पादन वृद्धि में आने वाली बाधाओं को दूर करना

संक्षिप्त में भूमि सुधार कर्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य सरकार एवं कृषकों के मध्य में पाये जाने वाले मध्यस्थों को समाप्त करके उन कृषकों को झूम पर स्वामित्व प्रदान करना है जो भूमि को स्वयं कृषित करते है ।

11.3.3 भूमि सुधार कार्यक्रम

प्रमुख भूमि सुधार कार्यक्रमों को उनके उद्देश्यों के अनुसार निम्न वर्गो में विभाजित किया जाता है ।

(1) मध्यस्थों की समाप्ति (Abolition of Intermediaries)

भूमि सुधार के लिए किए गये प्रयासों में प्रथम कार्यक्रम मध्यस्थों की समाप्ति करने तथा भूमि का स्वामित्व जोतने वाले कृषक को प्रदान करने (Land to the tiller) का है । इसका मुख्य उद्देश्य सरकार एवं कृषकों के मध्य पाए जाने वाले मध्यस्थों को समाप्त करके कृषकों को सरकार से सीधे सम्पर्क में लाने से है ।

मध्यस्थ भूमि के सर्वोच्च स्वामी (सरकार) एवं भूमि पर कृषि करने वाले काश्तकारों के मध्य कार्य करने वाला वर्ग होता है यह वर्ग सरकार से नियत शर्तो पर भूमि प्राप्त करते है । कुछ मध्यस्थों को उनके द्वारा सरकार को प्रदान की गई सेवाओं के लिए भूमि प्राप्त होती है । मध्यस्थ भूमि के अस्थायी भू-स्वामी होते है । मध्यस्थ सरकार को राजस्व की नियत राशि जमा कराते है और भूमि को कृषकों को कृषित करने के लिए देकर उनसे लगान के रूप में काफी राशि प्राप्त करते है । प्राप्त लाभ से आरामप्रद एवं ऐश का जीवनयापन करते है । मध्यस्थ कृषकों से लगान की राशि के अतिरिक्त अन्य लागतें भी वसूल करते है तथा उनसे बेगार भी लेते है । इस प्रकार मध्यस्थ कृषकों का शोषण करते है ।

भारत में भू धारण प्रणाली :-सरकार तथा भू-स्वामी के आपसी सम्बन्धों के आधार पर भारत में भू-धारण प्रणाली निम्न तीन प्रकार की थी -

(i). **रैयतवारी -** इसके अंतर्गत भूमि का सर्वोच्च स्वामित्व सरकार के हाथ में होता था, किन्तु रैयत या भूमि के स्वामी का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध होता था। नियमित रूप से भू-राजस्व जमा करने पर भू-स्वामी को भूमि को कृषित करने, हस्तांतरित करने, बेचने अथवा बन्धक रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। भू-स्वामी कृषकों को भूमि जोतने के लिए दूसरे कृषकों को लगान पर देने अर्थात् उपपटेदारी (Sub leasing) पर देने की स्वतंत्रता होती है लेकिन उन्हें भूमि के कानूनन स्थायी अधिकार प्राप्त नही होते है। भू-स्वामी द्वारा भू-राजस्व सरकार को समय पर नही जमा कराने की स्थिति में सरकार उस भूमि से अन्य कृषक को उचित अधिकार के साथ दे सकती थी । इस प्रकार इस विधि में कृषकों की भूमि पर मौरूसी अधिकार (Occupancy rights) ही प्राप्त थे न कि भूमि के स्थायी अधिकार प्राप्त थे ।

(ii). **महलवारी -** इस पद्धति में गांव की समस्त भूमि पर गांव के किसानों का संयुक्त अधिकार होता था, और समस्त भूमि को एक इकाई मानकर लगान निर्धारित किया जाता था। प्रत्येक इकाई को महाल कहते थे । भूमि का स्वामित्व किसी एक व्यक्ति के पास न होकर पूरे ग्राम समूह के पास होते थे । भूमि का राजस्व सरकार को जमा कराने को दायित्व ग्राम के सभी कृषकों का सामूहिक रूप से होता था। प्रत्येक कृषक भूमि पर निजी रूप से खेती कर सकता था । साथ ही कृषकों को भूमि पर

पैतृक अधिकार प्राप्त थे । इस प्रथा में लगान की वसूली के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न नियम प्रचलित थे।

(iii). **जमींदारी एवं जागीरदारी -** इस पद्धति में भूमि का प्रबन्ध बड़े राजा-महाराजाओं एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता था । इन्हें भूमि के प्रबंध के अधिकार सरकारी सेवा के बदले दिए जाते थे । ये जागीरदार भूमि के सर्वोच्च स्वामी नहीं होते थे । बल्कि प्रशासन का कार्य करते थे एवं कृषकों से लगान वसूल करते थे । देश में जागीरदारी एवं जमींदारी प्रथा का प्रचलन ब्रिटिश सरकार के काल में हुआ था । ब्रिटिश सरकार ने देश में कृषकों की भू-राजस्व राशि के निर्धारित, वसूली एवं इसके संशोधन में होने वाली कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए इस प्रथा को चुना था । कुछ राज्यों में जागीरदारी एवं जमींदारी प्रथा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भू-धारण प्रणालियां भी प्रचलित थी जैसे बिस्वेदारी प्रथा, मालगुजारी प्रथा, इनामदारी एवं माफीदारी प्रथा आदि ।

उपर्युक्त सभी प्रकार की भू-पद्धतियों में कृषकों से भू-राजस्व उपज के भाग के रूप में अधिक मात्रा में वसूल किया जाता था, जिससे कृषकों के पास उपज की मात्रा बहुत कम रह जाती थी । अतः वे कृषि के विकास के लिए अधिक पूँजी का कृषि में निवेश नही कर पाते थे । साथ ही कृषको को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त नहीं होने के कारण तथा भूमि पर कृषि करने के समय की अनिश्चितता के कारण वे भूमि सुधार तथा कृषि विकास के लिए आवश्यक साधनों जैसे कुओं का निर्माण, सिंचाई के लिए पक्की नालियाँ बनाने, भूमि को समतल करने खाद डालने आदि कार्यो पर पूँजी निवेश नहीं करते थे क्योंकि उन्हे भूमि से बेदखल किए जाने का भय बना रहता था । इन सब कारणों से कृषि उत्पादकता कम होती थी और कृषि विकास के नही होने से देश आर्थिक समृद्धि के क्षेत्र में अग्रसर नहीं हो पाता है । अतः स्वतंत्र भारत में भू-घृति प्रथाओं की समाप्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई ।

मध्यस्थों की समाप्ति के लिए समय-समय पर सरकार पर दबाव पड़ा, उसका प्रमुख कारण एक वर्ग विशेष के व्यक्तियों के पास भूमि के स्वामित्व का केन्द्रीकरण होने का विरोध था । मध्यस्थ वर्ग उत्पादन में वृद्धि करने में किसी प्रकार की भूमिका नहीं अदा करते है बल्कि भूमि पर पराश्रयी होते है । इस प्रथा के कारण वास्तव में भूमि को जोतने वाले कृषक भूमि के स्वामित्व अधिकार से वंचित होते है। अतः सामन्तवादी तथा अर्द्धसामन्तवादी प्रथा को समाप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई । फलस्वरूप स्वतंत्रता के पश्चात् इन के उन्मूलन के लिए विभिन्न राज्य सरकारों ने कानून पारित किए ।

मध्यस्थों की समाप्ति के लिए विभिन्न राज्यों में कानून 1950 से 1960 के दशक में पारित हुए । मध्यस्थों की समाप्ति के लिए सर्वप्रथम प्रयास उत्तर प्रदेश राज्य में किए गए नथा इसके बाद अन्य राज्यों में किए गए चूंकि भूमि सुधार क्रियान्वित करने दायित्व राज्य सरकारों पर हैं, अतः विभिन्न राज्यों में पृथक कानून पारित किए गए । इन कानूनों के कारण प्राय सभी राज्यों में मध्यस्थ समाप्त हो गए और देश के 20 मिलियन से अधिक कृषक अब सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गए है । तथा कृषकों को अनेक प्रकार की सुविधाए प्राप्त होने लग गयी है।

(2) भू-धारण पद्धति में सुधार (Tenancy Reforms)

भूमि सुधार कार्यक्रमों में दूसरा प्रमुख पहलू भूधारण पद्धति में सुधार है । भू-धारण के विभिन्न पहलुओं जैसे लगान राशि का निर्धारण, भूमि पर कृषि करने की अवधि की अनिश्चितता एवं भूमि के हस्तान्तरण आदि के लिए भी कानून बनाने की आवश्यकता महसूस की गई । जमींदार एवं जागीरदार

वर्ग कृषकों से उत्पादित उपज की मात्रा की एक चौथाई से अधिक भाग लगान के रूप में वसूल करते थे, जिससे कृषकों के पास शेष राशि कृषि व्यवसाय में निवेश करने के लिए बहुत कम रहती थी । साथ ही जमींदार कृषकों को इच्छानुसार भूमि से बेदखल कर देते थे । जिससे कृषकों में भूमि पर कृषि करने के की अनिश्चितता बनी रहती थी । इस अनिश्चितता के वातावरण में कृषक भूमि पर स्थायी के उपायों के अपनाने में रुचि नहीं लेते थे । कृषकों द्वारा स्थायी सुधार कार्यो में पूँजी निवेश की गई राशि का लाभ अनेक बार भूमि से बेदखल की अवस्था में कृषकों को प्राप्त नहीं होता था । कृषक धन एवं अन्य प्रकार की आवश्यकता होने पर अपनी भूमि को अन्य व्यक्तियों एवं रिश्तेदारों को विक्रय अथवा भेंट स्वरूप नहीं दे सकते थे । इस प्रकार उपरोक्त विषयों पर भी भू-धारण पद्धति में सुधार लाने की आवश्यकता स्वतंत्रता के उपरान्त महसूस की गई । भू-धारण सुधार कार्यक्रमों को प्रमुखतया निम्न तीन श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है, जिन्हें भू-धारण के तीन "एफ" भी कहते है।

1 भूमि का उचित लगान निर्धारण करना (Fixation of Fair Rent)

2 भू-धारकों के लिए भ्रम पर स्वामित्व अधिकार नियत करना (Fixity of Tenure for Tenants)

3 भूमि पर प्राप्त स्वामित्व अधिकार को स्थानान्तरित करने का प्रावधान (Free Transferability of Land Rights)

उपरोक्त विषयों पर सुधार लाने हेतु विभिन्न राज्यों में वर्ष 1948 से 1955 की अवधि में कानून पारित किये गये । इनके फलस्वरूप सभी राज्यों मे भूमि के लगान की राशि भूमि की किस्म के अनुसार प्रति हैक्टर भूमि पर नियत की जा चुकी है । कृषकों को अब भूमि का लगान प्राप्त उत्पादन की मात्रा के एक भाग के रूप में नहीं देना होता है बल्कि पूर्व निर्धारित एक नियत राशि ही देनी होती है । अधिक उत्पादन होने पर उसका सम्पूर्ण लाभ कृषक को ही प्राप्त होता है । इसके साथ ही सभी राज्यों के कृषकों को उनके द्वारा कृषित की जाने वाली भूमि पर स्थायी स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो गये है । कृषकों को अपने स्वामित्व की भूमि पर पट्टा एवं पास बुक प्राप्त हो गये है । साथ ही कृषक अब अपने स्वामित्व की भूमि को दूसरे काश्तकारों एवं व्यक्तियों को विक्रय कर सकते है या उपहार में दे सकते है । इस प्रकार भू-धारण सुधार कानूनों से कृषक वर्ग को लाभ प्राप्त हुआ है ।

उपरोक्त कानूनों के बावजूद भी भू-धारण प्रथा में कुछ कमियाँ व्याप्त है । उदाहरण के लिए अनेक स्थानों पर कृषकों को भूमि मौखिक भू-धारण पद्धति से उपलब्ध कराई जाती है । भू-स्वामी कृषकों से लगान की अधिक राशि वसूल करते है । साथ ही विभिन्न राज्यों में भी भूमि के निर्धारित लगान की राशि में बहुत असमानता व्याप्त है ।

(3) जोत की उच्चतम सीमा नियम करना (Imposition of Ceiling on Land Holdings)

देश में उपलब्ध भूमिका विभिन्न कृषकों में वितरण में बहुत असमानता व्याप्त है । वर्ष 1990-91 की कृषि जनगणना के अनुसार 58 प्रतिशत सीमान्त जोत कृषकों के पास कुल कृषित भूमि का मात्र 15 प्रतिशत क्षेत्र ही है । दूसरी ओर 1 प्रतिशत दीर्घ जोत कृषकों के पास 17 प्रतिशत भूमिका क्षेत्र है ।

तालिका-11.2 भारत मे विभिन्न जोत श्रेणी के अंतर्गत क्षेत्रफल, 1990-91

जीत श्रेणी	जोत संख्या (प्रतिशत)	भूमि का क्षेत्र (प्रतिशत)
1. सीमान्त जोत (एक हैक्टर से कम)	58	15

2. लघु जोत	(एक से चार हैक्टर)	33	41
3. मध्य जोत	(चार से दस हैक्टर)	7	27
4. दीर्घ जोत	(दस हैक्टर से अधिक)	1	17
	कुल	100	100

जीत का क्षेत्रफल कम एवं अधिक दोनो हो उत्पादन की दृष्टि से अहितकर होता है । जोत के अंतर्गत अधिक क्षेत्रफल होने तथा उत्पादन के अन्य साधन आवश्यक मात्रा में नहीं होने की अवस्था मे कृषकों को भूमि का कुछ क्षेत्रफल अकृषित छोड़ना होता है, साथ ही क्षेत्रफल की अधिकता की अवस्था में दक्ष प्रबन्ध के अभाव में भूमि के प्रति इकाई क्षेत्रफल से उत्पादन कम प्राप्त होता है । जोत के अंतर्गत क्षेत्रफल के कम होने पर सिंचाई के साधन एवं अन्य स्थायी सुधारों में पूंजी का निवेश करना लाभकर नहीं होता है । ऐसी स्थिति में भी भूमि के प्रति इकाई क्षेत्रफल से उत्पादन कम प्राप्त होता है । अतः जोत की अनुकूलतम सीमा का निर्धारण करना आवश्यक है। ।

जोत की उच्चतम सीमा (भू-सीमा) से तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा परिवार के लिए भूमि के नियत क्षेत्र के स्वामत्वि प्राप्त होने के उपरान्त अधिक भूमि रखने पर कानून नियंत्रण से है । भू-सीमा एक कृषक परिवार के लिए भूमि का अधिकतम क्षेत्र नियत करती है । जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित करने का उद्देश्य अनुकूलतम जोत के क्षेत्र वाले फार्मों का निर्माण करना हे जिससे प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादन अधिक प्राप्त होवे, उत्पादन लागत कम आवे एवं शुद्ध लाभ की राशि अधिक प्राप्त होवे।

भू-सीमा भूमि के पुन: वितरण का एक तरीका है । एक कृषक के पास निर्धारित सीमा से अधिक भूमि का क्षेत्र होने पर, अतिरिक्त भूमि उस कृषक से लेकर लघु एवं सीमान्त कृषकों तथा कृषि श्रमिकों में निर्धारित प्राथमिकता के आधार पर वितरित की जाती है, जिससे इस वर्ग के कृषकों की जोत को आर्थिक जोत बनाया जा सके तथा देश में भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में कमी हो सके । इस प्रकार इस भूमि सुधार कार्यक्रम द्वारा देश में कृषि जोतों के अंतर्गत व्याप्त क्षेत्रफल असमानता को कम करने का प्रयास किया जाता है ।

भू-सीमा निर्धारण के लाभ

(1) भू-सीमा निर्धारण से देश में विभिन्न व्यक्तियों के पास उपलब्ध भूमि के स्वामित्व में व्याप्त समानता समाप्त हो जाती है । एक कल्याणकारी राज्य में यह सामाजिक असमानता सर्वथा अनुपयुक्त है । इसके होने से राष्ट्र समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य के लिए अग्रसर होता है ।

(2) भू-सीमा के निर्धारण से प्राप्त अतिरिक्त भूमि के क्षेत्रफल को लघु एवं सीमान्त जोत कृषकों में वितरित करके उनकी जोत को आर्थिक बनाया जा सकता है । इसी प्रकार अतिरिक्त भूमिको भूमिहीन श्रमिकों में वितरित करके उनकी संख्या में कमी की जा सकती है । इससे इस वर्ग के कृषकों एवं कृषि श्रमिकों में आत्म विश्वास बढ़ेगा एवं उनकी समाज में प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी ।

(3) भू-सीमा के निर्धारण से दीर्घ जोत कृषकों.के यहां साधारणतया उत्पादन साधनों के अभाव में कुछ क्षेत्रफल अकृषित रह जाता था, वह अघन नहीं रह पाता है । इससे देश में कृषित क्षेत्रफल एवं सघन कृषि अपनाने से कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है ।

(4) भू-सीमा में निर्धारण के बाद कृषक अपनी सीमित भूमि के क्षेत्रफल पर सघन कृषि पद्धति अपनाकर आर्थिक उत्पादन एवं लाभ प्राप्त कर पाते है ।

(5) भू-सीमा में क्रियान्वयन से समाज में दीर्घ जोन एवं लघु जोत कृषकों में व्याप्त वैमनस्यता समाप्त हो जाती है ।

सीमा का निर्धारण

भू-सीमा निर्धारण का मुख्य आधार भूमि का वह क्षेत्रफल है जिससे प्राप्त आय से कृषक परिवार उचित जीवन स्तर एवं आवश्यक सुख-सुविधा प्राप्त कर सके। अत: भू-सीमा निर्धारित का स्तर एक समान नहीं होकर पृथक पृथक होता है। भूमि की विभिन्न किस्मों के लिए जोत की उच्चतम सीमा इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि सभी प्रकार की भूमि की उच्चतम सीमा करने क्षेत्रों से कृषकों को लगभग समान आय प्राप्त हो सके। समान आय का यह उदेश्य विभिन्न प्रकार की भूमि के लिए भू-सीमा के लिए भू-सीमा हेतु जोत का समतुल्य क्षेत्र ज्ञात करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। भू-सीमा के लिए क्षेत्रफल निर्धारित करते समय निम्न कारकों को दृष्टिगत रखा जाता है :

(I). भूमि की उर्वरा शक्ति।

(II). भूमि पर उपलब्ध सिंचाई सुविधा।

(III). भूमिपर उत्पन्न की जा सकने वाली फसलें।

(IV). विभिन्न फसलों से प्रति हैक्टर प्राप्त संभावित लाभ।

(V). क्षेत्र में मौसम की प्रतिकूलता होने की संभावना का प्रतिफल।

(VI). क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व।

वर्ष 1950 से 1960 के दशक में विभिन्न राज्यों ने जोत की उच्चतम' सीमा निर्धारण (Ceiling on land holdings) कानून पारित किये। इन पारित कानूनों के द्वारा विभिन्न प्रकार की भूमि पर जोत की उच्चतम सीमा का क्षेत्रफल निर्धारित किया गया। कानून के क्रियान्वयन के फलस्वरूप प्राप्त अधिशेष भूमि को लघु एवं सीमान्त कृषकों में वितरित की गई। इस प्रकार इससे लघु एवं सीमान्त जोतों के क्षेत्रफल में भी वृद्धि हुई। वर्ष 1972 में राष्ट्रीय नीति के अनुसार सभी राज्यों में जोत की उच्चतम सीमा कानून में पुन: संशोधन करके जोत की उच्चतम सीमा पूर्व की अपेक्षा कम की गई एवं अनेक प्रकार की दी गई रियायतें वापिस ले ली गई, जिससे निर्धारित भूमि प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त हो सके।

जोत की उच्चतम सीमा कानूनों के क्रियान्वयन से प्राप्त परिणामों के अवलोंकन से स्पष्ट है कि इनकी प्रगति संतोषजनक नहीं है। अनुमानित क्षेत्र से बहुत कम क्षेत्रफल भूमि का अधिशेष घोषित हो पाया और घोषित-अधिशेष क्षेत्रफल का मात्र एक भाग ही लघु एवं सीमान्त कृषकों में वितरण हेतु उपलब्ध हो पाया। अधिकांश भूमिका क्षेत्रफल कानून में कमियों एवं कृषकों की चतुराई से उच्चतम सीमा क्षेत्र में नही आ पाया। घोषित अधिशेष क्षेत्रफल भी न्यायालय से फैसला नहीं होने से वितरित नहीं हो सका, जो सारणी 11.3 में स्पष्ट है।

तालिका -11.3 जोत की उच्चतम सीमा कानून से प्राप्त अधिशेष भूमि का क्षेत्र

(मिलियन हैक्टर)

विवरण	भूमि का क्षेत्र
राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 16वें दौर (1960-61) के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	8.87

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 26वे दौर (1971-72 के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	4.80
कृषि जनगणना 1970-71 के अनुसार अनुमानित अधिशेष	12.10
कृषि जनगणना 1977 के अनुसार अनुमानित अधिशेष भूमि	8.88
वर्ष 1986 तक वास्तविक अधिघोषित अधिशेष भूमि का क्षेत्रफल	2.94
प्राप्त अधिशेष भूमि में से वर्ष 1986 तक वितरित भूमि का क्षेत्रफल	1.82

इस प्रकार देश में जोत की उच्चतम सीमा कानूनों के होने के फलस्वरूप भी अब तक कुल कृषित भूमि का 2 प्रतिशत से भी कम भूमि का क्षेत्र अधिशेष घोषित हो पाया है । एक अधिकृत अनुमान के अनुसार लगभग 9 प्रतिशत भूमि सीमा निर्धारण के बाद भू-आधिक्य के रूप में उपलब्ध होनी चाहिए थी । अतः इस क्षेत्र में हुई प्रगति नगण्य है । जोत उच्चतम सीमा की असंतोषजनक प्रगति के मुख्य कारण कानून में उन धाराओं का होना है जिनका लाभ लेकर अधिकतम जोत सीमा का उल्लंघन हो रहा है, ये है

(I). परिवार में 5 सदस्यों से अधिक होने पर सीमा से दुगुनी भूमि रखने का प्रावधान।

(II). प्रत्येक बालिग पुत्र के लिए अलग से सीमा निर्धारण ।

(III). संयुक्त परिवार के प्रत्येक शेयर होल्डर को सीमा निर्धारण के लिए अलग इकाई मानना।

(IV). बेनामी हस्तान्तरण

(V). चाय, काफी, कोको, रबर, इलायची के बागानों को सीमा से छूट ।

(VI). धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाओं द्वारा सीमा से अधिक भूमि रखने की स्वीकृति तथा

(VII). सार्वजनिक निवेश द्वारा नई सिंचित भूमि पर सीमा छूट का होना

इन प्रावधानों के दुरूपयोग ने अधिकतम जोत सीमा निर्धारण कानूनों के उद्देश्यों को विफल कर दिया है ।

(4) कृषि भूमि का पुनर्गठन (Agrarian Recorganization) एवं जोत चकबंदी

भूमि सुधार के इस कार्यक्रम में जोत उपविभाजन एवं 'अपखण्डन की रोकथाम करना तथा जोतों का चकबंदी करना सम्मिलित होता है । देश में प्रचलित वंशागति कानून, लघु इकाई परिवारों की बढ़ती प्रबल इच्छा तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के कृषि अतिरिक्त अन्य साधन उपलब्ध नहीं होने के कारण कृषकों के पास उपलब्ध भूमि का निरन्तर अपखडन होता जा रहा है । जिससे जोत छोटी ही नहीं होती जा रही है बल्कि जोत के खण्ड एक दूसरे से काफी दूर भी होते जाते है । इसके कारण कृषक अपने पास उपलब्ध उत्पादन-साधनों का पूर्ण एवं दक्षता से उपयोग नहीं कर पाते है । उदाहरणतः उपलब्ध सिंचाई सुविधा का एक खण्ड पर पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है जबकि दूसरे खण्ड पर सिंचाई साधन का पूर्ण अभाव होता है । सभी जोत खंडों पर पूर्ण दक्षता से देखभाल करना भी संभव नहीं हो पाता है । श्रमिक तथा बैल शक्ति का भूमि के एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक जाने मे काफी समय का ह्रास हो जाता है । इस प्रकार प्रति इकाई भूमि क्षेत्र से उत्पादन कम प्राप्त होता है । और प्रति इकाई भार पर उत्पादन लागत अधिक जाती है । इस प्रकार की: प्रथा की समाप्ति के.लिए भूमि सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत जोत चकबंदी प्रथा शुरू की गई ।

जोत चकबंदी के तात्पर्य

बिखरे हुए भूखण्डों को एकत्र करना चकबंदी कहलाता है । जोत चकबंदी में कृषकों के खेतों का एकीकरण एवं पुन.विभाजन करना होता है, जिससे जोत के खण्डों की संख्या कम हो जावे। जोत चकबंदी में विभिन्न कृषकों को उनके जोत के अनेक खण्डों के स्थान पर समान मात्रा मे कुल भूमि का क्षेत्रफल एक ही स्थान पर देने का प्रयास किया जाता है।

जोत चकबंदी से निम्न लाभ प्राप्त होते है

(I). जोत-चकबंदी, कृषकों की सिंचाई की समस्या सुलझाने में सहायक होती है। चकबंदी करने से कृषक खेत पर कुआं बनाकर पूरे फार्म पर सिंचाई की व्यवस्था कर सकते है।

(II). जोत चकबंदी से जोत का एक स्थान पर क्षेत्रफल में वृद्धि होवे तो उन्नत कृषि यंत्रों का उपयोग सुगम एवं लाभकर होता है।

(III). जोत चकबंदी करने से कृषक फार्म पर उत्तम फसल चक्र अपना सकते है।

(IV). जोत चकबंदी में छोटे छोटे खण्डों की मेडों को तोड़ने से फार्म पर भूमि के क्षेत्र में वृद्धि होती है।

(V). जोत चकबंदी करने से खेत पर चौकीदारी करने में आसानी रहती है।

(VI). जोत चकबंदी से श्रमिकों एवं बैलों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(VII). जोत चकबंदी से कार्य पर व्यावहारिक दक्षता में वृद्धि होती है।

जोत चकबंदी के लिए सर्वप्रथम प्रयास वर्ष 1905 में स्वेच्छा के आधार पर देश के मध्यवर्ती प्रदेशों में शुरू हुई। लेकिन जोत चकबंदी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी, क्योंकि इसका आधार स्वेच्छिक था। स्वतंत्रता के उपरान्त देश में स्वेच्छा से चकबंदी के स्थान पर अनिवार्य चकबंदी पद्धति अपनाई गई। फलस्वरूप देश के सभी राज्यों (तमिलनाडु एवं केरल के अतिरिक्त) में जोत चकबंदी के लिए 1947 से 1962 के काल में कानून पारित किए गए। इन कानूनों के पारित होने के पश्चात चकबंदी के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई।

जोत चकबंदी के क्षेत्र में हुई असन्तोषजनक प्रगति के प्रमुखकारणों में निम्न प्रमुख है

(I). कृषकों का पैतृक हम से लगाव होने से भूमि को दूसरे कृषकों से विनिमय करने की अनिच्छा होना।

(II). समान उर्वरता वाली भूमिका क्षेत्रफल उपलब्ध नहीं होना।,

(III). जोत चकबंदी के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव होना।

(IV). भूमि के स्वामित्व के सभी अभिलेख उपलब्ध नहीं होना एवं

(V). जमीदारों, कृषकों एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा चकबंदी का विरोध करना एवं उनके द्वारा झूठे दावे प्रस्तुत करके कार्य की गति में रूकावट प्रदान करना।

चकबंदी की प्रगति में विभिन्न राज्यों में बहुत असमानता है। पंजाब एवं हरियाणा राज्यों में चकबंदी का कार्य पूर्ण हो चुका है, जबकि अनेक राज्यों में प्रगति का स्तर बहुच कम है। देश में पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-80) तक 44326 मिलियन हैक्टर क्षेत्र (कुल भूमि का 25 प्रतिशत) एवं छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के अंत तक 51.8 मिलियन हैक्टर भूमि की चकबंदी की जा चुकी है जो कुल कृषित क्षेत्रफल का 33 प्रतिशत है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में अतिरिक्त 25 प्रतिशत भूमि

के क्षेत्र पर चकबंटी करने का लक्ष्य रखा गया है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि चकबंदी के क्षेत्र में हुई प्रगति आशानुकूल नहीं रही है। अनेक क्षेत्रों में चकबंदी करने के पश्चात् भूमिका पुन: अपखण्डन हो गया है। अत: चकबंदी करने के साथ-साथ भविष्य में जोतों के होने वाले अपखण्डों को रोकना भी आवश्यक है।

(5) **सहकारी कृषि का गठन (Organization of Cooperative Farming)**

भूमि सुधार कार्यक्रमों के अंतर्गत सहकारी कृषि का गठन भी प्रमुख है। इसके अंतर्गत लघु जोत कृषक सहकारी समिति बनाकर उपलब्ध उत्पादन साधनों को सम्मिलित रूप में उपयोग करके कृषि करते है। इसके होने से प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा पर उत्पादन-लागत कम आती है। कृषक ट्रैक्टर द्वारा भूमि की जुताई एवं सिंचाई के लिए सम्मिलित रूप से कुआँ बनाकर तथा आवश्यक मात्रा में बीज एवं खाद सम्मिलित रूप से क्रय करके उत्पादन लागत में कमी लाते हैं।

11.3.4 भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन से प्राप्त लाभ

भूमि सुधार कानूनों के विभिन्न पहलुओं के क्रियान्वयन से कृषक वर्ग एवं देश के कृषि विकास हेतु निम्न लाभ प्राप्त हुए है :-

(1) सामन्तवादी प्रथा की समाप्ति से देश में भू-धारण की जो शोषणयुक्त प्रणाली विद्यमान थी, वह समाप्त हो गई है। कृषकों को भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त हो गये है। भूमि के स्वामित्व अथवा कृषि करने संबंधी व्याप्त अनिश्चितता समाप्त हो गई है। कृषक भूमि पर स्थायी सुधार हेतु पूँजी का निवेश कर रहे है जिससे भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हुई है।

(2) भूमि सुधारों के परिणामस्वरूप कृषि उतादों की उत्पादन लागत में कमी हुई है। प्रति इकाई क्षेत्र से कृषक को अब पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन की मात्रा प्राप्त होती है तथा प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन मात्रा लगान के रूप में कृषक द्वारा सरकार को नहीं देना होता है। अतिरिक्त उत्पादन मात्रा से कृषक स्वयं ही लाभान्वित होता है।

(3) भूमि सुधारों के फलस्वरूप देश में कृषित क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। यह वृद्धि चरागाह क्षेत्र में कमी होने तथा परत भूमि एवं अकृष्य भूमि के क्षेत्र में कमी होने से हुई है। वर्ष1951 से 1961 के दशक में देश में परत भूमि के क्षेत्र में 8 प्रतिशत तथा 1961 से 1971 के दशक में 23 प्रतिशत कमी आई है। कृषक अब उपलब्ध पूर्ण क्षेत्र पर कृषि करते है जबकि पूर्व में भूमि की अधिकता के कारण वे काफी क्षेत्र परत रखते थे।

11.3.5 भूमि सुधार कार्यक्रमों की असंतोषजनक प्रगति के कारण

भूमि सुधार कार्यक्रम कृषकों के लिए लाभकर होते हुए भी विभिन्न क्षेत्रों में इनकी प्रगति संतोषजनक नही है । प्रारंभ में भूमि सुधार कार्यक्रम विशेष जोश के साथ देश में शुरू किये गये, लेकिन समय के साथ अनेक कारणवश इनके क्रियान्वयन के जोश में निरन्तर कमी होती गई । वर्तमान में भूमिसुधार कार्यक्रमों को मात्र औपचारिक के रूप में अनुपालना की जा रही है । इसके प्रमुख कारण निम्नांकित है :

(1) भूमि सुधार कार्यक्रमों के विभिन्न पहलुओं के लिए पारित कानूनों में अनेक कमियों (Loopholes) का होना, जिसके कारण प्रभावित जमींदार, जागीरदार एवं दीर्घ जोत कृषक न्यायालय में जाकर

उनके क्रियान्वयन पर स्थगन आदेश ले आते है । इससे क्रियान्वयन के क्षेत्र में स्थिरता आ जाती है और इसी अवधि में वे अन्य उपायों वे अपनाकर कानून के चंगुल से बच निकलते है ।

(2) भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू करने में सरकार की पूर्ण रूप से राजनैतिक अनिच्छा का होना ।

(3) कृषक एवं कृषि श्रमिक वर्ग का भूमि सुधार कानूनों के प्रति जागरूक नहीं होना तथा इनके क्रियान्वयन के लिए सरकार पर दबाव नहीं डालना ।

(4) राजकीय अधिकारियों का भूमि सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वयन करने के प्रति नरम रुख (Luck warm or apathetic attitude) का होना । अनेक अधिकारी सामन्त या बड़े जमींदार वर्ग से होते है अतः इनके क्रियान्वयन से वे स्वयं अथवा उनके रिश्तेदार अथवा वर्ग विशेष के प्रभावित होने के भय से दिलचस्पी नहीं लेते है ।

(5) भूमि के अधिकारों का सही अभिलेख उपलब्ध नहीं होना जिससे क्रियान्वयन में परेशानी आना । अनेक स्थानों पर अभिलेखों में भूमि एक व्यक्ति के नाम होती है लेक्लि वास्तव में वह भूमि उस व्यक्ति के पास नहीं होकर दूसरे व्यक्ति के पास होती है ।

(6) भूमि सुधार कानूनों के क्रियान्वयन में कानूनन अड़चनों का होना ।

(7) सरकार द्वारा भूमिसुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वयन में विकास के अन्य कार्यो के समान प्राथमिकता नहीं देना । भूमि सुधार कार्यक्रमों को पृथक रूप से एकल कार्यक्रम के रूप में लेना भी इसके क्रियान्वयन की गति को धीमी करते है ।

(8) विभिन्न भूमि सुधार कानूनों को सरकार द्वारा अलग-अलग समय पर बनाने से उनमें आपस में सामन्जस्य नहीं होना, कानून पारित करने एवं क्रियान्वयन में समयान्तर का होना, भूमिसुधार कानून विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा एक रूपता में पारित नहीं करना भी इनकी प्रगति में बाधक है।

बोध प्रश्न

1. कृषि भूमि सम्बन्ध से क्या अभिप्राय है? विभिन्न प्रकार के कृषि भूमिसम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
2. भूमिसुधार से क्या तात्पर्य है । भूमिसुधार कार्यक्रमों के उद्देश्य लिखिए।
3. भूमि सुधार के विभिन्न कार्यक्रमों की विवेचना कीजिए ।
4. भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से कृषि भूमि सम्बन्धों में हुए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

11.4 सारांश

भूमि कृषि उत्पादन का प्रमुख साधन है । मनुष्य एक् भूमि में प्रबल सम्बन्ध विद्यमान है। कृषि भूमि सम्बन्ध, भू-स्वामी एवं काश्तकारों के आपसी सम्बन्धों का प्रतीक होते है ।

कृषि भूमि सम्बन्ध पूर्ण सामन्तवादी, पूर्ण पूँजीवादी अर्द्धसामन्तवादी होते है । भूमि पर कृषित करने एवं स्वामित्व अधिकार के अनुसार कृषकों को दो श्रेणी में विभक्त किया जाता है भू-स्वामी कृषक एवं आसामी कृषक ।

कृषि भूमि सम्बन्धों में निरन्तर परिवर्तन हुए है जिसके कारण देश में लधु एवं सीमान्त कृषकों की संख्या एवं उनके पास उपलब्ध भूमि के क्षेत्र में वृद्धि, भूमिहीन परिवारों की प्रतिशतता में कमी, जोत के औसत आंकार में कमी, उगसमी कृषकों की संख्या एवं उनके द्वारा कृषित क्षेत्र में कमी एवं मध्यस्थों की समाप्ति प्रमुख है ।

भूमि सुधार कार्यक्रमों के प्रमुख अवयव मध्यस्थों की समाप्ति, भू-धारण पद्धति में सुधार, जोत की उच्चतम सीमा नियत करना, कृषि भूमि का पुर्नगठन, एवं सहकारी कृषि का अपनाना है ।

11.5 शब्दावली

काश्तकारी प्रथा-लगान पर भूमि लेने या देने की प्रथा को काश्तकारी प्रथा कहते है ।

कृषि भूमि सम्बन्ध सुधार (Agrarian Reforms)-कृषि भूमि सम्बन्ध सुधार में भूमि सूधार, काश्तकारी सुधार, कृषकों को कृषि निविष्टों एवं कृषि ऋण की पूर्ति करने, कृषि के लिए तकनीकी सलाह प्रदान करना एवं वह सभी बातें सम्मिलित होती है । जिसका कृषि विकास से सीधा सम्बन्ध होता है। अतः यह शब्द बहुत ही विस्तृत शब्द है ।

भू- भूमि (Land Tenure)-भू-घृति से तात्पर्य भूमि को पट्टे पर देने की शर्तो एवं अन्य परिस्थितियों के ज्ञान से है । भू-घृतियो में कृषि करने हेतु ली गई भूमि के अधिकार, स्वामित्व, राजस्व भुगतान आदि ज्ञान सम्मिलित होता है ।

भू- धारक प्रणाली (Tenancy System) भूमि का स्वामित्व तथा भूमि के प्रति एवं दायित्व निर्धारित होते है । भू-धारण प्रणाली से इस बात की जानकारी प्राप्त होती हं कि भूमिका स्वामी कौन है और कृषक का भू-स्वामी से क्या सम्बन्ध होता है ।

जोत की उच्चतम सीमा (Ceiling on holding)-जोत की उच्चतम सीमा से तात्पर्य किसी अधिनियम द्वारा एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि के धारण अथवा स्वामित्व पर रोक लगाना है। जोत चकबंदी (Consolidation of holding)-भूमि विखंडन की समस्या जोतों की चकबंदी से हल की जा सकती है । इसके अन्तर्गत किसान की बिखरी हुई जोतों को एक स्थान या चक में इकट्ठा करने का प्रबंध किया जाना है एवं किसानों को एक खान पर उनके बिखरे हुए टुकड़ों के कुल मूल्य के बराबर की इकट्ठी भूमि दी जाती है ।

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

1. अग्रवाल, एन.एल., भारतीय कृषि अर्थतन्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्लाट नं.1,
2. Dantwala,M.L.,Indian Agricultural Development Since Independence ,a Collection of Essays,Oxford and IBH Publishing House,New Delhi,1985 pp.65-86.
3. Conference papers on change in Agrarian Structure and Agrarian Relations in States of India Since Independence,Indian Journal of AgriculturalEconomics,Vol.XXXVI,No.4,October-December 1981,pp.134-196.
4. Rapporteurs Report on Changes in Agrarian Structure and Agrarian Relations in States of India Since independence; Indian Journal of Agricultural Economics,Vol.XXXVII,No.1,January-March 1982,pp..29-33
5. Report No.15 of National Commission on Agriculture Ministry of Agriculture,Government of India,New Delhi 1976.

6. YOJANA-Fortnighty magazine,Govt.of India,New Delhi.

परिशिष्ट

इकाई-11

कृषि भूमि संबंध व भूमि सुधार

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में भूमि सुधार कार्यक्रम इस प्रकार थे ।

1. जिन राज्यों ने काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा व लगान नियमन के कानून नहीं बनाए थे, उन्हें सातवीं योजना में इन कानूनों को बनाने के लिए कहा गया । अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के भूमि अधिकारों की रक्षा करने पर बल दिया गया ताकि उनसे भूमि छीनी न जा सके ।
2. सीलिंग में घोषित भूमि व वितरित भूमि का अन्तर कम करने पर जोर दिया गया ।
3. सीलिंग से ऊपर की अतिरिक्त भूमि जिन लोगों को मिली है, उन्हें वित्तीय सहायता देने पर जोर दिया गया । उनके लिए एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम व अन्य ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का भूमि सुधार से तालमेल बिठाया गया ।
4. देश के पूर्वी भाग में चावल का उत्पादन बढ़ाने के लिए चकबंदी का काम पूरा करने पर जोर दिया गया।
5. सभी राज्यों में भूमि-रिकार्डो को नवीनतम बनाने पर पूरा ध्यान देने की आवश्यकता स्वीकार की गई। बिना मापी गई भूमिका वैज्ञानिक सर्वेक्षण कराने तथा काश्तकारों व बटाईदारों के अधिकारों के रिकार्ड बनाने पर ध्यान आकर्षित किया गया। इस कार्य में राज्य सरकारों को मदद देने, रेवेन्यू मशीनरी को सुदृढ़ करने तथा कर्मारियों को प्रशिक्षण देने और उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने पर बल दिया गया।
6. सीलिंग से ऊपर की भूमि प्राप्त करने वाले लोगों को वित्तीय सहायता देने पर जोर दिया गया ताकि वे उत्पादन बढ़ाने में सफल हो सकें ।

आठवी पंचवर्षीय योजना (1992-97) में भूमि सुधार

आठवीं योजना में इस बात पर बल दिया गया कि वास्तविक कृषक अपने अधिकारो के प्रति जागरूक ही और भूमिसुधारों से आवश्यक लाभ प्राप्त कर सकें । इस योजना में भूमि सुधार के निम्न उद्देश्य रखे गये :

(I). ग्रामीण सम्बन्धों को पुर्नगठित करके समताकारी समाज की रचना करना ।

(II). भूमिसम्बन्धों में शोषण समाप्त करना ।

(III). "भूमि उसको जोतने वाले की" का लक्ष्य प्राप्त करना ।

(IV). ग्रामीण गरीब वर्ग के भूमि आधार को व्यापक करके उसकी आथिक सामाजिक दशा को सुधारना।

(V). कृषिगत उत्पादन व उत्पादकता में वृद्धि करना ।

(VI). स्थानीय संस्थाओं में समानता का अधिक मात्रा में समावेश करना ।

यह आशा की गई कि काश्तकारों व बटाईदारों के संगठन से छिपी हुई काश्तकारियों को पहचानने में मदद मिलेगी । सीलिंग से ऊपर 'सरप्लस भूमि' का पता लगाया जाना चाहिए ।

कॉमन सम्पत्ति के साधनों पर पंचायतों का अधिकार स्थापित करने का प्रयास करना होगा ताकि उन पर व्यक्ति अपना अधिकार जमाने की कोशिश न करे । गरीबों को उनसे अपनी आमदनी बढ़ाने का अवसर मिलना चाहिए ।

राज्यों को भूमि सुधारों में प्राप्त सफलता के सूचकांक के आधार पर केन्द्रीय सहायता के वितरण करने पर जोर दिया गया ।

आशा को गई कि आठवीं योजना में व आगामी वर्षों में काश्तकारी सुधारों, सीलिंग कानूनों को लागू करने, चकबन्दी, भूमि रिकार्ड ठीक करने व गाँव के गरीबों के लिए कॉमन प्रोपर्टी के लाभ सुरक्षित करने पर जोर देने से भूमि सुधार कार्यक्रम का महत्व बढ़ेगा ।

इकाई 12
कृषि निविष्ट / कृषि आगत
(Agriculture Inputs)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 कृषि निविष्ट (आगत)
12.2.1 कृषि निविष्टों की महत्ता
12.2.2 उन्नत बीज
12.2.3 उर्वरक
12.2.4 सिंचाई सुविधा
12.2.5 पौध संरक्षण उपाय
12.2.6 विद्युतिकरण एवं डीजल तेल
12.2.7 उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनों का उपयोग
12.2.8 कृषि ऋण
12.3 सारांश
12.4 शब्दावली
12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं मान्य सामग्री

12.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास विषय के इस तृतीय खण्ड में कृषि से सम्बन्धित कुछ आधारभूत संकल्पनाओं जैसे कृषि भूमि सम्बन्ध, भूमि सुधार कार्यक्रम, कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आवश्यक कृषि निविष्टों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है । कृषि निविष्टों के अध्ययन के पश्चात आप निम्न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे -

* कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आवश्यक कृषि निविष्ट कौन-कौन से है और प्रत्येक का कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने में क्या योगदान है?
* देश में कृषि निविष्टों के उत्पादन, माँग एवं पूर्ति की क्या स्थिति है?

12.1 प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के समय देश खाद्यान्न उत्पादन में प्राय: आत्मनिर्भरता के स्तर पर था । तत्पश्चात् देश की बढ़ती हुई जनसंख्या एवं असामयिक वर्षा, बाढ़ एवं सूखा की स्थिति ने देश में खाद्यान्नों की कमी की स्थिति उत्पन्न कर दी । फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि हेतु अनेक उपाय अपनाए गए । स्वतन्त्रता के पश्चात की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु कृषि क्षेत्र का विस्तार किया गया । देश में कृषि क्षेत्र की सीमितता के कारण खाद्यान उत्पादन में वृद्धि का यह

उपाय अर्थात् क्षेत्रफल में विस्तार करना कालान्तर में अपनाया जाना नहीं है । अतः कृषि वैज्ञानिकों ने सघन कृषि उपाय अपनाने के सुझाव प्रेषित किए । विधि में सीमित भूमि के क्षेत्र द्वारा उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए आवश्यक कृषि निविष्टों का सन्तुलित स्तर तक उपयोग किया जाना सम्मिलित है । कृषि निविष्टों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति केलिए इनके उत्पादन में वृद्धि करना एवं सन्तुलित मात्रा में सही विधि द्वारा उपयोग करना होता है । अतः कृषि निविष्टों के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता महसूस की गई ।

12.2 कृषि निविष्ट / कृषि आगत)Agricultural Inputs)

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए निम्न दो प्रमुख विधियाँ है-

(1) विस्तृत कृषि या कृषिगत क्षेत्र में विस्तार करके (Extensive Cultivation)

इस विधि में भूमि के अधिक क्षेत्र में कृषि करके अर्थात् फसलों के अंतर्गत कृषित क्षेत्रफल में वृद्धि करके अधिक कृषि उत्पादन प्राप्त किया जाता है । देश में स्वतंत्रता के की प्रथम दो पंचवर्षीय योजना काल में उत्पादन वृद्धि की यह विधि सर्वाधिक प्रयोगित की गई थी । इस विधि में उत्पादन के अन्य साधन जैसे पूँजी, श्रम, उर्वरक, आदि कम मात्रा में किये जाते है । देश में भूमिका क्षेत्र सीमित होने के करण वर्तमान में यह विधि काम लेना संभव नहीं ।

(2) **सघन कृषि या भूमि की उत्पादकता मे वृद्धि करके (Intensive Cultivation)**

इस विधि में उत्पादन निविष्टों को प्रति हैक्टर भूमि के क्षेत्र पर अधिकाधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है जिससे भूमि के प्रति हैक्टर क्षेत्र से अधिक कृषि उत्पादन की मांग प्राप्त की जाती है। तृतीय पंचवर्षीय योजना एवं उसके उपरान्त के वर्षों में कृषि उत्पादन में लाने के लिए इस विधि को अधिक महत्व दिया गया है । अतः इस काल में नये कृषि निविष्टों का आविष्कार, उनके उपयोग की मात्रा में वृद्धि एवं उपयोग की विधि में भी सुधार हुआ है । देश में बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक मात्रा में खाद्यान्न उत्पादन करने के लिए सघन कृषि विधि ही सर्वोत्तम है । सघन कृषि इस विधि की सफलता के लिए कृषि निविष्टों का आविष्कार एवं उनके उत्पादन में वृद्धि तथा उनके उपयोग की सही विधि एवं मात्रा की जानकारी करना आवश्यक है ।

इस खण्ड में विभिन्न कृषि निविष्टों के सम्बन्ध में जानकारी दी जा रही है । कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रमुख कृषि निविष्ट निमांकित है :

1. उन्नत बीज
2. उर्वरक
3. सिंचाई सुविधा
4. पौध संरक्षण उपाय
5. विद्युतिकरण एवं डीजल तेल
6. उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनों का उपयोग, एवं
7. कृषि ऋण

12.2.1 कृषि निविष्टों की महत्ता : विभिन्न कृषि निविष्टों को वैयक्तिक आधार पर उपयोग करके फार्म से उत्पादन में वृद्धि एवं अनुकूलतम लाभ का स्तर प्राप्त करना संभव नहीं है । उत्पादन में वृद्धि के लिए विभिन्न कृषि निविष्टों का संतुलित मात्रा में सम्मिलित रूप या पैकेज रूप में उपयोग करना आवश्यक है। किसी एक निविष्ट के अधिक मात्रा में उपयोग करने तथा अन्य निविष्टों की कमी

की अवस्था में, भूमि के एक इकाई क्षेत्र में फसल का अधिकतम उत्पादन या लाभ की राशि प्राप्त नहीं हो सकती है । उदाहरण के लिए उन्नत बीजों से अधिक मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने के लिए आवश्यक मात्रा में सिंचाई, उर्वरक एवं पौध संरक्षण उपाय भी अपनाना आवश्यक है । अनुसन्धानों के परिणामों से स्पष्ट है कि कृषि निविष्ट पैकेज के रूप में प्रयोग करने से ही अनुकूलतम लाभ प्रदान करते है तथा एक निविष्ट के अधिक मात्रा में प्रयोग करने एवं अन्य निविष्टों की कमी की अवस्था में अतिरिक्त लाभ प्राप्त होने के स्थान पर हानि भी हो सकती है । फार्म पर उर्वरकों के उपयोग से लाभ प्राप्त करना तभी संभव है जब फार्म पर सिंचाई के जल की उचित व्यवस्था है । सिंचाई के जल के अभाव में फार्म पर उर्वरकों एवं उन्नत बीजों का उपयोग लाभकर नहीं होता है ।

12.2.2 उन्नत बीज : सघन कृषि विधि द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रथम आवश्यक कृषि निविष्ट उन्नत बीजों का प्रयोग करना है । उन्नत बीज कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए वर्तमान में प्रमुख स्थान रखते है । पूर्व में कृषक अपने फार्म या पड़ौसी कृषक के फार्म पर उत्पादित किये हुए बीज ही प्रयोग करते थे, जिससे फार्म पर उत्पादन का स्तर कम प्राप्त होता था । खाद्यानों की बढ़ती हुई आवश्यकता तथा वर्ष 1965-66 व 1966-67 के सूखे ने देश में कृषि क्षेत्र में क्रान्ति लाने के लिए वैज्ञानिको को प्रोत्साहित किया । फलस्वरूप अधिक उत्पादन देने वाले संकर एवं बौनी किस्मों तथा अल्पावधि में पकने वाली किस्मों का आविष्कार हुआ । इन उन्नत बीजों के उपयोग से खाद्यान्न एवं अन्य फसलों का प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादन देशी किस्म के बीजों की अपेक्षा कई गुणा अधिक प्राप्त होता है । उन्नत किस्म के बीज, आवश्यक मात्रा में उत्पादन देने के लिए उर्वरक, कीटनाशी दवाईयाँ एवं सिंचाई का पानी भी अधिक मात्रा में चाहते है । साथ ही उन्नत किस्म के बीज पकने में समय भी कम लेते है जिससे उसी भूमि के क्षेत्र से वर्ष में 3 से 4 फसलों का लेना संभव हो गया है । इस प्रकार उन्नत बीज उत्पादन में वृद्धि करने के साथ-साथ फसलों की गहनता में वृद्धि करने में भी सक्षम होते है । अधिक उत्पादन देने वाले बीजों का अविष्कार एवं प्रयोग, कृषि विकास की नवीन व्यूहरचना का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है । इनके कारण की देश में खाद्यानों के उत्पादन में असाधारण गति से हुई वृद्धि को कृषि वैज्ञानिकों ने "हरित क्रान्ति" का नाम दिया है ।

उन्नत बीजों के प्रसार के लिए आवश्यक है कि-

1. उन्नत बीजों का उचित मात्रा में उत्पादन करने की पर्याप्त व्यवस्था होवे ।
2. उत्पादित उन्नत बीजों के प्रमाणीकरण की समुचित व्यवस्था होवे ।
3. उत्पादित उन्नत बीजों के समय पर उपलब्धि के लिए पर्याप्त एवं उचित भण्डार व्यवस्था होवें, एवं
4. उत्पादित उन्नत बीजों के उचित कीमत एवं सभी स्थानों पर उपलब्धि के लिए सही विपणन व्यवस्था होवे ।

उन्नत बीजों का उत्पादन (Production of Genetic Quality Seeds)

अधिक उपज देने वाली किस्मों के द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए प्रथम आवश्यकता उत्कृष्ट जननिक गुणों वाले बीजों का निरन्तर उत्पादन करना है । देश के कृषि वैज्ञानिक इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु निरन्तर अनुसंधान में लगे हुए है । बीज सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि वैज्ञानिकों द्वारा किये जा रहे अनुसंधानों के मुख्य उद्देश्य निमांकित होते है:

1. विभिन्न फसलों की उत्पादकता में वृद्धि के लिए उन्नत बीजों का निरन्तर आविष्कार करना ।

2. विभिन्न बीमारियों के प्रभाव से मुक्त किरमों के बीजों का आविष्कार करना ।
3. उन्नत बीजों की किस्मों में प्रोटीन एवं खनिजों की मात्रा में वृद्धि करना ।
4. अल्पकाल में पकने वाली किस्मों के बीजों का आविष्कार करना भूमि पर वर्ष में अधिक से अधिक फसलें उत्पादित की जा सके एवं प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से अधिक खाद्यानों की मात्रा उत्पादित की जा सके ।
5. देश में भूमि एवं जलवायु की भिन्नता के अनुसार सिंचित एवं असिंचित क्षेत्रों के लिए अलग अलग किस्मों के बीजों का आविष्कार करना ।

उन्नत बीजो के उत्पादन प्रक्रम के तीन मुख्य चरण होते है

(1) प्रथम चरण-प्रजनक बीज उत्पादन करना (Production of Nucleus or Breeder Seeds)

प्रथम चरण में प्रयोगशालाओं तथा प्रयोग केन्द्रों पर पर्याप्त मात्रा में प्रजनक़ बीज उत्पादन करना है। देश में यह कार्य भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, कृषि विद्यालयों तथा राष्ट्रीय बीज निगम की देखरेख में होता है । इन बीजों के उत्पादन में पौध प्रजनन कार्य सही स्तर पर तथा उत्पादित बीजों में तकनीकी दृष्टि से बारीकियों के लिए परीक्षण किये गये है ।

(2) द्वितीय चरण-संस्थापन बीज उत्पादन करना (Production of Foundation Seed)

बीज उत्पादन के द्वितीय चरण में उत्पादित प्रजनक बीज को संस्थापन बीज उत्पादकों को उनके अधिक मात्रा में उत्पादन करने के लिए दिया जाता है । यह विभिन्न राज्यों, बीज सहकारी समितियों तथा निजी बीज उत्पादकों के बीज वर्धन फार्मो पर राष्ट्रीय बीज निगम की तकनीकी देखरेख में तैयार किया जाता है। राष्ट्रीय बीज निगम एवं तराई विकास निगम बड़े पैमाने पर बीजों का उत्पादन एवं विपणन का कार्य कर रहे हैं । केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित आठ बड़े फार्मो पर- सूरतगढ़ एवं जेसलेमर (राजस्थान), जालन्धर (पंजाब), हिसार (हरियाणा), रायपुर (कर्नाटक), झासुगुडा (उड़ीसा), कन्नानोर (केरल) तथा मिजोहिल्स (आसाम) में भी बड़ी मात्रा में संस्थापन बीजों का उत्पादन किया जाता है । संस्थापन बीजों का काफी मात्रा में उत्पादन करके उनके अन्तिम वर्धन हेतु, बीज उत्पादकों को बीज वितरित किया जाता है ।

(3) तृतीय चरण-प्रमाणित बीजों का उत्पादन करना (Production of Certified Seeds)

बीज उत्पादन के तृतीय चरण में उत्पादित संस्थापन बीज कृषकों को अधिक बीज उत्पादन करने के लिए दिये जाते है, जिससे कृषक फार्म पर इन बीजों के उपयोग से फसलों की उत्पादकता में वृद्धि करके उत्पादन की मात्रा में वृद्धि कर सके । उत्पादित प्रमाणित बीज शुद्धता तथा अंकुरण प्रतिशतता एवं अन्य मानक गुणों के अनुसार प्रमाणित किये हुए होते है । प्रमाणित बीजों की बुवाई करके कृषक अपने फार्म से अधिकतम उत्पादन की मात्रा प्राप्त करते है । प्रमाणित बीज प्रगतिशील कृषकों द्वारा अपने फार्म पर समझौते के अनुसार उत्पन्न किये जाते है । राज्य सरकार तथा राष्ट्रीय बीज निगम, संस्थापन बीजों को उन प्रगतिशील कृषकों को प्रमाणित बीज उत्पन्न करने के लिए देते है जिनके पास बीज उत्पादन के लिए आवश्यक पर्याप्त सुविधा होती है तथा उन्हें बीज उत्पादन का अनुभव होता है । राष्ट्रीय बीज निगम तथा राज्य सरकार प्रमाणित बीज पुन: उनकी किस्म अर्थात् शुद्धता एवं अंकुरण क्षमता की जाँच करके क्रय करते हैं और अगले वर्ष फसल की बुवाई के पूर्व कृषकों को विक्रय करते है ।

बीज प्रमाणीकरण एवं किस्म नियन्त्रण (Seed Certification and Quality Control)

बीजों की विशुद्धता बनाये रखने के लिए उत्पादित उन्नत बीजों का प्रमाणीकरण करना आवश्यक है । इस कार्य के लिए उत्पादित बीजों की विभिन्न प्रकार की जाँच की जाती है और निर्धारित स्तर से कम शुद्धता एवं अंकुरण क्षमता वाले बीजों को अलग कर दिया जाता है । अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज एवं साधारण किस्म के बीज में देखने में अन्तर प्रतीत नहीं होता । अतः धोखे की काफी संभावना होती है । व्यापारी एवं अन्य व्यवसायी लाभ कमाने की प्रवृति के कारण निम्नस्तरीय, अप्रमाणित तथा असंसाधित बीज, उन्नत एवं प्रमाणित किस्म के बीजों के नाम से विक्रय करते है जिससे कृषकों को आशातित मात्रा में उत्पादन प्राप्त नहीं होता है और उनमें उन्नत बीजों के प्रति अविश्वास की भावना जागृत होती है । धोखेधड़ी की इस प्रवृत्ति से कृषकों को ही नुकसान नहीं होता है बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी बहुत नुकसान होता है । अतः बीज उत्पादन के पश्चात् उनके नियंत्रण, निरीक्षण एवं प्रमाणीकरण की उचित व्यवस्था का होना आवश्यक है । उदाहरण के लिए यदि कृषक को प्राप्त उनन बीजों में शुद्धता 70 प्रतिशत एवं अंकुरण क्षमता भी 70 प्रतिशत होवे तो कृषकों को प्राप्त बीज मात्र 49 प्रतिशत (70×70) उपयोगिता वाला ही प्राप्त होता है । अतः इन बीजों के उपयोग से उत्पादन लक्ष्य से आधी मात्रा ही प्राप्त होगी । उन्नत बीज उचित शुद्धता एवं अंकुरण क्षमता के साथ-साथ खरपतवार के बीजों के अपमिश्रण से रहित भी होने चाहिए ।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने बीज कानून, 1968 (Seeds Act, 1968) पारित किया है, जिसके अनुसार अनेक राज्यों में बीज प्रमाणीकरण एजेन्सियां तथा बीज परीक्षण प्रयोगशालायें स्थापित की गई है। अनेक राज्यों में राष्ट्रीय बीज निगम को प्रमाणीकरण तथा संवर्धन एजेन्सी के रूप में अधिसूचित किया गया है । इस कानून के तहत अप्रमाणित बीजों की बिक्री तत्काल प्रभाव से बंद करने की व्यवस्था भी की गई है । बीज कानून की तीन प्रमुख आवश्यकताएं निम्न हैं :

1. उचित प्रमाणीकरण संस्था का स्थापना करना ।
2. बीज परीक्षण प्रयोगशालाएं स्थापित करना, एवं
3. बीज कानून की धाराओं को सही प्रकार से कार्यन्वित करने के लिए कर्मचारियों को आवश्यक प्रशिक्षण प्रटान करना ।

बीज संसाधन, संवेष्टन एवं संग्रहण (Seed Processing,packing and Storage)

बीज उत्पादन एवं प्रमाणीकरण के पश्चात् उनका संसाधन, संवेष्टन एवं संग्रहण करना होता हैं क्योंकि उत्पादित बीज अगले मौसम में विभिन्न स्थानों के कृषकों द्वारा क्रय किया जाता है और फार्म बुवाई करने के लिए प्रयोग किया जाता है ।

बीज संसाधन उन्नत बीज उत्पादन का ही एक भाग है जिसमें उत्पादित बीजों का निष्कर्षण (Extraction), सुखाना (drying), शुद्धिकरण (purifying) एवं उपचार (Treatment) कार्य सम्मिलित होता है । तत्पश्चात बीज का उचित संवेष्टन किया जाता है । उचित संवेष्टन के द्वारा बीजों को विभिन्न स्थानों पर आसानी से ले जाया जा सकता है तथा इससे उनमें अपमिश्रण की संभावना नहीं रहती है । बीजों के अपमिश्रण होने से कृषकों में उन्नत बीजों के प्रति अविश्वास उत्पन्न होता है जिससे उन्नत बीज कार्यक्रम के विकास में अवरोध उत्पन्न होता हैं । तत्पश्चात् बीज संग्रहण की उचित व्यवस्था भी की जाती है । उत्पादित बीज उसी मौसम में उपयोग में नही आकर अगले वर्ष या एक से दो वर्ष पश्चात् उपयोग में भी लिये जाते है । अतः आवश्यक है कि संग्रहण काल मे बीजों की किस्म एवं अंकुरण क्षमता में समय के साथ-साथ कमी नहीं आवे । इसके लिए उन्हें आवश्यक तापक्रम

एवं उचित संग्रहण स्थान पर रखा जाता है ।उत्पादित उन्नत बजों में कृषकों के द्वारा उपयोग करते समय उनमें सही गुण विद्यमान होना भी बीज विकास कार्यक्रम की सफलता का एक आवश्यक पहलू है ।

बीज वितरण एवं विपणन व्यवस्था (Seed Distribution and Marketing)

कृषको को आवश्यक मात्रा में सही समय, स्थान एवं कीमत पर उन्नत बीजों की उपलब्धि के लिए उनके वितरण एवं विपणन की समुचित व्यवस्था का होना भी आवश्यक है । इसके लिए राज्य के सभी स्थानों पर विपणन की सही एवं विश्वसनीय व्यवस्था का होना आवश्यक हैं जिससे कृषक बीजों की आवश्यकता होने पर आवश्यक मात्रा में क्रय करके फार्म पर उपयोग करके लाभ प्राप्त कर सके। वर्तमान में उन्नत बीजों का वितरण राष्ट्रीय बीज निगम,राज्य बीज निगम, कृषि विभाग, कृषक सहकारी समितियाँ एवं अनुज्ञापत्र विक्रेताओं द्वारा किया जाता । इन संस्थाओं की शाखाएं छोटे-छोटे गांवों में भी होना आवश्यक है जिससे कृषकों को बीज खरीदने के लिए अधिक दूरी पर नही जाना पड़े एवं समय खराब नहीं होवे ।

निम्न सारणी उन्नत /प्रमाणिक बीजों के वितरण की मात्रा प्रदर्शित करती है ।

सारणी 12.1 भारत मे प्रमाणित बीजों का वितरण

(मात्रा लाख क्विंटल में)

फसलें	1980-81	1985-86	1989-90 (लक्ष्य)
1.अनाज 19.88	31.37	55.40	
2.दलहन 1.06	2.32	13.79	
3.तिलहन	2.28	5.68	12.11
क्.कपास	-	2.08	1.83
5.जूट	-	0.27	0.20
6.आलू	1.69	13.22	22.00
7.अन्य	-	0.07	-
कुल योग	25.01	55.07	107.33

सारणी सें स्पष्ट है कि उन्नत बीजों के वितरण की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हई है । यह मात्रा वर्ष 1980-81 में 25.01 लाख क्विंटल थी जो बढ़कर वर्ष 1985-86 में 55.07 लाख क्विंटल हो गई तथा वर्ष 1989-90 में 107.33 लाख क्विंटल बीज वितरण करने का लक्ष्य है ।

सारणी 12.2 भारत में उन्नत किस्मों के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल प्रदर्शित करती है ।

सारणी 12.2 भारत मे खाद्यान्नों के उन्नत बीजों के अंन्तर्गत क्षेत्रफल

(मिलियन हैक्टर में)

खाद्यान्न	1966-67	1970-71	1975-76	1980-81	1985-86	1988-89	1995-96
धान	0.89	5.59	12.443	18.49	23.40	27.00	312
गेहूँ	0.54	6.48	13.458	17.387	19.02	21.00	232

मक्का	0.21	0.46	1.132	1.389	1.79	2.00	3.5
ज्वार	019	0.80	1.958	4.182	6.08	6.50	9.0
बाजरा	0.06	2.05	2.897	3.796	4.98	6.00	6.9
उन्नतकिस्मों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल	1.89	15.38	31.889	45.249	55.27	62.50	75.00

खाद्यानों के उन्नत बीजों के अन्तर्गत वर्ष 1966-67 से क्षेत्रफल में निरन्तर वृद्धि हुई है । वर्ष 1966-67 में खाद्यानों की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल मात्र 1.89 मिलियन हैक्टर था, जो बढ़कर 1975-76 में 31.89 मिलियन हैक्टर 1985-86 में 55.27 मिलियन हैक्टर तथा 1988-89 में 62.50 मिलियन हैक्टर हो गया । सातवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष 1995-96 तक इनके अन्तर्गत 75 मिलियन हैक्टर क्षेत्रफल होने का आकलन है । कुल कृषित क्षेत्र का खाद्यान्नों की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल वर्ष 1966-67 में मात्र 1.20 प्रतिशत ही था, जो बढ़कर वर्ष 1970-71 में 9.28 प्रतिशत, 1980-81 में 26.16 प्रतिशत एवं वर्तमान में 35 प्रतिशत के लगभग है । विभिन्न खाद्यान्नों में चावल एवं गेहूं की उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल कुल उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल का लगभग तीन चौथाई है। उन्नत किस्मों के बीजों के उपयोग से देशी किस्म के बीजों की अपेक्षा कई गुना अधिक (गेहूँ में 2 से 2.5 गुना एवं चावल में 3 से 4 गुना) उत्पादन प्राप्त होता है ।

सारणी 12.3 भारत के विभिन्न राज्यों में उन्नत किस्मों के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल तथा राज्य के समग्र कृषित क्षेत्र में उनके अन्तर्गत प्रतिशत क्षेत्रफल प्रदर्शित करती है ।

सारणी 12.3 देश के विभिन्न राज्यों में उन्नत किस्म के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल में का प्रतिशत

राज्य	उन्नत किस्म के बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल (मिलियन हैक्टर में)		वार्षिक वृद्धि दर प्रतिशत	राज्य के समग्र कृषित क्षेत्र उन्नत किस्मों के अन्तर्गत क्षेत्रफल	
	1970- 73	1980-83		1970- 73	1980-83
1.आन्ध्र प्रदेश	1.03	3.8	27.38	8.06	30.31
2.बिहार	1.78	3.62	10.34	16.63	35.57
3.गुजरात	1.02	2.17	11.27	9.79	20.47
4.हरियाणा	1.05	2.36	12.48	20.75	42.67
5.कर्नाटक	0.60	1.84	20.68	5.58	16.71
6.केरल	0.27	0.35	2.96	9.12	12.15
7.मध्य प्रदेश	0.82	3.39	21.34	3.95	15.56
8.महाराष्ट्र	1.36	4.55	23.45	7.58	12.57
9.उड़ीसा	0.31	1.52	39.03	4.52	17.67
10.पंजाब	2.03	4.23	10.84	35.12	61.57
11.राजस्थान	0.79	2.23	18.23	4.78	12.31

12.तमिलनाडु	2.48	2.83	1.41	32.32	43.74
13.उत्तर प्रदेश	3.38	8.96	16.51	12.66	36.30
12.पश्चिम बंगाल	1.01	2.13	11.09	12.06	29.02

स्रोतः Agricultural Situation in India vol. XLIV, no. 2, May 1989.

विभिन्न राज्यों में उन्नत किस्म के बीजों के अन्तर्गत हुए क्षेत्रफल वृद्धि ने बहुत असमानता है । पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश एवं बिहार राज्य में कुल कृषित क्षेत्रफल के एक तिहाई भाग से अधिक क्षेदफल में उन्नत किस्मों की कृषि की जाती है ।

उन्नत बीजों के उद्योग का विकास एवं राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना

उन्नत बीजों का महत्व देश की कृषि में योजना काल से पूर्व ही महसूस किया जा चुका था, लेकिन इनके विकास की दिशा में सही प्रयास द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल से प्रारम्भ हुआ है । वर्ष 1957 में रोक फेलर संस्थान के सहयोग से भारत सरकार ने समन्वित मक्का सुधार कार्यक्रम प्रारम्भ करके इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया । खाद्य एवं कृषि संगठन ने वर्ष 1961 में विश्व बीज वर्ष मनाकर इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया । भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बीज परीक्षण संघ का सदस्य बनाया गया तथा इसका एक केन्द्र भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था, नई दिल्ली के केन्द्रीय बीज परीक्षण प्रयोगशाला में रखा गया। अनेक फसलों के लिए (ज्वार, बाजरा,गेहूँ एवं चावल) समन्वित फसल सुधार कार्यक्रम प्रारंभ किया गया । इन सबके फलस्वरूप वर्ष 1961 में संकर मक्का, 19 64 में संकर ज्वार, 1955 में संकर बाजरा एवं 1966, में बौनी किस्म के गेहूँ की किस्में विकसित हुई तत्पश्चात इनकी प्रगति में आशातीत प्रगति हुई एवं वर्तमान में फसलों की अनेक उन्नत किस्में उपलब्ध है ।

संकर एवं अधिक उत्पादन देने वाली उपजाऊ किस्मों के बीजों के बहु गुणन के लिये तथा उन्नत बीज उद्योग के विकास के लिए देश में एक नये संगठन की आवश्यक़ता प्रतीत हुई। फलस्वरूप वर्ष 1963 में भारत सरकार ने उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की । इस निगम के प्रमुख उद्देश्य/कार्य निम्नांकित है-

1. देश में बीज उत्पादन उद्योग को सुदृढ़ स्थिति में स्थापित करना ।
2. अनुसन्धान द्वारा तैयार किये गये अधिक उत्पादन देने वाले संस्थापन बीजों का उत्पादन करना।
3. बीज संसाधन उद्योग स्थापित करना ।
4. बीजों के विस्तार हेतु विस्तार एवं शिक्षा सेवायें उपलब्ध कराना ती बीज तकनीकी में परीक्षण देना ।
5. राज्यों में बीज प्रमाणीकरण सेवा उपलब्ध कराना ।
6. गुणा नियन्त्रण एवं बीज परीक्षण प्रयोगशालाएं स्थापित करना, एवं
7. उन्नत बीजों को निर्यात करना ।

12.2.3 उर्वरक : सघन कृषि विधि द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए दूसरा प्रमुख कृषि निविष्ट उर्वरक है । प्रत्येक फसल के उत्पादन के लिए नाइट्रोजन, फास्फोरस एवं पोटाश उर्वरक की आवश्यकता होती है । उर्वरकों के आविष्कार के पूर्व, कृषक फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए

गोबर की खाद एवं हरी खाद का उपयोग किया करते थे । कृषि क्षेत्र में बढ़ती हुई खाद्यान्नों की आवश्यकता एवं गोबर की खाद की उपलब्धि में कमी के कारण, उर्वरकों का जन्म हुआ। उत्पादों के उत्पादन में वृद्धि एवं उर्वरकों के उपयोग की मात्रा में एक स्तर तक सकारात्मक सम्बन्ध विद्यमान होता है । अर्थात् उर्वरक के उचित मात्रा में उपयोग करके कृषि उलादों का उत्पादन अनुकूलतम स्तर तक बढाया जा सकता है । उर्वरक भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि की समृद्धि में महत्वपूर्ण स्थान रखते है तथा उर्वरकों की खपत की मात्रा, देश की समृद्धि का एक सूचकांक होता है । कृषि विकास प्रक्रिया में उर्वरकों का महत्व इस तथ्य से स्पष्ट है कि इनके उपयोग की उल्गदन अनुक्रिया (Production response) अन्य कृषि निविष्टों से अधिक होती है । उर्वरकों का उपयोग उन्नत किस्मों के बीजों के साथ मिलकर उत्पादन में विशेष गति से वृद्धि करते है । उर्वरकों का उपयोग सिंचित क्षेत्रों में अधिक होता है क्योंकि इनके उपयोग के लिए सिंचाई के जल की आवश्यकता होती है । उर्वरकों का उपयोग बारानी क्षेत्रों में भी होता है लेकिन बारानी क्षेत्रों में इनके उपयोग का स्तर कम है।

देश में उर्वरकों का उपयोग सर्वप्रथम प्रमुखतया बागान वाली फसलों में वर्ष 1920 के आसपास प्रारंभ हुआ था । इनके उपयोग की महत्वता के कारण, उर्वरकों का उपयोग धीरे-धीरे दूसरी फसलों में भी होने लग गया । वर्ष 1965-66 के उपरान्त देश में विभिन्न फसलों की उन्नत किस्मों के बीजों के आविष्कार के कारण उर्वरकों के उपयोग स्तर में द्रुतगति से वृद्धि हुई है । उन्नत बीज, उर्वरक एवं सिंचाई सुविधा कृषि उत्पादन में वृद्धि का एक त्रिस्तरीय संयोग है । इनके सम्मिलित उपयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि अधिक दर से होती है जिसे देश के वैज्ञानिकों ने हरित क्रान्ति के नाम से सम्बोधित किया है ।

सारणी 12.4 देश में उर्वरकों की खपत एवं खाद्यान्न उत्पादन की मात्रा प्रदर्शित करती है:-

सारणी 12.4 भारत में उर्वरक खपत एवं खाद्यान्न उत्पादन

(मिलियन टन में)

वर्ष	उर्वरक उत्पादन	उर्वरक आयात	उर्वरक उपयोग (कुल मात्रा)	उर्वरक उपयोग (किलोग्राम प्रति हेक्टर)	खाद्यान्न उत्पादन
1950-51	NA	NA	0.069	0.55	50.92
1955-56	NA	NA	0.148	0.89	66.85
1960-61	0.150	0.419	0.306	1.793	82.02
1965-66	NA	NA	0.789	5.050	72.32
1970-71	1.059	0.629	2.207	13.610	108.42
1975-76	NA	NA	2.849	16.930	121.03
1980-81	3.005	2.759	5.516	31.820	129.59
1985-86	5.756	3.399	8.470	46.870	150.44
1986-87	7.070	2.308	8.470	57.100	143.42
1987-88	7.131	0.984	9.010	NA	138.41
1988-89	8.600	NA	11.330	NA	166.00

1989-90	NA	NA	12.3-12.5	-	175
1994-95	NA	NA	16.5-17.0	-	200-205
1995-96	11.331	4.000	13,900	70	185.1

देश में उर्वरकों की खपत वर्ष 1950-51 में मात्र 89 हजार टन थी, जो बढ़कर 1960- 61 में 3.06 लाख टन, 1970 -71 में 22.07 लाख टन, 1980-81 में 5.516 मिलियन टन व 1988-89 में 11-33 मिलियन टन हो गई । उर्वरकों की खपत की मात्रा में वृद्धि दर उन्नत बीजों के आविष्कार के उपरान्त के समयकाल में तीव गति से हुई । वर्ष 1965-66 से 1975- 76 के दशक में उर्वरक खपत की मात्रा में तीन गुना से अधिक वृद्धि तथा 75-76 से 1988- 89 में 15 वर्षों में पुनः 4 गुना वृद्धि हुई है । इसी प्रकार उर्वरकों की प्रति हैक्टर खपत की मात्रा में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है । प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के वर्ष 1950-51 में उर्वरकों की खपत मात्र 0.55 किलोग्राम प्रति हैक्टर ही थी वह बढकर वर्तमान में 57 किलोग्राम प्रति हैक्टर हो गई है ।

उर्वरकों की खपत में प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र पर इस द्रुतगति से वृद्धि होने के फलस्वरूप भी देश में उर्वरकों की खपत विश्व के अनेक देशों की तुलना में कम है । उदाहरण स्वरूप भारत में वर्ष 1986-87 में उर्वरक खपत की मात्रा 57.10 किलोग्राम प्रति हैक्टर की तुलना में संसार में सभी देशों की औसत खपत 90.4 किलो ग्राम ,अमेरिका में 92.8 किलोग्राम, रूस मे 114.1 किलोग्राम, इंग्लैंड में 379.8 किलोग्राम, जापान में 427.1 किलोग्राम, एवं न्यूजीलैण्ड में 621.9 किलोग्राम हैं । इसी प्रकार प्रति व्यक्ति उर्वरक खपत भारत में वर्ष 1986-87 में मात्र 12.5 किलोग्राम ही थी, जबकि संसार का औसत 27.1 किलोग्राम, अमेरिका में 72.4 किलोग्राम, कनाडा में 85.2 किलोग्राम हैं । अतः स्पष्ट है कि भारत में प्रति हैक्टर भूमि क्षेत्र एवं प्रति व्यक्ति जनसंख्या पर उर्वरक खपत का स्तर विकसित देशों की अपेक्षा कम है ।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भी उर्वरक खपत की मात्रा में बहुत असमानता है । वर्ष 1966-67 से 1985-86 के 20 वर्षों में उर्वरकों की खपत की मात्रा में उत्तरी क्षेत्र में 25 गुना, पश्चिमी क्षेत्र में 7.5 गुना, पूर्वी क्षेत्र में 9.3 गुना एवं दक्षिणी क्षेत्र में 5 गुना वृद्धि हुई है । दूसरे शब्दों में देश में कुल उर्वरक खपत का 43.9 प्रतिशत उत्तरी क्षेत्र में, 24.3 प्रतिशत दक्षिणी क्षेत्र में, 18.2 प्रतिशत पश्चिमी क्षेत्र में एवं 13.6 प्रतिशत पूर्वी क्षेत्र में होता है । राज्योवार भी उर्वरक खपत की मात्रा में बहुत असमानता विद्यमान है । वर्ष 1986-87 में पंजाब राज्य में उर्वरक खपत 158.5 किलोग्राम प्रति हैक्टर थी जबकि आसाम राज्य में मात्र 4.6 किलोग्राम एवं राजस्थान में 12.3 किलोग्राम प्रति हैक्टर ही थी । देश के 339 जिलों में से 200 जिलों में उर्वरक खपत राष्ट्रीय औसत स्तर से कम एवं मात्र 139 जिलों में उर्वरक खपत राष्ट्रीय औसत स्तर से अधिक है।

उर्वरकों का उत्पादन तीनों ही क्षेत्र-राजकीय, सहकारी एवं निजी क्षेत्रों में होता हे । भारत सरकार इनके उत्पादन में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हें । इसके लिए निरन्तर नये उर्वरक कारखानों की स्थापना की जा रही है । तथा कार्यरत कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर रही है । वर्ष 1988-89 में देश में 6.4 मिलियन टन नाइट्रोजन उर्वरक एवं 2.2 मिलियन टन फास्फोरस उर्वरक का उत्पादन हुआ है जबकि इनकी उत्पादन क्षमता क्रमशः 8.2 मिलियन टन एवं 2.7 मिलियन टन

थी । पोटाश उर्वरक की पूरी मात्रा देश में आयात की जा रही है क्योंकि इसके उत्पादन के लिए आवश्यक उत्पादन सामग्री का देश में अभाव है । वर्तमान में देश में कुल उर्वरक खपत की मात्रा का घरेलू उत्पादन 90 प्रतिशत से अधिक है ।

उर्वरकों की सही व्यवस्था के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है :

1. अनुसंधान द्वारा उर्वरकों के उपयोग की अनुकूलतम विधि का पता लगाना एवं प्राप्त परिणामों को प्रसार शिक्षा के माध्यम से कृषकों के फार्म तक पहुँचना, जिससे अनुसंधानों के द्वारा प्राप्त परिणामों से कृषक वर्ग पूर्ण लाभान्वित हो सके ।
2. उर्वरकों के उत्पादन में वृद्धि करना एवं उनके वितरण एवं विपणन की सही व्यवस्था स्थापित करना, जिससे देश के सभी क्षेत्र के कृषकों को आवश्यक मात्रा में समय पर उर्वरक उपलब्ध हो सके ।
3. उर्वरकों के उपयोग से अनुकूलतम/इष्टतम लाभ की प्राप्ति के लिए उनके लाभप्रद मात्रा का कृषकों को ज्ञान प्रदान करना। उर्वरकों का आवश्यकता से कम एवं अधिक मात्रा में उपयोग करने से कृषकों को उचित लाभ की राशि प्राप्त नहीं हो पाती है । यह उर्वरकों की मात्रा विभिन्न होती है । यह ज्ञान कृषक उर्वरकों के उपयोग से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा, उर्वरक एवं उत्पाद की कीमत ज्ञान के आधार पर प्राप्त कर सकते है । साथ ही विभिन्न उर्वरकों का संतुलित मात्रा में उपयोग करने से ही फसलों से अनुकूलतम उत्पादन एवं लाभ की राशि प्राप्त हो सकती है । अतः संतुलित उर्वरकों के उपयोग से संबंधित ज्ञान भी कृषको को प्रदान करना आवश्यक हैं ।

उर्वरकों का विक्रय उत्पादकों द्वारा नियुक्त डीलरों एवं सहकारी समितियों द्वारा सरकार द्वारा निर्धारित कीमत पर किया जाता है ।

12.2.4 सिंचाई सुविधा : कृषि उत्पादन के लिए सिंचाई के जल की सुविधा भी एक आवश्यक निविष्ट है। विभिन्न फसलों के लिए विभिन्न स्तर पर सिंचाई के जल की आवश्यकता होती है । कुछ फसलें अधिक सिंचाई सुविधा चाहती है । रबी एवं जायद के मौसम में उत्पन्न होने वाली सभी फसलों का उत्पादन पूर्ण रूप से सिंचाई सुविधा पर निर्भर करता है । जबकि खरीफ की मौसम में उत्पादन की जाने वाली फसलों को कम सिंचाई के जल की आवश्यकता होती है ।

उन्नत बीज एवं उर्वरकों के आविष्कार ने सिंचाई की महलता को अधिक बढ़ा दिया है । उन्नत बीजों को फार्म पर अपनाने के लिए सिंचाई के जल की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है । उर्वरकों के उपयोग के लिए भी सिंचाई के जल की अधिक आवश्यकता होती है । सिंचाई के जल के अभाव में उर्वरक उपयोग करना सम्भव नहीं है ।

सिंचाई कें प्रमुख स्रोत नहरें, कुएं एवं ट्यूबवैल तथा जलाशय है । नहरों का जल देश के कुछ ही राज्यों एवं उनके कुछ जिलों में ही है । अधिकांश क्षेत्र में कुओं एवं टयूबवेलों सें सिंचाई के जल की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है । कुऐं एवं टयूबवेलों से पानी चरस, रहट तथा डीजल एवं बिजली से चलने वाले पम्पसेटों के द्वारा निकाला जाता है और सिंचाई की जाती ।

योजनाकाल से पूर्व (1950-51) में देश में मात्र 22.6 मिलियन हैक्टर क्षेत्र में (कुल कृषित क्षेत्रफल का 17.4 प्रतिशत) सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी । देश में सिंचाई सुविधाओं के विकास के लिए अनेक लघु एवं बड़ी सिंचाई योजनाएं प्रारम्भ की गई । इनके फलस्वरूप वर्ष 1988-89 में 67.7 मिलियन हैक्टर (कुल कृषित क्षेत्रफल के 36.5 प्रतिशत भाग) क्षेत्र में सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो सकी

है । सारणी 12.5 में देश में विभिन्न पंचवर्षीय योजना काल में विकसित सिंचाई क्षेत्रफल एवं बड़ी सिंचाई योजनाओं पर सरकार द्वारा किया गया व्यय राशि प्रदर्शित है ।

सारणी 12.5 देश मे सिंचाई सुविधाओं का विकास

योजना काल	सिंचित क्षेत्रफल (मिलियन हैक्टर)	बड़ी सिंचाई योजनाओं पर किया गया व्यय राशि (करोड़ रुपये)
योजना काल से पूर्व (1950-51)	22.6	-
प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)	26.26	313
द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-661)	29.09	428
लीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)	33.61	665
वीन वार्षिक योजनाएं (1966-69)	37.10	457
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)	44.20	1354
पॉचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79)	52.12	3434
छटी पंचवर्षीय योजना (1980-85)	65.20	8448
सातवी पंचवर्षीय योजना (1985-90)	78.10	14225
आठवीं पचवर्षीय योजना (1992-97)	90.00	28392 (प्रस्तावित)

वर्तमान में देश के मात्र 36.5 प्रतिशत कृषित श्रेत्र में ही सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है और शेष कृषित क्षेत्र वर्षा पर निर्भर है। अत: वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में कृषि प्राकृतिक देन है। प्रकृति के अनुकूल वर्ष में इन क्षेत्रों से कृषि उत्पादन अधिक प्राप्त होता है जबकि अन्य वर्ष में सूखा या अकाल की स्थिति बनी रहती है। सिंचाई सुविधाओं के विकास के लिए सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है। इस काल में देश में अनेक बांध एवं नहरों का वृहत स्तर पर निर्माण किया गया है जिससे सिंचाई क्षेत्र में वृद्धि हुई है। साथ ही कृषकों के फार्म पर सिंचाई सुविधा के विकास के लिए सरकार कृषकों को न्यूनतम ब्याज दर पर ऋण सुविधा प्रदान करती है। लघु एवं सीमान्त कृषकों के फार्म पर सिंचाई सुविधा के विकास करने के लिए सरकार 25 से 33.33 प्रतिशत कुल लागत राशि का अनुदान के रूप में भी उपलब्ध कराती है।

विभिन्न राज्यों में उपलब्ध सिंचाई सुविधा के क्षेत्र में बहुत असमानता है। वर्ष 1980-83 के काल में पंजाब राज्य में 86.90 प्रतिशत समग्र कृषित क्षेत्र फल में, हरियाणा में 62 .2 प्रतिशत, तमिलनाडु एवं उत्तर प्रदेश में 48 प्रतिशत, आन्ध्र प्रदेश एवं बिहार में 35 प्रतिशत समग्र कृषित क्षेत्रफल तथा गुजरात, राजस्थान, पश्चिम बंगाल एवं उड़ीसा राज्य में लगभग 25 प्रतिशत क्षेत्र में सिंचाई सुविधा उपलब्ध थी। अन्य राज्यों में समग्र कृषित क्षेत्र के 10 से 15 प्रतिशत क्षेत्र में ही सिंचाई सुविधा उपलब्ध है। सिंचाई सुविधा एवं वर्षा प्रतिशत में सकारात्मक सम्बन्ध पाया गया है। अधिक सिंचाई सुविधा वाले राज्यों में शस्य प्रतिशत भी अधिक (पंजाब में 163 .5 प्रतिशत, हरियाणा में 151.4 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में 143.1 प्रतिशत) होती है। इन सबके कारण इन राज्यों में उत्पादकता दर एवं उत्पादन स्तर अधिक होता है।

12.2.5 पौध संरक्षण उपाय (Plant Protection Measures) कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए तृतीय प्रमुख कृषि निविष्ट पौध संरक्षण उपाय है। उन्नत बीज कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने

के साथ-साथ बीमारियों एवं कीड़े- मकोड़ों से अधिक प्रभावित होते है, क्योंकि सिंचिंत सुविधा एवं उन्नत किस्में इनके विकास के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करते हैं। अत: विभिन्न फसलों में होने वाली बीमारियों एवं उन पर लगने वाले कीड़ों की रोकथाम के लिए पौध संरक्षण उपाय अथवा कीटनाशी, फफूंदनाशक, सूत्री कृमि नाशी एवं खरपतवार नाशीदवाईयों का उपयोग करना भी उन्नत बीज एवं उर्वरक के समान ही आवश्यक है।

पूर्व में कृषक पौध संरक्षण उपायों को कम स्तर पर अपनाते थे, क्योंकि फसलों पर कीड़ों एवं बीमारियों का प्रभाव कम होता था तथा इन दवाईयों का आविष्कार एवं उपलब्धि भी आज के परिपेक्ष्य में नगण्य था। वर्तमान में इन दवाइयों का उपयोग स्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है। उन्नत किस्मों के बीजों के अधिकाधिक उपयोग के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में बढते हुए उत्पादन के कारण देश में रोगनाशी दवाईयों के उपयोग स्तर में वृद्धि होना भी आवश्यक है। देश के कृषक इनकी कीमतों की अधिकता, इनके उपयोग ज्ञान की अज्ञानता आदि कारणों से इन दवाईयों का उपयोग सिफारिश मात्रा में नहीं कर पा रहे है।

रोगनाशी दवाईयाँ उपयोग के अनुसार निम्न प्रकार की होती है :

1. कीटनाशी दवाईयाँ (Insecticides) जैसे बी.एच.सी, डीडीटी., लीनडेन मैलाथियान, पेराथियान आदि।
2. फफूंदनाशी दवाईयाँ (Fungicides) जैसे क्यूपरस ऑक्साइड, जाइनेब, धीरम, जीरम आदि।
3. चूहा नाशक दवाईयाँ (Rodenticides)जैसे जिंक फासफाइड, वारफरिन आदि।
4. सूत्री कृमि नाशी दवाईयाँ (Nematocides)जैसे मिथान और सोडियम
5. खरपतवारनाशी दवाईयाँ (Weedicides) जैसे टू-फोर-डी, प्रोपानील।
6. मौन वृद्धी नियंत्रक (Plant Growth Regulators) जैसे साइनोसेल, नेफ़्थलीन, एसीटीक एसीड आदि ।

वर्तमान में तकनीकी किस्म के 44 रोगनाशी दवाईयों का भारत में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन किया जा रहा है । वर्ष 1 977- 78 में रोगनाशी दवाईयों की उत्पादन क्षमता 74, 718 टन थी, लेकिन वास्तविक उत्पादन मात्र 11, 745 टन ही हुआ था। वर्तमान में इनका उत्पादन स्तर 61266 मिलियन टन है । इनके उत्पादन का स्तर उपभोग से कम होने के कारण अनेक कीटनाशी दवाईयों का देश में आयात भी किया जा रहा है ।

प्रारंभ में कीटनाशी दवाईयों के उपभोग का स्तर बहुत कम था । प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष में (1955-56) इनका उपभोग स्तर 2.35 हजार टन ही था, जो बढ़कर 1960- 61 में 8.62 हजार टन, 1970-71 में 24, 314 हजार टन, 1980-81 में 53.3 हजार टन, 1983-84 में 72 हजार टन एवं 1986-87 में 73.5 हजार टन हो गया । पौध संरक्षण सुविधा प्रथम पंचवर्षीय योजना में 6.4 मिलियन हैक्टर क्षेत्र में उपयोग की गई थी जो बढ़कर 1991- 92 में 72 मिलियन हैक्टर क्षेत्र तक पहुँच गई । इसी प्रकार प्रति हैक्टर कृषित क्षेत्र पर इनका उपयोग 15.9 ग्राम से बढ़कर 1979-80 में 326 ग्राम हो गया, लेकिन इनके उपभोग में इस दर से वृद्धि होने के उपरान्त भी इनका उपयोग स्तर विकसित देशों जैसे अमेरिका (1490 ग्राम प्रति हैक्टर) एवं जापान (10, 790 ग्राम प्रति हैक्टर) से बहुत कम है ।

कीटनाशी दवाईयों का उपयोग फसल के विकास काल में विभिन्न समय बुवाई से पूर्व बुवाई के समय, फसल की वृद्धि के समय एवं कटाई के उपरान्त उनके संग्रहण काल में करना होता है । साथ ही इनके उपयोग करते समय उचित तकनीकी ज्ञान का होना भी आवश्यक है जिससे सही रसायन का चुनाव, उपयोग की सही विधि एवं सही समय एवं उपयोग करते समय इनसे होने वाली हानि से रक्षा की जा सके ।

कीटनाशी दवाईयों का विक्रय उत्पादकों द्वारा नियुक्त डीलरों की सहायता से किया जाता है । इनके प्रतिष्ठान मुख्यतया बड़े शहरों में होते है जहाँ से काश्तकारों तक छोटे व्यापारियों के माध्यम से पहुँचती है ।

12.2.6 विद्युतिकरण एवं डीजल तेल : कृषि क्षेत्र में विद्युत भी एक प्रमुख कृषि निविष्ट है जो गैर कृषि क्षेत्र द्वारा पूर्ति की जाती है । विद्युत का प्रमुख उपयोग सिंचाई के लिए पम्पसेट एवं टयूबवेल के विद्युतिकरण में किया जाता है । फसल की कटाई एवं कुट्टी की मशीनों के संचालन में भी विद्युत का उपयोग किया जाता है । हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के पश्चात् कृषि क्षेत्र में विद्युत का उपयोग बहुत बढ़ गया है । कृषि क्षेत्र में विद्युत का सर्वाधिक उपयोग सिंचाई के लिए होता है । व्दि्युत शक्ति के उपयोग द्वारा सिंचाई करने पर प्रति सिंचाई की लागत कम आती है तथा कम समय में अधिक क्षेत्र में सिंचाई की जा सकती है । गाँवों में विद्युत के प्रसार के फलस्वरूप फार्म पर कृषक अधिक सिंचाई के जल की आवश्यकता एवं कम समयान्तर पर सिंचाई की आवश्यकताओं वाली फसलों को कृषित करने में सक्षम हो गये है ।

स्वतंत्रता के समय देश में मात्र 1500 गाँवों में ही विद्युत सुविधा उपलब्ध थी । योजना काल में विद्युत प्रसार की गति में तेजी आई है । ग्रामीण विद्युतिकरण निगम की स्थापना तथा राज्यों में विद्युत बोर्डो की स्थापना के पश्चात् इस क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई है । प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में 3061 गॉवों (कुल गाँवों के 0.53 प्रतिशत) एवं 21008 पम्पों पर विद्युत सुविधा उपलब्ध थी, जो बढ़कर 1995-96 तक देश के 3.8 लाख गांवों (86.4% प्रतिशत गांवों) एवं 59.69 लाख पम्पों पर हो गई । विद्युतिकरण की सुविधा उपलब्ध कराने एवं उसके विकास के लिए सरकार निरन्तर प्रयत्नशील हैं । वर्तमान में कृषकों की विद्युत की आवश्यकता उपलब्धि से अधिक हैं । कृषकों को अपने फार्म पर विद्युत सुविधा प्राप्त करने के लिए कई माह तक प्रतिक्षा करना होता है ।विद्युत सुविधा उपलब्ध कृषकों को भी विद्युत निरन्तर नही मिलकर विभिन्न समय पर प्राप्त होती है । अनुमान के अनुसार वर्ष 1995 तक देश के गावों 5 लाख गावों तक विद्युत सुविधा पहुँचायी जा चुकी थी ।

विद्युत का उत्पादन कोयला, तेल, जल -एवं अणुशक्ति से होता है । जल से उपलब्ध विद्युत इनमें से सबसे सस्ती होती है! अतः सरकार जल से विद्युत उत्पन्न करने के लिए बान्ध एवं अन्य पानी रोकने के जलाशय बनाती है ।

ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत का प्रसार देश में ग्रामीण विद्युतिकरण निगम की स्थापना के पश्चात् तीव्र गति से हुआ है । इस निगम की स्थापना वर्ष 1969 में श्री बी वैंकटपेया की अध्यक्षता में की गई थी । निगम की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य राज्य विद्युत मण्डलों एवं ग्रामीण विद्युत सहकारी समितियों की ऋण सहायता करना है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक विद्युत प्रसार किया जा संके।

उपलब्ध विद्युत शक्ति का कृषि क्षेत्र में उपभोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है । वर्ष 1962-63 में कुल उपलब्ध विद्युत शक्ति का 5.9 प्रतिशत अंश ही कृषि क्षेत्र में उपयोग किया जाता था जो बढ़कर

1994- 95 में 32.5 प्रतिशत हो गया । कुल विद्युत उत्पादन का 60 से 70 प्रतिशत अंश औद्योगिक क्षेत्र में उपयोग होता है ।

विद्युत का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में होता है । अतः विद्युत का आवश्यक मात्रा में उत्पादन करना एवं उसका प्रसार करने का पूर्ण दायित्व सरकार का होता है । इसके उत्पादक एवं उपभोक्ता के मध्य कोई मध्यस्थ नहीं होता है । अतः इस निविष्ट की पूर्ति सरकार के पूर्व एकाधिकार में होती है । इसी कारण सरकार विद्युत की कीमत में कीमत विभेदन नीति का पालन कर पाती है । विभिन्न उपभोक्ताओं (कृषकों, उद्योगों, लघु उद्योग, व्यावसायिक एवं घरेलू उपयोग) को पृथक कीमत पर विद्युत की पूर्ति सरकार द्वारा की जाती है । सरकार कृषि क्षेत्रं में विद्युत दर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम लेती है । कृषकों से सिंचाई के लिए उपयोग की गई विद्युत की कीमत सरकार मीटर के आधार पर अथवा प्रयोगित विद्युत मोटर की अश्वशक्ति के आधार पर वसूल करती है।

डीजल तेल-डीजल तेल भी कृषि क्षेत्र में एक आवश्यक शक्ति निविष्ट है । इसका उपयोग सिंचाई के लिए कुओं पर पम्प चलाने एवं जुताई एवं बुवाई के लिए ट्रैक्टर के चलाने के उपयोग में किया जाता है । अनेक स्थानों पर जहाँ विद्युत सुविधा उपलब्ध नहीं है, वहाँ पर कृषक डीजल तेल से चलने वाले पम्पसेट लगाकर कुओं से पानी उठाकर सिंचाई करते है । इसी प्रकार फार्म पर ट्रैक्टर द्वारा विभिन्न कृषि कार्यो जैसे भूमि की जुताई, बुवाई, भूमि को समतल करना, फसल की गुहाई, कुट्टी काटने एवं उत्पादित माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवहन करने में भी डीजल तेल का उपयोग होता है । वर्तमान में विद्युत उपलब्ध कृषक भी विद्युत अनिश्चितता के कारण डीजल चालित पम्पसेट रखते है ।

कृषि तेल में डीजल तेल की आश्यकता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है । रबी की मौसम में इसकी पूर्ति की सीमितता के कारण कृषको को राशन प्रणाली द्वारा निर्धारित कीमत पर सरकार डीजल तेल की पूर्ति करती है । अनेक बार कृषकों को समय पर डीजल तेल उपलब्ध नहीं होने से परेशानी होती है ।

डीजल तेल की पूर्ति का अल्पधिकार बाजार होता है । इनकी पूर्ति की तीन प्रमुख कम्पनियाँ ही है जबकि इसके उपभोक्ता अनेक है । डीजल तेल की कीमत सरकार द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों के लिए पृथक स्तर पर निर्धारित की जाती है । कीमत में सीमान्त अन्तर परिवहन लागत एवं चुंगी के कारण होता है ।

12.2.7 उन्नत कृषि यन्त्रों एवं मशीनों का उपयोग:कृषि यन्त्र एवं मशीनें भी वर्तमान कृषि में प्रमुख निविष्ट है । वर्तमान में उन्नत बीजों के उपयोग, अधिक क्षेत्रफल में कृषि करने तथा बैलों की शक्ति का कम से कम उपयोग के कारण, मशीनों एवं कृषि यन्त्रों का उपयोग बढ़ गया है । उन्नत किस्मों के बीजों की बुवाई एक निश्चित गहराई तक एवं उचित समय पर करना होता है । वर्षा की नमी का लाभ उठाने के लिए भी बुवाई शीघ्रता से करनी होती है । समय पर सिंचाई करने के लिए पम्पसेटों का उपयोग किया जाता है ।

कृषि क्षेत्र में उपयोगित प्रमुख यन्त्र एवं मशीनें निम्न है :

(1) **सिंचाई हेतु डीजल एवं विद्युत शक्ति से चलने वाले पम्पसेट :** वर्तमान में सिंचाई हेतु कृषक कुओं से पानी उठाने में चरखे के स्थान पर डीजल तेल से चलने वाले अथवा विद्युत शक्ति से चलने वाले पम्प सेटों का उपयोग करते है । इनके उपयोग से सिंचाई की लागत में कमी आती है तथा सिंचाई

अधिक क्षेत्रफल में शीघ्रता से की जा सकती है । इनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है । वर्ष 1951 में विद्युत शक्ति से चलने वाले पम्पसेट मात्र 21 हजार थे, जो बढ़कर 1982 में 4655 हजार हो गए । 1992-93 में विद्युतशक्ति से चलने वाले पम्प सेटों की संख्या 96.2 लाख हो गयी है । इसी प्रकार डीजल तेल से चलने वाले पम्पों की संख्या में भी वृद्धि हुई है । इनका बाजार एकाधिकारात्मक स्पर्द्धा का (Monopolistic Competition) होता है । बाजार में विभिन्न कम्पनियों द्वारा निर्मित पम्प उपलब्ध होते है । इनकी कीमतें इनके निर्माताओं द्वारा तय की जाती है । सरकार इनके विस्तार के लिए ऋण सुविधा भी उपलब्ध कराती है ।

(2) **भूमि की जुताई एवं बुवाई के लिए ट्रैक्टर :** भूमि की जुताई, भूमि को समतल करने, बीज की बुवाई, खाद्यान्न एवं निविष्टों के परिवहन में ट्रैक्टर का उपयोग किया जाता है । ट्रैक्टर द्वारा भूमि की जुताई एवं बीज की बुवाई उचित गहराई पर समानता से होती है । ट्रैक्टर द्वारा कम समय में अधिक क्षेत्रफल में बुवाई व जुताई हो जाने से प्रति हैक्टर क्षेत्र रार लागत कम आती है । देश में ट्रैक्टरों की खपत में निरन्तर वृद्धि हो रही है । हरित क्रान्ति के पश्चात् इनकी खपत में हुई वृद्धि की दर अधिक है ।

वर्ष 1951 में मात्र 8635 ट्रैक्टर कार्यरत थे, जो बढ़कर 1992-1993 में 18 लाख हो गये । वर्ष 1960 के पूर्व ट्रैक्टर का उत्पादन देश में नहीं होता था । तब इनकी पूर्ति आयात द्वारा की जाती थी । वर्ष 1973-74 के पश्चात् देश में ट्रैक्टरों का आयात बन्द कर दिया गया । ट्रेक्टरों का उत्पादन देश में वर्ष 1960 में शुरू हुआ था ।वर्ष 1982-83 में 95, 000 ट्रैक्टर का उत्पादन हुआ था । वर्तमान में 13 कम्पनियाँ देश में कृषि में प्रयोग हेतु ट्रैक्टरों का उत्पादन कर रही है । ट्रैक्टरों का आयात सर्वाधिक वर्ष 1971-72 में किया गया था । वर्तमान में देश ट्रैक्टरों का निर्यात भी कर रहा है । कृषि क्षेत्र में उपयोग हेतु ट्रैक्टरों की कीमत सरकार द्वारा नियंत्रित की जाती है ।

(3) **कीटनाशक दवाईयों के उपयोग के लिए स्प्रेयर एवं डस्टर्स** : उन्नत बीजों के उपयोग के पश्चात् कृषि क्षेत्र में स्पेयर एवं डस्टर का उपयोग भी बढ़ गया है । उन्नत किस्म के बीज, कीट एवं बीमारियों से अधिक प्रभावित होते है । समृद्ध कुषक अपने फार्म पर इन यन्त्रों को क्रय करके कीटनाशी एवं अन्य दवाईयों का उपयोग करके अधिक उत्पादन प्राप्त करते है । जबकि लघु एवं मध्यम जोत कृषक इन यन्त्रों को किराये पर प्राप्त करके उपयोग करते है । वर्तमान में इनकी बढ़ती हुई आवश्यकता के कारण सरकार कृषको को अनुदान राशि देकर, इन यन्त्रों के उपयोग को बढ़ावा दे रही है ।

(4) **फसल की गहाई हेतु थ्रेसर एवं ट्रैक्टर चलित गहाई मशीन का उपयोग :** कृषि क्षेत्र में बढ़ती हुई उत्पादकता एवं उत्पादन स्तर के कारण फसल की गहाई एवं सफाई में भी थ्रेसर, विनोवर एवं ट्रैक्टर से चलित गुहाई मशीन का उपयोग किया जाता है । पूर्व में कृषक खाद्यान्नों की गुहाई एवं सफाई बैल एवं मानव श्रम शक्ति द्वारा किया करते थे जिसमें समय की अधिकता के साथ-साथ लागत भी अधिक आती थी । वर्तमान में अधिकांश कृषक अपनी फसल की गहाई एवं सफाई थ्रेसर द्वारा ही कराते है । समृद्ध कृषक एवं अन्य व्यवसायी इनकी सेवायें फसल की कटाई के समय निर्धारित दर पर उपलब्ध कराते है । इनके उपयोग से कृषकों को खलिहान में अधिक 'अधिक समय तक गहाई के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी होती है । साथ ही समय से पूर्व होने वाली वर्षा के कारण उत्पाद को खराब होने से भी बचा लेते है । बाजार में शीघ्र फसल को बेचकर अच्छी कीमत भी कृषक प्राप्त कर सकते है ।

कृषि यन्त्रों के बढ़ते उपयोग के कारण मरम्मत, पुर्जों की उपलब्धि एवं रखरखाव की सेवाओं की आवश्यकता में भी वृद्धि हुई है, जिसके कारण अनेक स्थानों पर वर्कशाप भी स्थापित हो गये है। कृषि यंत्र के खराब होने पर कृषक अपने कृषि यंत्र एवं मशीनों को वर्कशाप में ठीक कराकर समय पर कृषि कार्य पूरा कर सकते हैं । अधिकांश मरम्मत सेवाओं के स्थापित वर्कशाप निजी क्षेत्र में है । सार्वजनिक क्षेत्रों में इनका पूर्ण अभाव हैं । अतः कृषि क्षेत्र में हुए मशीनीकरण कें कारण, गाँवों में वर्कशाप का होना भी आवश्यक है । कृषक अपनी मशीनों एवं कृषि यन्त्रों के खराब होने पर बिना समय खराब किए उचित कीमत पर आवश्यक पुर्जे एवं मरम्मत की सुविधा इन वर्कशाप से प्राप्त कर सकते है ।

12.2.8 कृषि ऋण: कृषि उत्पादन के लिए ऋण भी महत्वपूर्ण निविष्ट है । वर्तमान में ऋण एक अपरिहार्य निविष्ट है । इसके बिना उत्पादन प्राप्त करना संभव नहीं है, क्योंकि कृषि उत्पादन के लिए आवश्यक सभी निविष्ट-उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयाँ, कृषि यन्त्र, सिंचाई हेतु विद्युत एवं डीजल तेल व मानव श्रम की प्राप्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है । कृषकों के पास उपलब्ध धन नगण्य होता है, क्योंकि कृषि में बचत कम होती है । अतः कृषको द्वारा आवश्यक धन की पूर्ति दूसरों से ऋण प्राप्त करके ही पूरी की जाती है । हरित क्रान्ति के पश्चात् कृषि क्षेत्र में ऋण की आवश्यकता पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गई है ।

आवश्यक ऋण की पूर्ति के दो प्रमुख स्त्रोत है-संस्थागत (सरकार, वाणिज्यिक बैक, सहकारी बैक एवं समितियाँ एवं निगम) तथा गैर संस्थागत (साहूकार, रिश्तेदार, जमंदार, व्यापारी एवं अन्य)। संस्थागत ऋण अभिकरणों की महत्वता निरन्तर बढ़ती जा रही हैं । यह अभिकरण कृषकों को कुल ऋण आवश्यकता का मात्र 73 प्रतिशत अंशदान वर्ष 1951-5 2 में प्रदान करते थे, जो बढ़कर 1961-62 में 18.7 प्रतिशत, 1971-72 में 25 प्रतिशत एवं वर्तमान में 40 प्रतिशत अंश प्रदान करते है । गैर संस्थागत अभिकरणों की महत्वता निरन्तर कम होती जा रही है, क्योंकि यह कृषकों से अधिक ब्याज की राशि वसूल करने के अतिरिक्त अनेक कूचालों के कारण उनका शोषण भी करते है । संस्थागत अभिकरण कृषकों से उचित ब्याज लेने के साथ-साथ तकनीकी सलाह भी प्रदान करते है ।

बैंक राष्ट्रीयकरण के उपरान्त (जुलाई, 1969) कृषि क्षेत्र में ऋण की पूर्ति करने के लिए वाणिज्यिक बैक प्रमुख भूमिका निभा रहे है । वाणिज्यिक बैकों ने अनेक योजनाएं भी कृषकों को आवश्यक राशि में ऋण कम ब्याज दर पर उपलब्ध कराने के लिए प्रारंभ की है जैसे अग्रणी बैंक योजना, विभेदक ब्याज दर नीति, गाँवों में राष्ट्रायकृत बैंकों की शाखाएं स्थापित करना, आंचलिक ग्रामीण बैंकों की स्थापना आदि ।

बोध प्रश्न

1. कृषि उत्पादन के लिए प्रमुख कृषि निविष्ट कौन-कौन से है?
2. उन्नत बीजों के प्रसार के लिए आवश्यक पहलुओं का वर्णन कीजिए।
3. कृषि उत्पादन में उर्वरकों का योगदान स्पष्ट कीजिए।
4. उन्नत बीज, उर्वरक एवं सिंचाई सुविधा कृषि उत्पादन में वृद्धि का एक त्रिस्तरीय संयोग है। स्पष्ट कीजिए।
5. कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने में कृषि यन्त्रीकरण की महत्ता स्पष्ट कीजिए।

12.3 सारांश

वर्तमान में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए कृषि निविष्टों का संतुलित मात्रा में सही समय पर उपयोग अति आवश्यक है। इनके उपयोग से कृषि उत्पादन के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है। कृषि निविष्टों की मात्रा में हुई वृद्धि के कारण इनके उत्पादन तथा उपयोग विधि में भी परिवर्तन आया है। इनके उत्पादन में वृद्धि लाने हेतु तथा इनके उपयोग में विधि में सुधार हेतु भी अनुसंधान प्रयास जारी है।

कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए प्रमुख कृषि निविष्ट कृषि आगत उन्नत बीज उर्वरक, सिंचाई सुविधा, पौध संरक्षण उपाय, विद्युतीकरण एवं डीजल तेल, उन्नत कृषि यन्त्र एवं मशीनें एवं कृषि ऋण है। कृषि के क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि हेतु इन निविष्टों को पैकेज के रूप में उचित स्तर तक उपयोग करना आवश्यक है। इनके वैयक्तिक उपयोग से उत्पादन का अनुकूलतम स्तर प्राप्त नहीं हो सकता है।

12.4 शब्दावली

कृषि निविष्ट/कृषि आगत-सामान्य रूप से ऐसी वस्तु होती है जिन्हें कृषक अपने फार्म उत्पादन प्रक्रिया में प्रयुक्त करने के लिए क्रय करते है।

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

(i). Acharya, s.s. and Agarwal, N.L.,Agricultural Marketing in India, Oxford and IBh Publishing Co, New Delhi, 1987, pp. 171-220

(ii). Kahlan A.S. and George M.V. Agricultural Marketing and Price Policies, Allied Publishers Private Limited, New Delhi, 1985,pp. 126-129

(iii). Journals and Periodicals

(A). Agricultural Situations in India- Monthly

(B). Fertiliser News-monthly

(C). Fertilizer markrting-Quartely

(D). Seeds and Farms Journal

(E). India Journal of Agricultural Economics Quartely.

इकाई 13
हरित क्रान्ति
(Green Revolution)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

131 प्रस्तावना

13.2 हरित क्रान्ति

13.2.1 हरित क्रान्ति से नात्पर्य

13.2.2 हरित क्रान्ति का प्रादुर्भाव

13.2.3 हरित क्रान्ति के अवयव

13.2.4 हरित क्रान्ति का कृषि क्षेत्र पर आर्थिक प्रभाव

13.2.5 हरित क्रान्ति का सामाजिक प्रभाव

13.2.6 हरित क्रान्ति का कृगि श्रम की आवश्यकता पर

13.3 सारांश

13.4 शब्दावली

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पाठ्य सामग्री

13.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास विषय के इस तृतीय खण्ड की प्रस्तुत इकाई में कृषि क्षेत्र में आई हरित क्रान्ति से सम्बन्धित ज्ञान का विवेचन किया जा रहा है । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे : -

* हरित क्रान्ति से क्या तात्पर्य है? हरित क्रान्ति का देश में प्रादुर्भार्द किस प्रकार एवं किस समय हुआ?
* हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव कौन-कौन से है? विपिन कृषि निवेशों का हरित क्रान्ति लाने में क्या योगदान है?
* हरित क्रान्ति के कारण कृषि क्षेत्र में आए आर्थिक प्रभाव जान सकेगें ।
* हरित क्रान्ति के कारण कृषकों एवं विभिन्न क्षेत्रों के कृषि क्षेत्र में प्राप्त आय पर प्रभाव पड़ा है?
* हरित क्रान्ति के कारण कृषि श्रम की माँग एवं देश में रोजगार उपलब्धि पर होने वाले प्रभाव को जान सकेगें ।

13.1 प्रस्तावना

वर्ष 1965-66 व 1966-67 के सूखा ने देश में खाद्यान उपलब्धियों की समस्या को विषय बना दिया और उत्पन्न स्थिति ने कृषि वैज्ञानिकों के समक्ष कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए चुनौती

की कृषि वैज्ञानिकों ने अपने अथक अनुसंधान परिणामों के फलस्वरूप उन्मत किस्म के बीज, विभिन्न उर्वरक, कीटनाशी दवाईयों एवं उन्मत कृषि यन्त्र तथा कृषि उत्पादन की नई, विधि का आविष्कार किया । दूसरी ओर सरकार ने भूमिसुधार एवं कृषि क्षेत्र में आवश्यक आधार धारिक संरचनाओं में सुधार एवं विकास भी किया । अतः भूमिसुधार कार्यक्रम एवं कृषि निविष्टों एवं उचित कृषि विधि के उपयोग तथा प्रसार ज्ञान के फलस्वरूप देश में खाद्यान (प्रमुखतया गेहूँ, चावल एवं मोटे अनाज) में तीव्र दर से वृद्धि हुई । इस खाद्यान उत्पादन में वृद्धि की हुई असाधारण दर को कृषि वैज्ञानिकों ने हरित क्रान्ति का नाम दिया । इसके कारण खाद्यान उत्पादन कृषकों की आय एवं कृषि श्रम की माँग में वृद्धि हुई । प्रस्तुत इकाई में इन पहलुओं का विस्तारः से वर्णन किया गया है ।

13.2 हरित क्रान्ति)Green Revolution)

13.2.1 हरित क्रान्ति से तात्पर्य.हरित क्रान्ति, हरित एवं क्रान्ति शब्द के मिलने से बना है । क्रान्ति से नात्र्या किसी घटना में द्रुतगति से परिवर्तन होने तथा उन परिवर्तनो का प्रभाव आने वाले लम्बे समय तक रहने से है । हरित शब्द कृषि फसलों का सूचक है । अतः हरित क्रांति से तात्पर्य कृषि उत्पादन में अल्पकाल में विशेष गति से वृद्धि का होना तथा उत्पादन की यह वृद्धि दर आने वाले लम्बे समय तक बनाये रखने से है । दूसरे शब्दों में हरित क्रान्ति से उाभिप्राय : देश के सिंचित एवं असिंचित कृषि क्षेत्रों में अधिक उपज देने वाले संकर एवं बौनी किस्म के बीजों के उपयोग द्वारा कृषि उत्पादन में द्रुतगति से वृद्धि करना है । अधिक उत्पादन देने वाली किस्मों के बीजों द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करना, अथवा कृषि विकास कें क्षेत्र में अपनाये जा रहे नये तकनीकी ज्ञान को ही "हरित क्रान्ति" का नाम दिया गया है।

13.2.2 हरित क्रान्ति का प्रांर्दुभाव: भारत में हरित क्रान्ति वर्ष, 1966-67 के उपरान्त काल में आई है । यह हरित क्रान्ति, कृषि क्षेत्र में नये तकनीकी ज्ञान के आविष्कार एवं प्रसार का परिणाम है । हरित क्रान्ति के जन्मदाता का श्रेय नोबल पुरस्कार विजेता प्रो0 नोरमन बारलोग को जाना है।

देश में कृषि क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान का आविष्कार एवं उसका वृहत स्तर पर उपयोग उन्मत एवं अधिक उत्पादन देने वाले संकर एवं बोने किस्म के बीजों का आविष्कार, विभिन्न उर्वरकों का अधिक मात्रा में उत्पादन एवं संतुलित मात्रा में उपयोग, सिचाई सुविंधाओ का विकास, कीटनाशक दवाईयों का उपयोग, कृषि क्षेत्र में उन्नत औजार एवं मशीनों का अधिकाधिक उपयोग, कृषि में विद्युतीकरण, कृषि क्षेत्र में ऋण का विस्तार, आदि के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप वर्ष 1966-67 कें उपरान्त काल में उत्पादन में.तीव्र गति से वृद्धि हुई हैं । उत्पादन वृद्धि की इस असाधारण गतिदर को देश के कृषि वैज्ञानिकों ने हरित क्रान्ति का नाम दिया है । इस प्रकार हरित क्रान्ति का प्रार्दुभाव देश मे वर्प 1966-67 के उपरान्त काल में हुआ है।

13.2.3 हरित क्रान्ति के अवयव: हरित क्रान्ति का प्रमुख अवयव अधिक उत्पादन देने वाली बौनी एवं संकर किस्म के उन्मत बीजों का आविष्कार है । इनके आविष्कार एवं उपयोग से भूमि की उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ फार्म पर फसल गहनता में भी वृद्धि हुई है । कम समय मे पकने वाली किस्मों के आविष्कार के कारण कृषक अब वर्ष में दो फसलों के स्थान पर बान एवं बार फसल या लन म सक्षम हो गया है । इस प्रकार प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से वर्ष में कृषि उत्पादन की प्राप्त उत्पादन मात्रा पहले की अपेक्षा कई गुना प्राप्त होने लग गई है । उन्नत किस्म के बीजों में कृषि करने

के लिए सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि, उर्वरकों की खपत की मात्रा में वृद्धि, फसल सरक्षण उपाय अपनाने, कृषि कार्यो का समय एवं उचित दक्षता से पूरा करने के लिए कृषि राजा एवं मशीनों का उपयोग भी आवश्यक हो गया है । कृषि उत्पादन में वृद्धि की यह असाधारण गति, इन सभी उपायों के सम्मिलित प्रयास का प्रतिफल है । दूसरे शब्दों में इन उपायों के एक पैकेज के रूप में ही अपनाने से कृषि उत्पादन में यह वृद्धि दर प्राप्त हो पाई है। अत हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव निम्न है -

1. अधिक उपज देने वाले संकर एवं बौनी किस्मों कें उन्मत बीजों का उपयोग ।
2. बहु फसलीय कार्यक्रम का विस्तार ।
3. उर्वरकों का उचित समय पर सिफारिश मात्रा' में सन्तुलित रूप मे, उपयोग ।
4. सिंचाई सुविधाओं का विकास ।
5. फसल संरक्षण उपायों का अपनाना ।
6. कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आवश्यक आधारभूत सुविधाओं जैसे कृषि ऋण की उपलब्धि, कृषि विपणन के लिए परिवहन, संग्रहण एवं मण्डी सुविधाओं का विकास, आदि ।
7. कृषको उत्पाद की प्रेरणादायक कीमतें प्रदान करना ।
8. कृषि शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान सुविधाओं का विकास ।
9. कृषि क्षेत्र में विद्यूत का प्रसार।

हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के पूर्व, कृषक फार्म पर उत्पादन बढ़ाने के लिए पुरानी विधियों, फार्म पर उत्पादित बीज एवं खाद तथा उत्पादन वृद्धि के अन्य साधनों का कम मात्रा में उपयोग करते थे; जिसके कारण उन्हें भूमि के प्रति इकाई क्षेत्र से उत्पादन की मात्रा कम प्राप्त होती थी । हरित क्रान्ति के कारण कृषक निश्चिता (Stagnation) की स्थिति से बाहर जाकर गतिशीलता के मात्र में प्रवेश कर गये है ।

13.2.4 हरित क्रान्ति का कृषि क्षेत्र पर प्रभाव : हरित क्रान्ति के फलस्वरूप देश के सभी क्षेत्रों के सभी जोत कृषको को लाभ प्राप्त हुआ है । यह लाभ उनको फार्म पर प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से उत्पादकता एवं आय में वृद्धि के कारण प्राप्त होता है । लेकिन यह लाभ विभिन्न कृषको को उनके द्वारा प्रायोगित ज्ञान के स्तर की विभिन्नता के कारण समान मात्रा में प्राप्त नहीं होकर, अपनाये गये तकनीकी ज्ञान स्तर की विभिन्नता कें कारण विभिन्न मात्रा में प्राप्त होता है । अधिक लाभ प्राप्त होने वाले एवं कम लाभ प्राप्त होने वाले दोनों ही प्रकार के कृषक हरित क्रान्ति के प्रति जागरूक है । आय की असमानता ने सामाजिक विषमताओं को भी जन्म दिया है । अतः यहाँ पर हरित क्रान्ति के उपरोक्त दोनों प्रकार के प्रभावों की विवेचना की जा रही है ।

हरित क्रान्ति का कृषि क्षेत्र पर आने वाले प्रभाव को निम्न दो, श्रेणियों में विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता है : -

1. आर्थिक प्रभाव (Economic Impact)

अ. कृषि उत्पादों की उत्पादकता में वृद्धि ।

ब. क्षीर उत्पादन में वृद्धि

2. सामाजिक प्रभाव (Sociological Impact)

अ कृषकों की व्यक्तिगत आय असमानता में वृद्धि।

ब. विभिन्न क्षेत्र के कृषकों की आय असमानता में वृद्धि।

हरित क्रान्ति का आर्थिक प्रभाव : हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि उत्पादको को प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र से प्राप्त उत्पादकता एवं अल्पकाल में पकने वाली किस्मों के आविष्कार के कारण फसल गहनता में वृद्धि के कारण प्रति फार्म प्राप्त उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादों की उत्पादन लागत में कमी आई है तथा कृषकों को अपने फार्म क्षेत्र से अधिक शुद्ध लाभ की राशि प्राप्त होने लग-गई है। इस प्रकार कृषकों के आर्थिक स्तर में सुधार हुआ है। इन्हें कृषि क्षेत्र में हरित क्रान्ति का आर्थिक प्रभाव कहा गया है।

(1) कृषि उत्पादों की उत्पादकता में वृद्धि

हरित क्रान्ति का प्रथम आर्थिक प्रभाव, कृषि उत्पादों की प्रति हैक्टर भूमि के क्षेत्र से प्राप्त उत्पादकता स्तर में वृद्धि होना है। निम्न सारणी में भारत में विभिन्न फसलों की विभिन्न काल में भूमि के प्रति हैक्टर क्षेत्र सें प्राप्त उत्पादकता प्रदर्शित का गई है।

सारणी-13.1 भारत में विभिन्न फसलों की उत्पादकता

(किलोग्राम प्रति हैक्टर)

फसल	वर्ष							
	1950-51	1965-66	1969-70	1975-76	1980-81	1984-85	1985-86	1994-95
गेहू	663	827	1209	1410	1630	1870	2046	2550
चावल	668	-	1073	1235	1336	1417	1368	1920
ज्वार	-	522	591	660	713	633	780	
बाजरा	-	-	426	496	458	569	344	
मक्का	-	-	968	1203	1139	146	1146	1490
अनाज	-	865	1041	1142	1265	1323		
दलहन	-	-	531	533	473	526	544	-
मूँगफली	-	720	935	736	898	719	1040	
कपास	88	122	138	132	196	197	246	

Source: Indian Agriculture in Brief ,Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi - Various issues

सारणी से स्पष्ट है कि हरित क्रान्ति के बाद के वर्षो में देश मैं विभिन्न फसलों की उत्पादकता के स्तर में विशेष दर से वृद्धि हुई है। यह वृद्धि दर खाद्यानों में अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक हुई हैं। गैर खाद्यानों वाली फसलों की अपेक्षा उत्पादकता में वद्धि की दर कम है। खाद्यानों में गेहूँ एवं चावल की उत्पादकता में वृद्धि की गति अन्य खाद्यान्नों जैसे जार, बाजरा, मक्का एवं जौ की अपेक्षा अधिक है। इसी कारण अनेक वैज्ञानिकों ने इसे हरित क्रान्ति के स्थान पर गेहूँ क्रान्ति से भी सम्बोधित किया है।

(2) कृषि उत्पादन मे, वृद्धि

हरित क्रान्ति का दूसरा आर्थिक प्रभाव क्षेत्र मे, कुल उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होना है। हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के उपरान्त देश में कृषि उत्पादन की कुल मात्रा में तीव गति से वद्धि है जो सारणी 13.2 से स्पष्ट है -

सारणी-13.2 देश में खाद्यानों का उत्पादन

(मिलियन टन)

वर्ष	कुल खाद्यान्न उत्पादन	चावल उत्पादन	गेहू उत्पादन
1950-51	5092	-	6.46
1960-61	82.02	-	-
1965-66	72.347	-	10.39
1970-71	108.422	42.23	23.83
1975-76	121.030	48.74	28.85
1980-81	129.90	55.63	36.31
1982-83	129.520	47.12	42.79
1983-84	152.037	60.10	45.48
1985-86	150.440	63.82	47.05
1986-87	143.420	60.56	44.32
1987-88	138.410	56.43	45.10
1990-91	176.000	75.00	55.0
1996-97	191.000	81.00	65.0
1997-98	192.004	82.03	65.9
1998-99(Extimate)	195.002	82.02	69.1

वर्ष 1965-66 के उपरान्त कुल खाद्यानों के उत्पादन में तव्र से वृद्धि 'हुई है, जिसका प्रमुख श्रेय हरित क्रान्ति को जाता है । खाद्यान्नों का उत्पादन स्तर 1965-66 में 72.347 मिलियन टन था जो बढ़कर 1970-71 में 108.422 टन, 1975-76 में 121.03 मिलियन टन, 1980-81 में 129-590 मिलियन टन " 1985-86 में 130-440 मिलियन टन हो गया । 1996-97 में कुल खाद्यात्र उत्पादन 191 मिलियन टन हो गया था जो 129 1998-99 में 195.2 मिलियन टन हो जाने का है । देश में सूखा के कारण वर्ष 1986-87 एवं 1987-88 में खाद्यान्न उत्पादन में आई है । इस प्रकार पिछले 20 वर्षों में खाद्यानों के उत्पादन स्तर में 100 प्रतिशत से वृद्धि हुई है । इस शताब्दी के अन्त तक देश की 95 करोड़ जनसंख्या के लिए खाद्यान्न आवश्यकत 200 मिलियन टन होने का अनुमान है जों आशा है कि हरित क्रान्ति के प्राप्त हो सकेगी ।

खाद्यान्नों के अतर्गत सवांधिक उत्पादन -वृद्धि गेंहू के उत्पादन में हुई है । गेहू का उत्पादन वर्ष 1965-66 में 10.39 मिलियन टन था, वह बढकर 1996-97 में 65 मिलियन टन पहुँच गया अर्थात् उत्पादन में 6 गुना से अधिक वृद्धि हुई है वर्ष 1998-99 में गेंहूँ का उत्पादन 69 मिलियन टन होने की संभावना है । ऐसा संसार के इतिहास में अद्वितीय है । उपरोक्त काल में धान (चावल) एवं मोटे अनाजों के उत्पादन में भी विशेष दर से वृद्धि हुई है । दलहन एवं तिलहन फसलों के उत्पादन में विशेष वृद्धि नही हुई है ।

13.2.5 हरित क्रान्ति का सामाजिक प्रभाव: हरित क्रान्ति के उपरोक्त आर्थिक प्रभावों के फलस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में निम्न सामाजिक विषमताएं भी उत्पन्न हो गई है जिनके कारण विभिन्न जोन स्तर के कृषकों एवं विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों में वैमनस्यता की भावना को बढ़ावा मिलता है । हरित क्रान्ति के सामाजिक क्षेत्र में आनेवाले कुप्रभाव निम्न दो श्रेणी में विभक्त किये गये है:

(1) कृषकों की व्यक्तिगत आय असमानता में वृद्धि

हरित क्रान्ति के कारण वर्तमान में व्याप्त दीर्घ एवं लघु जोत कृषकों अथवा धनी एवं निर्धन वर्ग कृषकों के मध्य पाये जाने वाली आय असमानता में वृद्धि हुई है । हरित क्रान्ति के फलस्वरूप धनी कृषक अधिक धनी हो गये है और गरीब कृषक उसी आय स्तर पर रह जाने से दोनों वर्गो के कृषकों के मध्य पाई जाने वाली आय के अन्तर में वृद्धि हुई है ।

वैज्ञानिकों का मानना है कि नया तकनीकी ज्ञान स्तर अथवा हरित क्रान्ति उत्पादन के पैमाने के प्रति उदासीन (Neutral to Scale) होता है । अर्थात् सभी जोत स्तर के कृषक तकनीकी ज्ञान के उपयोग से समान उत्पादकता स्तर प्राप्त कर सकते है । तकनीकी दृष्टिकोण से वैज्ञानिकों का यह दृष्टिकोण सही है, लेकिन संस्थागत कारणों से बड़े कृषक हरित क्रान्ति से वास्तविक परिस्थिति में अधिक लाभ प्राप्त कर पाने में सक्षम होते है । मध्यम एवं लघु जोत कृषकों को दीर्घ जीत कृषकों के समान मात्रा में लाभ प्राप्त नहीं होता है । इस प्रकार के अन्तर का प्रमुख कारण नये तकनीकी ज्ञान के उपयोग में काफी मात्रा में पूँजी का निवेश होना है । नये तकनीकी ज्ञान में उन्मत बीज, आवश्यक मात्रा मे उर्वरक एवं कटिनश्ट्टि दवाईयाँ, सिंचाई के लिए विद्युत का उपयोग, उन्मत कृषि यन्त्रों की आवश्यकता, आदि के फलस्वरूप फसलों के कृषित करने पर प्रति हैक्टर व्यय राशि अधिक आती है। उत्पादन के विभिन्न निविष्ट सम्मिलित रूप में (पैकेज) उपयोग करने से ही आवश्यक उत्पादन स्तर या आय प्राप्त कराने में सदनम होतै है । पूँजी का इतनी अधिक मात्रा में निवेश करना, लघु एवं मध्यम जोत अथवा निर्धन कृषकों के लिए संभव नहीं होता है क्योंकि उनके पास संचय की गई धनराशि का अभाव होता है । साथ ही इन कृषकों को संस्थागत साधनों से प्रतिभूत के अभाव में आवश्यक राशि में उन सुविधा भी उपलब्ध नई हो पाती है । अतः आवश्यक राशि में धन के अभाव में हरित क्रान्ति का पूर्ण लाभ सीमान्त, लघु एवं मध्यम जोत कृषकों अथवा निर्धन कृषकों को नही मिल पाता है, जबकि दीर्घ जोत कृषक या धनी कृषक संस्थागत - साधनों से आवश्यक राशि में ऋण प्राप्त करने में सक्षम होते है और उनके पास पूर्व बचत की राशि भी होती है जिन्हें वे कृषि में निवेश करके अधिक लाभ कमा पाते है । इस प्रकार हरित क्रान्ति के कारण वास्तविक परिस्थिति में विभिन्न स्तर के कृषकों को प्राप्त होने वाले लाभ की कुल राशि में अन्तर होता है । जिसके कारण धनी कृषक की अपेक्षा अधिक धनी एवं निर्धन कृषक -पहले की अपेक्षा निर्धन होने से, दोनों स्तर के कृषकों के मध्य पाये जाने वाली आय के अन्तर में निरन्तर वृद्धि हुई हैं । कृषक समाज धनी एवं निर्धन वर्ग में विभक्त होते जा रहा है । इस आय असमानता की बढ़ती हुई खाई ने उनमें आपस में वैमनस्यता की भावना जागृत कर दी है ।

नये तकनीकी ज्ञान स्तर के उपयोग में जोखिम की अधिकता के कारण, लघु एवं निर्धन वर्ग के कृषक जोखिम वहन अपना क्षमता कम होने के कारण, इस ज्ञन को ऐसे अपनाते है । जबकि दीर्घ जोत कृषक या धनी कृषक कृषि प्रसार अधिकारीयों से प्राप्त के आधार पर शीघ्र अपना पाने में सक्षम होते है । इस प्रकार नये ज्ञान को सर्वप्रथम अपनाने वाले कृषक (Early adopters), देर से अपनाने

वाले (laggards) की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त ही नहीं करते है, बल्कि लाभ की राशि भी बहुत पहले प्राप्त करते है । अन्य कृषक जब इस ज्ञान स्तर को अपना बनाते है तो प्रति बढ़ने के कारण प्रति इकाई लाभ कम होता जाता है । अतः लघु एवं निर्धन वर्ग कृषकों को कम प्राप्त होने के साथ-साथ, उन्हे लाभ देर से भी प्राप्त होता है जिससे दोनों वर्गों के कृषकों ' कट की खाई अत्याधिक विस्तृत होती जा रही हैं ।

(2) विभिन्न क्षेत्रों के क्षको की आय असमानता मे वृद्धि (Regional Disparities of the Farmers)

नये तकनीकी ज्ञान अर्थात् हरित क्रान्ति का दूसरा सामाजिक कुप्रभाव देश के विभिन्न राज्यों के कृषकों अथवा एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों के कृषकों की आय असमानता में वृद्धि करना है । हरित क्रान्ति का अपनाना उन ही क्षेत्रों में संभव हो सका है, जहाँ पर पर्याप्त एवं समुचित सिंचाई सुविधायें उपलब्ध है। पर्याप्त सिंचाई सुविधा नहीं होने वाले' क्षेत्रों अर्थात् सूखे क्षेत्रों में उन्मत एवं संकर बीज एवं उर्वरकों का उपयोग संभव नहीं होता है । सिंचाई की सुविधा देश के सभी राज्यों एवं राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में समान नही है । वर्तमान में देश के 30 प्रतिशत क्षेत्र में ही सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है एवं शेष 70 प्रतिशत क्षेत्र कृषि उत्पादन के लिए वर्ग पर ही निर्भर है । उदाहरण के लिए पंजाब एवं हरियाणा राज्य में सिचाई की सुविधा अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक है । इसी प्रकार राजस्थान राज्य के श्रीगंगानगर एवं कोटा जिलों में सिंचाई की पर्याप्त सुविधा नहरों के विस्तार के कारण विद्यमान है, जबकि पश्चिमी राजस्थान के जिलो में सिंचाई सुविधाओं का अभाव है । इस कारण उन राज्यों एवं क्षेत्रों के कृषकों को जहाँ पर पर्याप्त सिंचाई सुविधा विद्यमान है, आय अधिक प्राप्त होती है । तथा सूखाग्रस्त एवं कम सिंचाई वाले क्षेत्रों में हरित क्रान्ति का प्रभाव कम अथवा नगन्य है । इस प्रकर विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध सिचाई सुविधा के कारण क्षैत्रिक आय असमानता में भी वुद्धि हुई है । जो क्षेत्र ' पहले समृद्वशील, वे हरित क्रान्ति के प्रार्दुभाव के कारण अधिक समृद्शाही हो गये है और पिछड़े राज्याक्षेत्र अधिक पिछड़ गये हैं । इस प्रकार हरित क्रान्ति के आर्थिक प्रभाव के साथ-साथ देश में सामाजिक कुप्रभाव भी आये है ।

देश में खाद्यानों की कमी एवं बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यानों, की आपूर्ति में वृद्धि करने के लिए हरित क्रान्ति का आना देश के लिए वरदान साबित हुआ है । इसी हरित क्रान्ति से हम पूर्ण आशान्वित है कि आने वाले समय में उत्पादन में और अधिक वृद्धि करके बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न आवश्यकता की पूर्ति करके देश खाद्यान्न उत्पादन में आत्म-निर्भर रह सकेगा ।

13.2.6 हरित क्रान्ति का कवि श्रम पर प्रभाव : भारतीय कृषि में उन्नत बीज, तकनीकी ज्ञान एवं यंत्रीकण का उपयोग पिछले दो दशकों से निरन्तर बढ़ता जा रहा है । परिणाम स्वरूप प्रति इकाई भूमि के क्षेत्र की उत्पादकता एवं आय में वृद्धि हुए है। लेकिन इन सबके उपयोग से कृषि श्रम की माँग पर पड़ने वाले प्रभावों के संबंध में अनेक भ्रान्तियॉ व्याप्त है । कुछ व्यक्तियों का मत है कि कृषि में यन्त्रीकरण को अपनाने से श्रमिकों में बेरोजगारी बढ़ती है जो कि भारत जैसे अधिक श्रमशक्ति वाले देश के लिए उचित नहीं है । व्यक्तियों का मत है कि कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने सें भूमि की उत्पादकता में वृद्धि, है जिससे श्रम कीब मांग में वृद्धि होती है एवं उपलब्ध रोजगार में वृद्धि होती है। कृषि में मात्र यन्त्रीकरण अपनाने से उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है बल्कि उन्मत बीज, उर्वरक, सिंचाई

के जल, कृषि में उन्नत यन्त्रों एवं नए तकनीकी ज्ञान के सम्मिलित उपयोग से उत्पादन वृद्धि होती है । अतः.इस भाग में हरित क्रान्ति के भिन्न अवयवों के सामाजिक उपयोग के कारण कृषि श्रम पर आने वाले प्रभाव का वर्णन किया गया है।

हरित क्रान्ति का कृषि श्रम पर दो प्रकार का प्रभाव आता है -

(1) प्रत्यक्ष प्रभाव- उन्मत बीजों के उपयोग नए तकनीकी ज्ञान तथा कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने का कृषि श्रम की आवश्यकता पर आने वाला प्रभाव धनात्मक होता है, क्योंकि कम अवधि में पकने वाली किस्मों कों अपनाने से कृषक भूमि के एक इकाई 'क्षेत्र से वर्ष में 3 से 4 फसले सुगमता से लेकर बहु फसलीय कार्यक्रम अपना पाते है । इसमें फार्म फसल गहनता (cropping intensity') एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है । अधिक उत्पादन की मात्रा की कटाई, गहाई, ढुलाई के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है । इस प्रकार के आने वाले प्रभावों को प्रत्यक्ष प्रभावों की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है क्योंकि इस प्रकार के प्रभावों को सुगमता से आकलन किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कृषि आयोग के वृतांत से स्पष्ट है कि क्षेत्र में अधिक पैदावार देने वाले उन्नत किस्मों को लेने से देशी किस्मों की अपेक्षा 30 मानव दिवस प्रति एकड प्रति वर्ष श्रम की अधिक आवश्यकता होती है । इसी प्रकार बहु फसलीय कार्यक्रम के एक एकड़ भूमि क्षेत्र पर अपनाने से 26 मानव दिवस श्रम की अधिक आवश्यकता होता है । विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा किए गए अध्ययनों से भी ऐसे प्रमाण प्राप्त हुए है । श्रम की आवश्यकता में सभी जोत कृषकों के यहां वृद्धि होती है ।

(11) अप्रत्यक्ष प्रभाव-उन्नत बीजों एवं कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने से कृषि श्रम की माँग पर आने वाले दूसरे प्रकार के प्रभाव को अप्रत्यक्ष श्रेणी के होते है । फार्म पर उन्मत बीजों को अधिक मात्रा में उपयोग करने से सिंचाई, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयों का अधिक मात्रा में उपयोग करना होता है । कृषि में यन्त्रीकरण के अपनाने से कृषि यन्त्रों के निर्मित करने, विक्रय करने एवं उन्हें कार्यगत रखने के लिए श्रमिकों की अधिक आवश्यकता होती है । अत: उत्पादन साधनों की बढ़ती हुई आवश्यकता की की पूर्ति के लिए इनके उत्पादन विपणन आदि कार्यों के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है जिससे श्रम की कुल आवश्यकता में वृद्धि होती है । इस प्रकार अतिरिक्त श्रम की मात्रा में जो वृद्धि होती है वह अप्रत्यक्ष प्रभाव की श्रेणी में आती है क्योंकि इस प्रकार के प्रभावों के आकलन का कार्य कठिन होता है ।

अतः हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि श्रम की माँग में वृद्धि होती है । मांग में परिवर्तन के साथ-साथ श्रम की विभिन्न समय में होने वाली माँग की मात्रा में भी परिवर्तन होता है । श्रम की कम माँग वाले मौसम एवं अधिक मॉग वाले मौसम के रूप में भी परिवर्तन होता है तथा विभिन्न महीनों में श्रमिकों की मांग की असमानता भी कम हो जाती है ।

बोध प्रश्न

1. हरित क्रान्ति से क्या अभिप्राय है?
2. हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव कौन-कौन से है?
3. हरित क्रान्ति को "गेहूँ-क्रान्ति" के नाम से क्यों सम्बोधन किया जाता है?
4. हरित क्रान्ति के आर्थिक एवं सामाजिक प्रभावों की विवेचना कीजिए ।

13.3 सारांश

हरित क्रान्ति से तात्पर्य कृषि उत्पादन में अल्पकाल में विशेष गति से वृद्धि का होना तथा यह वृद्धि: दर लम्बे समय तक बने रखने से है। देश में हरित क्रान्ति का प्रार्दुभाव वर्ष । 1966-67 के उपरान्त काल में हुआ है और इसके जन्मदाता का श्रेय प्रोनारमन घोरलोग को है।

हरित क्रान्ति के प्रमुख अवयव-अधिक उपज देने वाले संकर एवं बौनी किमी के उन्मत बीज, बहुफसलीय कार्यक्रम, उर्वरकों का सन्तुलित मात्रा में उपयोग, सिंचाई सुविधाओं का विकास फसल संरक्षण उपायों का अपनाना, आधारभूत सुविधाओ का विकास, कृषकों को प्रेरणादायक कीमतें प्रदान करना, कृषि शिक्षा, प्रशिक्षण सुविधा एवं अनुसन्धान का विकास एवं कृषि क्षेत्र में विलुत प्रसार का होना है।

हरित क्रांति के कारण निम्न दो प्रकार के आर्थिक प्रभाव कृषि क्षेत्र में विद्युत प्रसार होना है :

(i). कृषि उत्पादों की उत्पादकता में वृद्धि होना।

(ii). कृषि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होना।

इन दोनों ही प्रभावों के कारण कृषकों की आय में वृद्धि हुई है। हरित क्रांति कें कारण आए सामाजिक प्रभाव भी निम्न दो प्रकार के होते है :

(i). कृषकों की व्यक्तिगत आय असमानता में वृद्धि होना।।

(ii). विभिन्न क्षेत्रों कें कृषकों की आय असमानता में वृद्धि होना।

हरित क्रान्ति के कारण कृषि श्रम की कुल माँग में भी वृद्धि हुई है तथा कृषि, श्रम के माँग के समय में भी परिवर्तन आया हैं।

13.4 शब्दावली

Green Revolution - Can be defined as a change from traditional farming to a production syndrome encompassing the use high yielding grain seed genotype, chemical fertilizers, non traditional farm management techniques and modern irrigation equipments and machinery

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं पात्य सामग्री

(i). अग्रवाल, एन.एल., भारतीय कृषि का अर्थतंत्र, राजस्थान हिन्दी यन्त्र अकादमी, प्लाट नं.1, मालाना संस्थानिक क्षेत्र जयपुर

(ii). Indian Journal of Agriculture Economics various issues

इकाई 14

भारतीय कृषि विकास की उपलब्धियां तथा कमियाँ

(Major Achievements of Agricultural Growth and the Deficiencies)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 नियोजन और कृषि विकास

14.2 कृषि विकास की उपलब्धियाँ

14.2.1 कृषि उत्पादन में वृद्धि

14.2.2 कृषि का आधुनिकीकरण

14.2.3 खाद्यान्न आत्मनिर्भरता

14.3 कृषि क्षेत्र में असन्तुलन व कमियाँ

14.3.1 कृषि उत्पादन की अस्थिरता

14.3.2 फसलवार असन्तुलन

14.3.3 क्षेत्रीय असंतुलन

14.3.4 कृषि विकास और सामाजिक न्याय

14.4 सारांश

14.5 शब्दावली

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.7 निबन्धात्मक प्रश्न

14.0 उद्देश्य

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार है । कुल श्रमिक का लगभग दो–तिहाई भाग कृषि क्षेत्र से जीविकोपार्जन कर रहा है और राष्ट्रीय आय का लगभग एक–तिहाई भाग कृषि क्षेत्र से ही प्राप्त होता है । कृषि क्षेत्र की उन्नति पर देश के करोड़ों लोगों का आर्थिक भविष्य निर्भर करता है । देश के आर्थिक विकास में भी कृषि की एक महत्वपूर्ण भूमिका है । यह कहना अतिशियोक्ति न होगी की भारत वर्ष के लोगों की खुशहाली और भारतीय अर्थ व्यवस्था की प्रगति भारतीय कृषि के विकास के बिना सम्भव नहीं है।

कृषि के विकास को भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं में एक केन्द्रस्थ स्थान दिया गया है । योजना काल में कृषि को एक गतिशीलता प्राप्त हुयी है और कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये है ।कृषि उत्पादन तेजी के साथ बढ़ा है और कृषि में आधुनिक तकनीक का काफी व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा हें । फिर भी कृषि क्षेत्र में असन्तुलन, असमानता और आसीरता की समस्यायें बनी हुयी है।

इस इकाई में हम योजनोत्तर काल में भारतीय कृषि की उपलब्धियों और उसकी कमियों की व्याख्या करेंगे । कृषि विकास को आंकने के कई आधार हो सकते है । कृषि उत्पदन में वृद्धि की दर

एक ऐसा ही प्रमुख आधार है । लेकिन कृषि क्षेत्र की उपलब्धियों को आकने का सही और व्यापक आधार यह होगा कि तुम यह देखें कि कहाँ तक कृषि क्षेत्र के विकास ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख लक्ष्यों जैसे तोव वृद्धि दर, आत्म निर्भरता, अधिक रोजगार, क्षेत्रीय व वर्गीय असमानताओं में कमी, आदि को प्राप्त करने में सहायत की है । हमारा यह अध्ययन इसी कसौटी को ध्यान में रखकर किया जायेगा।

इस इकाई में हम योजना काल में हु ये कृषि क्षेत्र के विकास पर एक विहगम दृष्टि डालेगे और उसकी कमियों की ओर संकेत करेगे । सबसे पहले हम योजनाओं में कृषि विकास की प्राथमिकता और नीति की चर्चा करेगें । उसके बाद हम आपको कृषि उत्पादन की वृद्धि दर तथा कृषि क्षेत्र की अन्य उपलब्धियों के बारे में बतायेगे । इकाई के अन्तिम खण्ड में कृषि क्षेत्र के महत्वपूर्ण असंतुलनों की ओर ध्यान आकर्षित किया जायेगा तथा कृषि विकास और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध को देखा जायेगा।

इस इकाई के अध्ययन से आपको भारतीय कृषि की मुख्य उपलब्धिया ज्ञान हो सकेगा तथा भावी कृषि विकास नीति के सम्बन्ध के कुछ सोचने का मौका मिलेगा ।

14.1 नियोजन और कृषि विकास

स्वतन्त्रत प्राप्ति के समय भारतीय कृषि एक पिछड़ी हु यी व अवरोध की स्थिति में थी । कृषि की पुरातन तकनीक सदियों से चली आ रही थी और औसत पैदावार बहु त कम थी । करोड़ों कृषक दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे थे । पंचवर्षीय योजनाओं में देश के आर्म्रिक विकास में कृषि की प्रमु ख भूमिका को स्वीकार किया गया तथा कृषि विकास के व्यापक कदम उठाये गये । प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के पुनर्सगठन को पूरा महत्व दिया गया तथा कुल योजना परिव्यय का लगभग 37 प्रतिशत कृषि व सिंचाई के लिये आबंटित किया गया । लेकिन यह आवटन दूसरी पंचवर्षीय योजना में केवल 21 प्रतिशत रह गया, जब औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी गयी । इस दौरान भारत की आयतित खाद्यान पर निर्भरता बढ़ती गयी और पुन : तीसरी योजना में कृषि और उद्योगों के सन्तुलित विकास की बात की गयी । तब से कृषि उत्पादन का विकास और ग्रामीण निर्धनता का उन्मूलन योजनाओं के मुख्य लक्ष्यों में रहे है, यद्यपि कृषि क्षेत्र को उतने संसाधन प्राप्त नहीं हो सके जितना कि वांछनीय था ।

योजना काल के प्रारम्भ में कृषि सुधार के लिये दो प्रकार के कार्यक्रमों पर बल दिया गया । एक तो संस्थात्मक ढाँचे में परिवर्तन जिसके अन्तर्गत भूमि सुधार सहकारिता और सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपनाये गये तथा दूसरा उत्पादन वृद्धि के कार्यक्रम जिसमें तकनीकी सुधार कृषिगत क्षेत्र का विस्तार और सिंचाई की योजनाओं पर बल दिया गया।

योजना काल के प्रथम दशक में खाद्यान उत्पादन में लगभग 60 प्रतिशत बढ़ोतरी हु यी, जिसका प्रमुख कारण कृषि के क्षेत्र में वृद्धि था । अतः यह अनुभव किया गया कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रमों पर अधिक जोर दिया जाय । अत: तीसरी पंचवर्षीय योजन में चयनित जिलों में सघन कृषि जिला कार्यक्रम (Integrated District Development Programme) प्रारम्भ किया गया । इस कार्यक्रम के अन्तर्गत चयनित जिलों में कृषि विकास के लिये आवश्यक सुविधाओं को एक साथ उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया गया।

छठवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में खाद्यान उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हु यी । 1965–66 के भयंकर दुर्भिक्ष से स्थिति और भी गम्भीर हो गयी । अतः सरकार को 'कृषि विकास की एक नवीन

नीति सोचने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस नीति के अन्तर्गत सिंचित क्षेत्रों में उन्नतशील बीजों तथा रसायनिक खाद्य और अन्य साधन उपलब्ध कराने पर बल दिया गया तथा कृषकों को उनके उत्पादन के लिये उचित मूल्य दिलाने की नीति अपनायी गयी । यही नवीन कृषि विकास नीति आगामी वर्षो में भारतीय कृषि के आधुनिकीकरण का आधार बनी । इस आधुनिक तकनीक के अपनाने से जो कृषि उत्पादन में वृद्धि हुयी इसी को हरित क्रांति के नाम से जाना जाता है जिसकी सफलता के लिये भारत को विश्वभर में सराहा गया ।

14.2 कृषि विकास की उपलब्धियाँ

14.2.1 कृषि उत्पादन में वृद्धि : नियोजन काल में कृषि उत्पादन में उत्साहवर्धक वृद्धि हुई है । कृषि उत्पादन का सूचनांक जो 1968–71 के औसत पर 100 था 1950 में 58.5 से बढ़कर 1988–86 में 158.4 हो गया। खाद्यान्न उत्पादन भी इस दौरान तीन गुने के लगभग बढ़ा । 1988–89 में लगभग 18.5 करोड़ टन खाद्यान उत्पादन की आशा है, जबकि 1950–51 में वह केवल 5.08 करोड़ टन था । 1949–50 से 1985–86 में कृषि उत्पादन की वृद्धि दर 2.64 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है । खाद्यान्न तथा गैर खाद्यान्न फसलों का उत्पादन भी लगभग इसी दर से बढ़ा है । यद्यपि कृषि उत्पादन की वृद्धि दर योजना के लक्ष्यों की तुलना में कम रही है फिर भी अपने आय में वह सन्तोषजनक है और जनसंख्या वृद्धि दर से कुछ अधिक रही है । कृषि विकास की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि और भी अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है जब हम यह देखते है कि ब्रिटिश शासन के दौरान (1891 से 1946 के बीच) कृषि उत्पादन की वृद्धि दर केवल 0.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, खाद्यान उत्पादन की 0.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष और गैर खाद्यान्न फसलों की 1.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष । अन्य देशों की तुलना में भी भारत में कृषि विकास की वृद्धि दर कम नही पायी गयी है ।

कृषि की वृद्धि दर का अध्ययन प्राय : दो कालों के आधार पर किया जाता है हरित क्रांति के पूर्व का काल और हरित क्रांति के बाद का काल । जैसा आप ऊपर देख चुके है हरित क्रांति का प्रारम्भ छठे दशक के मध्य से हुआ था । तालिका 14.1 में प्रमुख फसलों के क्षेत्र, उत्पादन तथा औसत पैदावार की वृद्धि दरें दीर्घ काल (1949–50 से 1983–84) तथा हरित क्रांति के काल (1967–68 से 1985–86) में दर्शायी गयी है । इस तालिका पर आपको गहन रूप से दृष्टि–पात करना चाहिये ।

इस तालिका से जो कुछ प्रमुख बिन्दु उभरते है वह इस प्रकार है । प्रथम, हरित क्रांति काल में व उसके पूर्व के काल में कृषि की उत्पादन की वृद्धि दर लगभग समान रही है । द्वितीय, हरित क्रांति के पूर्वकाल में उत्पादन वृद्धि में कृषि क्षेत्र के बढ़ने का अधिक योगदान था, जो अब कम हो गया हें । तृतीय, हरित क्रांति काल में औसत पैदावार अधिक तीव्रता से बढ़ी है, जो कृषि तकनीक के परिवर्तन का द्योतक है । चतुर्थ, विभिन्न फसलों की वृद्धि दर में काफी अन्तर रहे है ।

14.2.2 कृषि का आधुनिकीकरण: पिछले दशकों में कृषि की तकनीक और ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये है । कृषि क्षेत्र में आधुनिकीकरण (Modernization) और व्यापारी करण (Commercialization) की प्रवृत्तियाँ तेज हुयी है, सिंचाई की सेवाओं का काफी विस्तार हुआ है और फसल गहनता (Cropping Intensity) बढ़ी है। जैसा कि तालिका 14.2 में दर्शाया गया है कृषि में आधुनिक साधनों जैसे नये किस्म के –

तालिका 14.1 All–India Compound Growth Rates of Area, Production and Yield of Principal Crops -

(In per cent per annum)

Crop	1949-50 to 1985-86			1949-50 to 1964-65			1967-68 to 1985-86		
	Area	Production	Yield	Area	Production	Yield	Area	Production	Yield
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
Rice	0.90	2.52	1.60	1.33	3.49	2.13	0.65	2.54	1.92
Wheat	2.73	6.00	3.18	2.68	3.99	1.27	2.41	5.64	3.15
Jowar	-0.20	1.30	1.50	0.99	2.50	1.50	-0.69	1.65	2.36
Bajra	0.23	1.87	1.65	1.08	2.34	1.24	-0.85	0.19	0.85
Maize	1.72	2.57	0.84	2.66	3.87	1.18	-0.07	0.98	1.06
Ragi	0.19	1.73	1.54	0.84	3.08	2.22	0.26	2.14	1.90
Small Millets	-0.95	-1.09	-0.14	-0.30	-0.20	0.09	-2.18	-1.84	0.35
Barley	-2.29	-0.96	1.36	-0.64	-0.28	0.36	-4.72	-3.03	1.75
Coarse Cercals	-0.04	1.36	1.27	0.90	2.23	1.29	-0.94	0.66	1.55
Total Cercals	0.79	2.98	1.85	1.30	3.24	1.68	0.31	2.97	2.21
Gram	-0.56	0.03	0.51	1.64	2.66	0.54	-0.38	-0.21	0.15
Tur (Atha)	0.70	0.51	-0.19	0.57	-1.34	-1.90	1.23	1.93	0.69
Other Pulses	0.77	0.54	-0.23	2.07	1.28	-0.77	0.76	0.96	0.20
Total Pulses	0.32	0.32	0.17	1.90	1.39	-0.22	0.44	0.65	0.29
Total Foodgrains	0.69	2.64	1.73	1.41	2.93	1.43	0.34	2.74	2.30

Sugarcane	1.90	3.00	1.15	3.27	4.26	1.12	1.58	2.70	1.11
Groundnut	1.29	1.84	0.54	4.01	4.33	0.31	0.01	0.98	0.96
Sesamum	Neg	0.45	0.51	0.14	-0.32	-0.36	-0.46	0.97	1.45
Rapeseed & Mustard	1.72	3.27	1.53	2.97	3.36	0.37	1.25	3.17	1.89
Seven Oilseeds	1.04	2.05	0.81	2.64	3.24	0.13	0.30	1.74	1.43
Coconut	-	-	-	-	-	-	0.90	0.53	-0.37
Total Oilseeds	0.96	2.00	0.71	2.69	3.11	0.20	0.23	1.65	1.28
Cotton (Lint)	0.42	2.43	2.01	2.47	4.56	2.04	0.02	2.35	2.34
Jute & Mesta	1.01	1.63	0.66	3.86	4.20	0.73	1.09	2.68	1.32
Total Fibres	0.43	2.19	1.66	2.57	4.45	1.68	0.12	2.37	2.09
Potato	3.95	5.98	1.94	4.37	4.27	-0.11	3.82	6.99	3.05
Tobacco	0.70	2.16	1.47	1.66	2.79	0.96	0.05	2.15	2.11
Total Non-foodgrains	1.12	2.62	1.11	2.52	3.54	0.93	0.62	2.55	1.48
All Crops	0.78	2.64	1.54	1.61	3.13	1.30	0.41	2.68	2.03

Neg– Negligible.

Notes : 1. Seven Oilseeds include Groundnut, Sesamum. Rapessed & Mustard, Linseed, Castorsoed. Nigerseed and Sunflower.

2. Total Oilseeds include Seven Oilseeds, Coconut & Cottonseed.

Source: Directorate of Economics and Statistics, Area and Production of Principal Crops in India, 1985–86, Ministry of Agriculture, New Delhi.

तालिका 14.2 कृषि विकास के कुछ चयनित आंकड़े

वर्ष	प्रति हैक्टर खाद्यान उत्पादन (किलो ग्रा0)	फसल गहनता	शुद्ध सिंचित क्षेत्रफल (लाख है)	रासायनिक खाद की खपत (लाख टन)	उन्नतशील बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल (लाख है0 में)
1950–51	522	111.0	208.5	0.7	–
1955–56	605	114.0	227.6	1.6	–
1960–61	710	114.7	246.6	5.6	–
1965–66	629	114.0	263.4	7.8	–
1970–71	872	117.7	311.0	21.6	152.8
1975–76	944	121.0	345.9	29.0	318.9
1980–81	1023	123.5	388.0	55.2	450.0
1985–86	1175	126.4*	419.6*	84.7	554.2
1996–97	191	–	800	70	750
1997–98	192.43	–	–	–	–
1998–99	195.25	–	–	–	–

स्रोत : (1) कृषि मन्त्रालय, भारत मे मुख्य फसलों का क्षेत्रफल व उत्पादन नई दिल्ली (वार्षिक)

(2) वित्त मन्त्रालय आर्थिक सर्वेक्षण, नई दिल्ली (वार्षिक)

बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाईयों का प्रयोग बहुत तेजी से चढ़ा है, विशेषकर हरित क्रांति प्रारम्भ होने के पश्चात्। कृषि क्षेत्र में मशीनों और बिजली का प्रयोग भी काफी बढ़ा है । कृषि के आधुनिकीकरण में सरकार द्वारा किये गये विभिन्न प्रयासों की एक प्रमुख भूमिका रही है जिनमें विशेष उल्लेखनीय है सिंचाई सुविधाओं का विकास कृषि अनुसंन्धान तथा प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था तथा ऋण व साधनों मे वितरण व्यवस्था का प्रबन्ध यहाँ पर यह बात भी कह देना उचित होगा कि कृषि तकनीक का आधुनिकीकरण अभी कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है ।

14.2.3 खाद्यान्न आत्मनिर्भरता : हरित क्रांति की सफलता ने भारतीय अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है देश की खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भरता (Self Sufficiency in Food grains) । पांचवे व छठे दशक में हमको बड़ी मात्रा में खाद्यान्न बाहर से मंगाना पड़ता था और उसके लिये विदेशों से आर्थिक सहायता भी लेनी पड़ती थी । लेकिन पिछले दो दशकों से हम न केवल खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गये हैं वरन् हमारे पास खाद्यान्न का काफी बड़ा सुरक्षित कोष भी है जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने और मूल्यों को स्थिर रखने के काम आता है ।

14.3 कृषि क्षेत्र के असन्तुलन व कमियाँ

यद्यपि भारतीय कृषि की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण रही है, फिर भी उसमें काफी कमियाँ और असन्तुलन रहे हैं, कृषि के उत्पादन में अस्थिरता रही है, औसत पैदावार भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में

अभी बहुत कम है, कृषि क्षेत्र में आय व साधनों की असमानतायें बनी हुयी है तथा ग्रामीण गरीबी की समस्या गम्भीर बनी हुयी है और रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि कम हुई है । इन कमियों में से कुछ महत्वपूर्ण बातों की चर्चा हम कुछ विस्तार से करेंगे ।

14.3.1 कृषि उत्पादन की अस्थिरता : कृषि क्षेत्र की यह एक समस्या रही है कि कृषि उत्पादन में काफी अस्थिरता रही है । किसी वर्ष तो यह समस्या काफी गम्भीर हो गयी है । उदाहरणार्थ 1965–66 में खाद्यान उत्पादन 723 लाख टन रहा जो पिछले वर्ष के 893 लाख टन की तुलना में लगभग 20 प्रतिशत कम था । इसी प्रकार 1979–80 का खाद्यान्न उत्पादन पिछले वर्ष की तुलना में 17 प्रतिशत कम था । 1986–87 तथा 1987–88 के वर्ष भी कृषि की दृष्टि से खराब वर्ष थे । कृषि उत्पादन के परिवर्तन मुख्यतः औसत पैदावार के परिवर्तनों के कारण होते है । एक अध्ययन के अनुसार 1971–86 के बीच खाद्यान्न की औसत पैदावार में परिवर्तनशीलता का गुणांक (Coefficient of Variation) 12.57 प्रतिशत था । कृषि उत्पादन को अस्थिरता इस बात का द्योतक है कि अभी भी हमारी कृषि मुख्यतः वर्षा पर आधारित है । सिंचाई सुविधाओं के विस्तार के बावजूद अभी कृषि क्षेत्र का कुल 30 प्रतिशत सिंचित कृषि पर आधारित है । यह भी पाया गया है कि हरित क्रांति के पश्चात के काल में कृषि उत्पादन की अस्थिरता बढ़ी है ।

14.3.2 फसलवार असंतुलन : जैसा कि आप तालिका 1 से देखेगें विभिन फसलों के उत्पादन की वृद्धि दरों में काफी असंतुलन रहे हैं । सर्वाधिक तीव्र वृद्धि गेहूँ के उत्पादन में हुई है, लगभग 6.00 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से । चावल का उत्पादन 2–52 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा है । मोटे आनाजों की वृद्धि दर असंतोष जनक रही है और हरित क्रांति काल में उससे पूर्व के काल की तुलना में घट गयी है । कृषि विकास में एक विशेष असंतुलन जिस पर सबका ध्यान गया है वह है दलहन की पैदावार में अवरोध की स्थिति, जिससे प्रतिव्यक्ति प्रोटीन उपलब्धि काफी कम हो गयी है । दालों का उत्पादन पिछले लगभग 20 वर्षों से 112 लाख टन के आसपास ही रहा है ।

यही परिस्थिति और गैर खाद्यान्न फसलों के संदर्भ में भी देखने में आती है । सरसों को छोड़कर अन्य तिलहन फसलों के उत्पादन की दर भी काफी कम रही है । फलस्वरूप हमे कई सौ करोड़ रुपये के खाद्य तेलों का आयात करना पड़ रहा है । गन्ने और आलू की फसलों को छोड़कर अन्य और खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि भी कुछ ऐसी रही है जिसको सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता है ।

14.3.3 क्षेत्रीय असंतुलन : कृषि विकास की एक समस्या जो बहुचर्चित रही है वह है क्षेत्रीय असंतुलन की समस्या । जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं हरित क्रांति का प्रभाव अभी कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है । तालिका 14.3 में कृषि क्षेत्र के असंतुलनों के कुछ आंकड़े दिये गये हैं जैसा कि आप देखेगें देश के विभिन्न क्षेत्रों व राज्यों में कृषि विकास के स्तर में काफी असमानतायें हैं जो प्रति हैक्टेयर उत्पादकता, रसायनिक खादों के प्रयोग तथा सिंचाई सुविधाओं के अन्तरों से स्पष्ट होती है।

कृषि उत्पादन की वृद्धि दरों में हमको और भी अधिक अन्तर दिखायी पड़ते हैं । जैसा कि आय तालिका 14.3 से स्वयं देखेगें हरित क्रांति का प्रभाव उत्तरी भारत के कुछ प्रान्तों तक (विशेषकर पंजाब, हरियाणा, और उत्तर प्रदेश) सीमित रहा है । ये वे राज्य है जहाँ सिंचाई की अधिक सुविधायें उपलब्ध हैं और जहाँ गेहूँ की खेती अधिक होती है । 1960–63 और 1980–83 के बीच हुई कृषि उत्पादन

की वृद्धि का आधे से अधिक योगदान केवल इन्हीं तीन राज्यों के द्वारा किया गया है । आप यह भी देखेंगे

तालिका 14.3 कृषि में क्षेत्रीय असन्तुलन के आंकड़े

राज्य	प्रति हैक्टर उत्पादन (रू॰) 1980–83 स्थिर मूल्यों पर	1960–63 तथा 1980–83 के बीच वृद्धि दर (%) प्रतिवर्ष	1960–63 तथा 1980–83 के बीच उत्पादन वृद्धि में योगदान (%)	कुल सिंचित क्षेत्रफल(%) 1980–83	रासायनिक खाद प्रति हैक्टर (किलो) 1980–83
1. हरियाणा	1355	4.88	7.61	64.2	54
2. हिमाचल प्रदेश	–	2.23	0.53	–	–
3. जम्मू व कश्मीर	1345	4.58	1.30	40.8	27
4. पंजाब	2270	6.83	18.60	98.6	129
5. उत्तर प्रदेश	1215	3.51	25.00	45.1	52
उत्तरी क्षेत्र	1395	4.42	53.10	56.1	64
6. असम	1714	2.27	2.17	17.0	4
7. बिहार	921	0.60	1.64	33.2	20
8. उड़ीसा	888	0.37	0.68	22.7	10
9. प0 बंगाल	1453	1.17	3.15	28.6	37
पूर्वी क्षेत्र	1137	0.93	7.65	27.2	20
10. गुजरात	1033	2.73	6.76	27.1	42
11. मध्य प्रदेश	604	1.34	4.63	12.6	11
12. महाराष्ट्र	694	2.10	7.17	14.2	26
13. राजस्थान	445	3.14	5.76	25.2	9
केन्द्रीय क्षेत्र	651	2.17	24.30	18.3	19
14. आंध्रप्रदेश	1266	2.33	9.20	37.1	54
15. कर्नाटक	926	1.71	3.71	17.2	37
16. केरल	2146	0.70	0.34	14.8	39
17. तमिलनाडू	1676	0.62	1.72	51.3	79
दक्षिणी क्षेत्र	1308	1.59	15.00	31.6	52
भारतवर्ष	1037	2.44	100.00	31.0	36

स्रोत : Patterns in Indian Agricultural Development G.S. Bhalla and D.S. Tyagi (1989).

आप यह भी देखेंगे कि पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों के राज्यों में कृषि की वृद्धि दर बहुत कम रही है । गैर सिंचित क्षेत्रों के लिये हम अभी उस प्रकार की तकनीक विकसित नहीं कर पाये हैं जो सिंचित क्षेत्रों के लिये उपलब्ध है । सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धि के अतिरिक्त इन क्षेत्रीय असंतुलनों के अन्य

कारण भी हैं, जिनमें संस्थागत (कृषि में उत्पादन के सम्बन्ध), जनाकिक (छोटे आकार के खेत) व प्राकृतिक (वर्षा–बाढ़, सूखा) कारण विशेष उल्लेखनीय हैं ।

यदि आप जिला स्तर पर देखें तो आप कृषि क्षेत्र में इसी प्रकार के असन्तुलन पायेगें, जो न केवल समूचे देश के स्तर पर हैं, बल्कि प्रत्येक राज्य में भी देखने को मिलते हैं, इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण आंकडे तालिका 14.4 में दिये गये हैं । जैसा कि आप देखेगें देश के 281 जिलों, जिनका डा० भल्ला और डा० त्यागी ने अध्ययन किया था, में 89 जिलों की उत्पादकता का स्तर 1250 रुपये प्रति एकड़ से अधिक था। इन जिलों का कुल क्षेत्रफल में भाग केवल 27.3 प्रतिशत था, जबकि उत्पादन में उनका भाग 45.5 प्रतिशत था । इसके विपरीत 84 जिलों में उत्पादकता का स्तर 750 रु० प्रति हैक्टेयर से कम था और इन जिलों का उत्पादन में प्रतिशत भाग क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग का लगभग आधा ही था । आप यह भी देखेंगे कि जिला स्तर पर उत्पादकता के अन्तर आधुनिक साधनों के प्रयोग (रसायनिक खाद, ट्रैक्टर आदि) तथा सिंचाई की सुविधाओं के साथ जुड़े हुयेहैं । अतः स्पष्ट है कि जिन क्षेत्रों और राज्यों में सिंचाई की सुविधाओं और कृषि क्षेत्र के विकास में सरकारी और व्यक्तिगत स्तर पर अधिक व्यय किया गया है, ये कृषि के क्षेत्र में अधिक उन्नतिशील है ।

तालिका 14.4 जिला स्तर पर कृषि क्षेत्र की विषमतायें 1980-83

उत्पादकता रु०/हे०	कुल संख्या	क्षेत्रफल में %/भाग	उत्पादन में प्रतिशत भाग	रसायनिक खाद (किलो०/है०)	ट्रेक्टर (प्रति हजार)	कुल सिंचित क्षेत्रफल (प्रतिशत)
उच्च 1250 तथा अधिक	89	27.3	45.5	90.7	4.3	66.2
मध्यम 750 से 1250	108	40.6	37.9	35.0	1.4	37.8
निम्न 750 से कम	84	32.1	16.6	16.1	0.8	15.4
समस्त जिले	281	100	100.0	44.1	2.0	38.3

स्रोत : G.S. Bhalla and D.S. Tyagi (1989).

14.3.4 कृषि विकास और सामाजिक न्याय : हरित क्रांति की सामाजिक न्याय की दृष्टि से कड़ी आलोचना उसके प्रारम्भिक वर्षों से होती रही है । अनेक विद्वानों के विचार में हरित क्रांति का लाभ बडे और सम्पन्न किसानों को मिला है और उससे ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न वर्गों में असमानतायें बढ़ी हैं । पर यह एक विवाद का विषय रहा है । यह सही है कि आधुनिक तकनीक को अपनाने में अधिक साधनों की आवश्यकता थी, अतः बड़े और साधन सम्पन्न कृषक, जिनको ऋण तथा अन्य

बातों की भी अपेक्षाकृत अधिक उपलब्धि रही है, नयी तकनीक को अपनाने में अन्य कृषक वर्गों से आगे रहे । लेकिन अपने आप में नवीन तकनीक पैमाने के प्रतिफल के प्रति तटस्थ है । पिछले दशकों में छोटे किसानों ने भी व्यापक स्तर पर नवीन तकनीक को अपनाया है और वह भी कृषि के विकास से लाभान्वित हुये हैं ।

कृषि की नवीन तकनीक की यह भी आलोचना रही है कि इससे मशीनीकरण में वृद्धि हुई है। और रोजगार के स्तर में अधिक वृद्धि नहीं हुई है । यह सही है कि कृषि में उत्पादन वृद्धि की तुलना में रोजगार की वृद्धि सीमित दर पर हुयी है । फिर भी कुल मिलाकर कृषि में रोजगार का स्तर बढ़ा है और वास्तविक मजदूरी भी बढ़ी है, जिससे कृषि श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ है ।

कृषि उत्पादन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों के बावजूद भी हम यह कह सकते हैं कि अभी भी ग्रामवासियों की औसत आर्थिक स्थिति में बहुत उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और अभी भी गांवों की लगभग 40 प्रतिशत जनता (1983–84) गरीबी की रेखा के नीचे है । इसका एक कारण तो यह है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में विशेष उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई और दूसरे कृषि ढांचा (Agrarian Structure) मूल रूप से परिवर्तित नहीं हुआ है। यह सर्वविदित ही है कि अधिकतम जोत और भूम के पुनर्वितरण के उपायों को कोई विशेष सफलता नही मिली है । भूमि के वितरण की असमानतायें लगभग यथावत रही है । बटाई (Sub-Letting) भी मौखिक रूप से व्यापक है । इसके अतिरिक्त लघु और सीमान्त कृषकों और खेतिहर मजदूरों की संख्या में बड़ी मात्रा में वृद्धि हुई है । ग्रामीण क्षेत्रों में अर्द्धबेकारी और बेकारी (Under employment and unemployment) भी बढ़ी है ।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से कृषि विकास की उपलब्धियां काफी असंतोषजनक रही है ।

14.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह ज्ञात हुआ कि भारतीय कृषि जो वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक अवरोध की स्थिति में थी, योजना काल में तीव्रता से अग्रसर हुई है । सरकार के द्वारा कृषि विकास के जो कार्यक्रम अपनाये गये और कृषिकों के श्रम और लगन से कृषि उत्पादन तीव्रता के साथ बढ़ा है और कृषि का आधुनिकीकरण और व्यापारीकरण एक सीमा तक हुआ है । कृषि के विकास के फलस्वरूप हम खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो गये हैं । इससे सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने तथा मूल्यों पर अंकुश रखने में भी सहायता मिली है ।

इन उपलब्धियों के बावजूद भी कृषि क्षेत्र का विकास पूर्णतया संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। कृषि के विकास में अभी भी कई असंतुलन हैं जो कृषि के उत्पादन की अस्थिरता, तथा विभिन्न फसलों और क्षेत्रों के बीच वृद्धि दरों के अन्तरों में परिलक्षित होते हैं । सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी कृषि के विकास में कमियाँ रही हैं । कृषि विकास का लाभ समान रूप से सभी ग्रामीण वर्गों को नहीं मिला है । ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की समस्या बनी हुयी है हमारे कृषि के ढांचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है ।

आगामी पंचवर्षीय योजनाओं में हमें इन असंतुलनों की ओर ध्यान देना होगा। दलहन व तिलहन की फसलों के उत्पादन को बढ़ाने के विशेष प्रयत्न करने होंगे । इसी प्रकार पिछड़े क्षेत्रों और प्रान्तों, विशेषकर, असिंचित कृषि वाले क्षेत्रों में कृषि विकास कार्यक्रमों पर अधिक बल देना होगा । साथ ही

हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि छोटे कृषकों और खेतिहार मजदूरों की आर्थिक स्थिति में कैसे सुधार हो ।

14.5 शब्दावली

कृषि का ढांचा (Agrarian Structure)

कृषि क्षेत्र में उत्पादन के साधनों का वितरण तथा उत्पादन के सम्बन्धों का स्वरूप।

नवीन कृषि विकास रणनीति (New Agricultural Strategy)

छठवें दशक के मध्य में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिये अपनायी गयी नीति जिसमें कृषि की नवीन तकनीक–उन्नतशील बीज, रसायनिक खाद, सिंचाई को बढ़ावा देने पर बल दिया गया।

हरित क्रांति (Green Revolution)

नये उन्नतशील बीजों और नवीन तकनीक के प्रयोग से कृषि उत्पादन व उत्पादकता की वृद्धि।

कृषि का आधुनिकीकरण (Agricultural Modernization)

कृषि के क्षेत्र में उत्पादन के आधुनिक साधनों और तकनीक का प्रयोग।

कृषि का व्यापारीकरण (Commercialization of Agriculture)

कृषि के क्षेत्र में साधनों के क्रय व उत्पादन की बिक्री बाजार के माध्यम से होना।

खाद्यान्न आत्मनिर्भरता (Food Self Sufficiency)

खाद्यान्न की मांग को पूरा करने के लिए देश की अपनी क्षमता।

क्षेत्रीय असंतुलन (Regional imbalances)

विभिन राज्यों, क्षेत्रों व जिलों में कृषि की पैदावार और वृद्धि दर में पाये जाने वाले अन्तर

सामाजिक न्याय (Social Justice)

पिछड़े और कमजोर वर्गों की विकास के लाभों में समुचित भागीदारी।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए0 एन0 अग्रवाल, भारतीय कवि की समस्यायें।

रूद्र दत्त एवं सुन्दरम, भारतीय अर्थव्यवस्था

G.S. Bhalla and D.S. Tyagi, Patterns in Indian Agricultural Development - A District Level Study, Institute for Studies in Industrial Development, New Delhi, 1989.

Sheila Bhalla, 'Trends in Employment in Indian Agriculture, Land and Asset Distribution', Indian Journal of Agricultural Economics, Vol.42, No. 4, October-December 1987.

B.M. Bhatia, Indian Agricultural : A Policy Perspective, Sage Publications, New Delhi, 1988.

P.R. Brahmanand and V.R. Panchmukhi, The Development Process of the Indian Economy, Himalaya Publishing House, Bombay, 1987.

Indian Council of Social Science Research, Alternatives in Agricultural Development, Allied Publishers, New Delhi, 1980.

Indian Society of Agricultural Economics, Indian Agricultural Development Since Independence, New Delhi, Oxford and I.B.H., 1986.

V.K.R.V. Rao, 'Some Reflections on the Problems Facing Indian Agriculture', Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. 44, No. 4, October-December 1989.

14.7 निबन्धात्मक प्रश्न

(लगभग 200 शब्दों में उत्तर दें)

1. योजनाकाल में प्रारम्भ में भारतीय कृषि की अवस्था पर प्रकाश डालिये।
2. कृषि विकास की नवीन रणनीति से आप क्या समझते हैं?
3. हरित क्रांति का अर्थ और कारण बताइये।
4. योजनाकाल में कृषि विकास की क्या महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ रही हैं? (500 शब्द)
5. कृषि में प्रमुख क्षेत्रीय असंतुलनों व उनके कारणों पर प्रकाश डालिये।
6. क्या सामाजिक न्याय की दृष्टि से भारतीय कृषि की उपलब्धियाँ संतोषजनक रही हैं?

इकाई 15
खाद्यान्न आहरण तथा सुरक्षित भण्डार नीति
(Foodgrains Procurement and Buffer Stock Operation Policy)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 आहरण का अर्थ एवं प्रणाली
15.3 सुरक्षित भण्डार का अर्थ एवं उद्देश्य
15.4 भारत में खाद्यान नीति का प्रारम्भ एवं विकास
15.5 आहरण व भण्डार की प्रमुख प्रवृत्तियां
15.5.1 आहरण व भण्डार की कुल मात्रा
15.5.2 फसलवार वसूली
15.5.3 प्रान्तवार वसूली
15.6 आहरण और सुरक्षित भण्डार नीति के लाभ
15.7 आहरण और भण्डार नीति के दोष
15.8 सारांश
15.9 शब्दावली
15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.11 निबन्धात्मक प्रश्न

15.0 उद्देश्य

देश की जनता के लिये आवश्यक वस्तुओं को उचित मूल्यों पर उपलब्ध कराना एक कल्याणकारी राज्य का अनिवार्य कार्य माना जाता है । भारतवर्ष में भी प्रारंभ से ही हमारे देश की सरकार ने इस ओर आवश्यक कदम उठाये हैं । इस इकाई में हम आपको आवश्यक वस्तुओं के आहरण व उनके सुरक्षित भण्डार को रखने से संबंधित नीतियों व समस्याओं के बारे में बतायेंगे। क्योंकि विवरण प्रणाली का मुख्य क्षेत्र खाद्यान्न से संबंधित रहा है अतएव हमारी चर्चा भी मुख्यतः खाद्यानों की वसूली व भण्डारण से संबंधित रहेगी। हालांकि इन नीतियों का प्रयोग आवश्यकता की अन्य वस्तुओं यथा चीनी व मिट्टी का तेल आदि की व्यवस्था के लिये भी किया जाता है ।

प्रारंभ में हम आहरण तथा सुरीक्षत भण्डार के विचारों का अर्थ, उद्देश्य व प्रणाली को स्पष्ट करेंगे । तत्पश्चात् भारत में इन नीतियों के प्रारम्भ व विकास की चर्चा की जायेगी। उसके पश्चात हम आपका भारत में खाद्यान्न के आहरण व भण्डारण की प्रवृत्तियों के विभिन्न पहलुओं की जानकारी देंगे । अन्त में इन नीतियों के लाभ व दोषों की चर्चा की जायेगी । इस इकाई के अध्ययन से आपको

भारत सरकार की खाद्यान्न नीति के महत्वपूर्ण पहलुओं का ज्ञान होगा, जिससे आप व आपके परिवार के लोग प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं ।

15.1 प्रस्तावना

कृषि क्षेत्र की एक सामान्य विशेषता है कृषि उत्पादन में बड़े स्तर के उतार चढ़ाव जो कृषि पदार्थों के मूल्यों में उतार चढ़ाव उत्पन्न करते हैं । प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होने वाले खाद्यान्न संकट को धन लोलुप व्यापारियों की जमाखोरी और भी गम्भीर बना देती है । ऐसे समय में समाज के निर्बल वर्गों को बड़े कठिन समय का सामना करना पड़ता है । ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार खाद्यान्न बाजार में हस्तक्षेप करे और मूल्यों के स्तरीकरण तथा निर्बल वर्गों के संरक्षण के लिये आवश्यक कदम उठाये ।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा उचित मूल्यों पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुयें जनता को उपलब्ध करायी जा सकती हैं । ऐसी सार्वजनिक प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार आवश्यक वस्तुओं का आहरण करे । तथा एक सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) का निर्माण करें ।

15.2 आहरण का अर्थ एवं प्रणाली

जैसा हमने अभी उल्लेख किया सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में करना आवश्यक है । यह पूर्ति व्यवस्था दो स्रोतों से की जा सकती है– आंतरिक आहरण (वसूली) के द्वारा तथा विदेशों से आयात के द्वारा । आयात विदेशी बाजारों में क्रय पर आधारित हो सकते हैं अथवा ऋण या विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त किये जा सकते हैं । हालांकि कुछ परिस्थितियों में आयात अनिवार्य हो सकते हैं, फिर भी यथासम्भव सार्वजनिक वितरण प्रणाली को आंतरिक आहरण पर ही आधारित होना वांछनीय होता है । आहरण अथवा वसूली का तात्पर्य होता है कि एक पूर्वानिश्चित मात्रा में खाद्यान्न अथवा अन्य पदार्थों को खुले बाजार अथवा अनिवार्य बिक्री के आधार पर प्राप्त करना । आवश्यकता के अनुसार सरकार अपने आहरण की क्रिया को खुले बाजार में क्रय तक सीमित रख सकती है अथवा समूचे बिक्रीकृत अतिरेक (Marketed Surplus) को प्राप्त करने का प्रयास कर सकती है । यह खरीद ऐच्छिक बिक्री पर आधारित हो सकती है अथवा अनिवार्य बिक्री पर ।

आहरण प्रक्रिया के कई रूप हो सकते हैं :–

(अ) एकाधिकारिक क्रय (Monopoly Purchase) जिसके अधीन क्रय करने का अधिकार केवल सरकार को होता है ।

(ब) उत्पादकर्ताओं से अनिवार्य वसूली जिसके अधीन वस्तु के उत्पादनकर्ताओं को एक निश्चित मात्रा व अनुपात में वस्तु को सरकार को बेचना पड़ता है ।

(स) व्यापारियों अथवा मिलों से वसूली जिसके आधीन व्यापारियों अथवा मिलों से उनके द्वारा खरीदे माल का एक निश्चित प्रतिशत सरकार को बेचना होता है ।

(द) प्रथम क्रय का अधिकारी जिसके द्वारा सर्वप्रथम माल सरकार को बेचा जाता है और बचा माल बाजार में बेचा जा सकता है ।

(य) खुले बाजार से खरीद जिसके आधीन सरकार खुले बाजार में प्रचलित मूल्यों पर माल को खरीदती है।

समय–समय पर सरकार परिस्थिति की अनुकूलता को देखते हुए उपरोक्त एक या अधिक तरीकों से वस्तुओं का आहरण करती है ।

15.3 सुरक्षित भण्डार का अर्थ व उद्देश्य

आहरण प्रक्रिया के द्वारा सरकार भण्डार जमा करती है उसका प्रयोग बाजार में पूर्ति व मूल्य की स्थिरता बनाये रखने के लिये किया जाता है । उत्पादन आधिक्य के समय सरकार वस्तुओं का आहरण करके भण्डार में वृद्धि करती है और बाजार में पूर्ति में कमी होने के समय सुरक्षित भण्डार से माल निकालकर उपलब्धि को बढ़ाती है ।

सुरक्षित भण्डार रखने के कई उद्देश्य हो सकते हैं –

(क) वस्तुओं की पूर्ति तथा मूल्यों में उच्चावचनों के प्रभावों को न्यूनतम करना ।

(ख) व्यापारियों द्वारा जमाखोरी व सट्टे बाजारी को नियंत्रित करना ।

(ग) उपभोक्ताओं के लिये आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि की व्यवस्था करना तथा दूसरी ओर उत्पादनकर्ताओं को उचित मूल्य प्रदान करना ।

(घ) जनता में सरकार की दुर्भिक्ष आदि संकटों से निपटने की क्षमता में विश्वास उत्पन कराना तथा अन्य सरकारी नीतियों में सहायता पहुंचाना ।

सुरक्षित भण्डार शब्द का प्रयोग हम अक्सर दो अर्थों में करते हैं, जिनमें भेद करना उचित होगा । व्यापक अर्थ में सुरक्षित भण्डार समस्त प्रचालन भण्डार (Operating Stock) के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, जिससे सार्वजनिक वितरण प्रणली को चलाने के लिये माल प्रदान किया जाता है संकुचित अर्थ में सुरक्षित भण्डार का प्रयोग एक संकट कालीन भण्डार के अर्थ में किया जाता है । संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने के लिये एक न्यूनतम भण्डार रखना आवश्यक है, जिसका प्रयोग सामान्य रूप से नहीं किया जाता है । इस दृष्टि से सुरक्षित भण्डार को कुल आहरण व कुल वितरण के अन्तर के रूप में देखा जा सकता है ।

15.4 भारत में खाद्यान्न नीति)Food Policy) का प्रारम्भ व विकास

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले काल में भारत सरकार की नीति स्वतंत्र व्यापार पर आधारित थी। पहली बार 1943 में बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में सरकार ने खाद्यान्न के बाजार में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया ताकि खाद्यान्न की मांग और पूर्ति में सामन्जस्य स्थापित किया जा सके तथा उनके मूल्यों को स्थिर रखा जा सके । तब वे खाद्यान्न नीति, सरकारी नीति का एक अभिन्न अंग बन गयी है, जबकि खाद्यान्न की स्थिति में काफी परिवर्तन आये हैं ।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली एक कल्याणकारी राज्य की नीतियों का अंतिम अंग है, जिसका उद्देश्य है कि उपभोक्ताओं, विशेषकर निर्बल वर्गों को एक न्यूनतम निश्चित मात्रा में तथा उचित मूल्य पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें उपलब्ध करायी जाये । इन वस्तुओं का वितरण सरकार द्वारा नियंत्रित दुकानों की एक विशाल श्रृंखला के आधार पर किया जाता है जिनका सस्ते गल्ले की दुकान (Fair Price Shop) तथा राशन की दुकान (Ration Shop) कहा जाता है । आपको स्वयं इन दुकानों से अनाज, चीनी, मिट्टी का तेल आदि वस्तुयें खरीदने का अनुभव अवश्य होगा।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये सरकार को खाद्यान्नों की बड़ी मात्रा में वसूली और उनके भण्डारन की आवश्यकता हुई। केन्द्र व राज्य सरकारों ने इस उद्देश्य से विभिन्न तरीकों के द्वारा खाद्यान्न का आहरण किया, जिनका उल्लेख आपने ऊपर पढ़ा है।

खाद्यान्नों के आहरण व सुरक्षित भण्डारों की व्यवस्था की आवश्यकता पर खाद्यान्न नीति सम्बन्धित भारतीय सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों ने समय-समय पर बल दिया है। खाद्यान्न नीति समिति 1943 (Foodgrains Policy Committee) ने कम से कम 5 लाख टन के केन्द्रीय खाद्यान्न भण्डार रखने का सुझाव दिया। दुर्भिक्ष जांच आयोग 1945 (Famine Enquiry Commission) ने भी सुरक्षित भण्डार स्थापित करने का सुझाव दिया। कृषि मूल्य जांच समिति1947 (Agricultural Prices Committee) ने यह सिफारिश की कि संकट का सामना करने व मूल्यों को स्थिरता प्रदान करने के लिये कम से कम 15 लाख टन का सुरक्षित भण्डार रखना चाहिये। खाद्यान्न नीति समिति 1948 (Foodgrains Policy Committee) का विचार था कि खाद्यान्नों का आयात कर एक केन्द्रीय सुरक्षित भण्डार की व्यवस्था होनी चाहिये। खाद्यान्न आहरण समिति 1950 (Foodgrains Procurement Committee) ने भी इस बात पर बल किया कि बाजार में सामान्य स्थिति उत्पन्न करने के लिये मनौवैज्ञानिक परिस्थिति का निर्माण एक बड़े सुरक्षित भण्डार को बनाकर किया जा सकता है।

खाद्यान्न जांच समिति 1957 (Foodgrains Enquiry Committee) का सुझाव था कि एक खाद्यान्न स्थरीकरण संगठन का निर्माण किया जाना चाहिये। जिसका प्रमुख कार्य होगा एक 20 लाख टन से सुरक्षित भण्डार की स्थापना तथा मूल्यों के स्थरीकरण के लिये उसका प्रचालन। खाद्यान्न नीति समिति 1966 (Foodgrains Policy Committee) के विचार में कम से कम 40 लाख टन के सुरक्षित भण्डार की आवश्यकता थी।

सातवें दशक के प्रारम्भ तक खाद्यान्न की स्थिति में काफी सुधार हो चुका था। लेकिन निर्बल वर्गों की आवश्यकता के लिये उचित मूल्यों पर खाद्यान्न की उपलब्धि बनाये रखने के लिये तथा समर्थन मूल्यों (Support Prices) को प्रदान करने के लिये बड़ी मात्रा में खाद्यान्न के आहरण और सुरक्षित भण्डार के प्रचालन की आवश्यकता बनी रही। पांचवी योजना के लिये बनाये गये तकनीकी कार्यकारी दल ने 1976 में सिफारिश की कि सुरक्षित भण्डार का आकार 120 लाख टन का होना चाहिये।

15.5 आहरण व भण्डार की प्रमुख प्रवृतियां

15.5.1 आहरण के भण्डार की कुल मात्रा

तालिका 15.1 में खाद्यान्न के आहरण वितरण व भण्डार की मात्राओं को दिखाया गया है जिससे आप इनमें होने वाले परिवर्तनों का पता लगा सकते हैं। जैसा कि आप देखेंगे खाद्यान्न के आहरण की मात्रा में 1952 व 1965 के बीच काफी परिवर्तन होता रहा है। उसके पश्चात् खाद्यान्न आहरण की मात्रा क्रमश: बढ़ती गयी है और उसका स्तर कई गुना अधिक हो गया है यथा 1985 तथा 1986 में लगभग लाख टन का खाद्यान्न आहरण किया गया। आपको याद होगा 1965 के बाद का समय हरित क्रांति का काल था, जिसमें खाद्यान्न के उत्पादन व बिक्री अतिरेक में काफी वृद्धि हुई।

खाद्यान्न आहरण की बढ़ती हुयी मात्रा के कारण खाद्यान्न वितरण की मात्रा में भी भारी परिवर्तन हुआ है। 1986 में खाद्यान्न वितरण की मात्रा लगभग 156 लाख टन रही। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि 1975 से पहले के अधिकांश वर्षों में खाद्यान वितरण की मात्रा आन्तरिक आहरण से काफी अधिक थी और वितरण व्यवस्था बनाये रखने के लिये हमें काफी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। लेकिन 1975 के पश्चात स्थिति में बहुत सुधार हुआ है और वितरण व्यवस्था लगभग पूर्ण रूपेण आंतरिक आहरण पर ही आधारित रही है ।

तालिका 15.1 से आप वर्ष के अंत में भण्डार की परिस्थिति भी देख सक़ते हैं। 1952 व 1967 के बीच भण्डार की मात्रा में काफी उतार चढ़ाव आते रहे । तत्पश्चात स्थिति में लगातार सुधार हुआ है । और 1972 से 1974 के तीन वर्षों को छोड़कर सुरक्षित भण्डार की मात्रा संतोषजनक रही है, जो सुधरी हुई खाद्यान्न परिस्थिति को दिखाती है ।

15.5.2 फसलवार वसूली

भारत के मुख्य रूप से केवल 2 फसलों की वसूली सरकार के द्वारा की जाती है गेहूं तथा चावल । 1986 में 197.2 1 लाख टनों की कुल वसूली की गयी, जिसमें गेहूं की वसूली थी । 105.30 लाख टन 153.5% तथा चावल की 91.43 टन 146.5% । अन्य फसलों की वसूली लगभग नगण्य थी।

15.5.3 प्रान्तवार वसूली

यदि आप प्रान्तवार फसलों की वसूली का अध्ययन करें तो पायेंगे कि कुछ इन जिन प्रांत की वसूली का अधिकांश भाग प्रदान करते हैं तालिका 15.2 में, प्रान्तवार खाद्यान्न की वसूली और विवरण का ब्यौरा दिया गया है । तालिका को देखने से पता चलता है कि केवल पंजाब से 53.0% खाद्यान्न की वसूली हुई दूसरा स्थान था हरियाणा का जिसका योगदान था 16.0% तथा तीसरा स्थान था उत्तर प्रदेश का जहां से 14.1% योगदान हुआ । पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश से ही लगभग 83% वसूली हो जाती है । यह भारत के प्रमुख राज्य हैं जो हरित क्रांति से अपेक्षाकृत अधिक लाभान्वित हुए हैं और जहां पर विक्रय अतिरेक अधिक है इनको खाद्यान्न की दृष्टि से देवी उत्पादन वाले प्रान्त कहा जा सकता है ।

दूसरी ओर वे प्रान्त हैं जहां खाद्यान्न उत्पादन आवश्यकता से कम है और जिनको सुरक्षित भण्डार से अधिक मात्रा में वितरण की आवश्यकता है । जैसा कि आप तालिका 15.2 में देखेंगे खाद्यान्न के वितरण की मात्रा जिन प्रान्तों में अधिक है वे हैं – पश्चिम बंगाल, केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश । कुल वितरण का आधे से अधिक इन्हीं पांच राज्यों को प्राप्त हुआ।

तालिका 15.1

वर्षवार कुल आन्तरिक आहरण, सार्वजनिक वितरण तथा खाद्यान्नों का भण्डार 1952–1986

(हजार टन)

वर्ष	कुल आन्तरिक आहरण	कुल सार्वजनिक वितरण	वर्ष के अन्त में कुल सुरक्षित भण्डार
1952	3477	6800	1948

1953	2094	4898	1465
1954	1130	2154	1665
1955	132	1636	921
1956	37	2028	319
1957	295	3050	1175
1958	526	3980	906
1959	1806	5164	1398
1960	1275	4937	2810
1961	541	3977	2636
1962	479	4365	2281
1963	750	5178	2259
1964	1430	8665	1016
1965	4031	10079	2079
1966	4009	14085	2216
1967	4462	13166	1956
1968	6805	10221	3991
1969	6381	9385	4453
1970	6714	8841	5569
1971	8857	7816	8137
1972	7665	11396	3443
1973	8424	11414	313
1974	5645	10790	2730
1975	9563	11253	8285
1976	12853	9174	18964
1977	9874	11729	17346
1978	11098	10183	17160
1979	13836	11663	17519
1980	1178	14993	11739
1981	12975	13014	11498
1982	15420	14768	12766
1983	15571	16206	15498
1984	18723	13326	22551
1985	20116	15799	25208

1986	19722	17595	23630
1996	19800	20500	–

Source : Bulletion of Food Statistics 1986, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi., Various Issues.

तालिका 15.2

प्रान्तवार कुल खाद्यान्न आहरण तथा वितरण, 1986

(000 टन)

प्रान्त	**कुल आहरण**	**कुल वितरण**
आन्ध्र प्रदेश	1356	1707
असम	25	757
बिहार	25	777
गुजरात	18	837
हरियाणा	3154	140
हिमाचल प्रदेश	-	80
जम्मू कश्मीर	28	268
कर्नाटक	93	1166
केरल	-	1824
मध्य प्रदेश	560	593
महाराष्ट्र	32	1773
मणिपुर	-	30
मेघालय	-	119
नागालैंड		130
उड़ीसा	-	296
पंजाब	10457	140
राजस्थान	136	884
सिक्किम	-	46
तमिलनाडु	843	1727
त्रिपुरा	-	141
उत्तर प्रदेश	2789	822
पश्चिम बंगाल	75	2205
अंडमान निकोबार	-	20
अरूणाचल प्रदेश	3	56
भारत	19721	17595

Source : Bulletion of Food Statistics 1986, Ministry of Agriculture, Government of India, New Delhi.,

15.6 आहरण और सुरक्षित भण्डार नीति के लाभ

खाद्यान्न के आहरण, भण्डारण और वितरण के लिये उठाये गये प्रयत्नों का लाभ न केवल उपभोक्ताओं को मिला है बल्कि उससे उत्पादक वर्ग और सामान्य अर्थव्यवस्था भी लाभान्वित हुई है। खाद्यान नीति के प्रमुख लाभ संक्षेप में निम्नलिखित है ।

प्रथम, आहरण व वितरण प्रणाली के माध्यम से उत्पादन देशी वाले प्रांतों से खाद्यान्न को नियंत्रित रूप से उत्पादन की कमी वाले प्रान्तों को भेजा गया तथा क्षेत्रीय स्तर पर खाद्यान्न की मांग और पूर्ति में संतुलन किया गया ।

दूसरे, उपभोक्ताओं को बढ़ते हुये मूल्यों के प्रभाव से एक सीमा तक सुरक्षित किया गया और उचित मूल्यों पर उनको खाद्यान्न की पूर्ति सुनिश्चित की गयी ।

तीसरे, निर्धारण मूल्यों पर सरकारी खरीद के द्वारा कृषकों को आय को स्थिरता प्रदान की गयी ।

चौथे, खाद्यान्न नीति से कृषि पदार्थो के मूल्यों के उच्चावचनों को रोका जा सका और व्यापारियों के द्वारा जमाखोरी को नियंत्रित किया जा सका ।

पांचवे, इन नीतियों के द्वारा कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन मिला, आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति हुई और मुद्रास्फीति के दबावों को कम किया जा सका । इस प्रकार समूची अर्थव्यवस्था पर इन नीतियों का एक हितकारी प्रभाव पड़ा ।

15.7 आहरण तथा भण्डारण नीति के दोष

यद्यपि सरकार की आहरण व भण्डारण नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में काफी हद तक सफल हुई है, फिर भी उसके क्रियान्वयन में कुछ दोष नजर आये है । इनमें से कुछ प्रमुख दोषों की हम यहां चर्चा करें :

(क) खाद्यान्न के क्रय व वितरण में कई संगठन और सरकारी विभाग एक साथ काम कर रहे है, जिनमें अक्सर तालमेल का अभाव रहता है और कभी कभी दिन प्रतिदिन के कार्यकलापों में समस्या उत्पन्न हो जाती है ।

(ख) वसूली और वितरण प्रणाली का प्रमुख भार केन्द्रीय सरकार के ही ऊपर है । राज्य स्तर के संगठनों की वित्तीय स्थिति कमजोर होने के कारण वे इस क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं है ।

(ग) खाद्यान्नों की खरीद, रख रखाव व परिवहन के ऊपर आने वाला प्रचालन व्यय काफी अधिक है ।

(घ) आहरण व भण्डारण व्यवस्था के संचालन के निये केन्द्रीय सरकार को बड़ी मात्रा में अनुदान (Subsidy) देनी पड़ती हे । जिसका केन्द्रीय सरकार के बजट पर गहरा दबाव पड़ता है।

(च) अक्सर खाद्यान्नों की खरीद कें सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अनियमितताओं तथा भ्रष्टाचार की शिकायतें भी सुनने में आती है ।

(छ) सरकार के पास भण्डार गृहों की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण अधिक मात्रा में वसूली के कार्य में बाधा आती है और साथ ही बहुत सा अनाज बर्बाद भी होता है ।

(ज) खाद्यानों के भण्डारण व परिवहन के कार्यो में जिस स्तर के वैज्ञानिक नियोजन की आवश्यकता है, उसका अभाव है ।

उपरोक्त दोषों में सुधार कर खाद्यान्न नीति की कार्य कुशलता तथा प्रभावकता को बढ़ाया जा सकता है। इस दिशा में आवश्यक प्रयत्न वांछनीय है ।

15.8 सारांश

सार्वजनिक वितरण प्रणाली जिसके द्वारा जनता को उचित मूल्यों खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें उपलब्ध करायी जाती है, को चलाने के लिये खाद्यान्न आदि का आहरण और सुरक्षित कोष रखना आवश्यक होता है । आहरण का तात्पर्य होता है एक पूर्व निश्चित मात्रा में खाद्यान्न आदि को प्राप्त करना । यह आहरण खुले बाजार में अथवा अनिवार्य बिक्री पर सरकार यह खरीद उत्पादनकर्ताओं से कर सकती है अथवा व्यापारियों का मिल मालिकों से एक निश्चित प्रतिशित के रूप में अनिवार्य वसूली भी आवश्यकता पड़ने पर की जा सकती है ।

सुरक्षित भण्डार से तात्पर्य खाद्यान्न के उस न्यूनतम भण्डार से होता है जो सरकार संकटकाल से निपटने और बाजार में पूर्ति व मूल्यों के उतार–चढ़ावों को रोकने के लिये अपने पास रखती है । बाजार में पूर्ति अधिक होने पर सरकार माल खरीद सुरक्षित कोष में वृद्धि करती है और पूर्ति की कमी होने पर अपने भण्डार से वस्तुओं को बाजार में बेच कर उनकी उपलब्धि सुरक्षित करती है ।

भारत में खाद्यान्न की खरीद और उसके नियंत्रण की नीति सरकार ने सर्वप्रथम 1943 में बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष के समय अपनायी । तबसे खाद्यान्न नीति भारतीय सरकार की कल्याणकारी नीति का एक अभिन्न अंग बन गयी है । समय–समय पर खाद्यान्न नीति समितियों ने सरकार को आवश्यक सुझाव दिये है । 1976 में कार्यकारी दल की सिफारिश पर यह निर्णय लिया गया कि सरकार को कम से कम 120 लाख टन का सुरक्षित भण्डार रखना चाहिए।

सरकार भारतीय खाद्य निगम, खाद्य विभाग व सहकारी संस्थाओं के माध्यम से खाद्यान्न के आहरण का कार्य नियमित रूप से करती आ रही है । हालांकि आहरण की मात्रा में बदलाव आते रहे है, फिर भी उसकी सामान्यप्रवृति बढ़ने की है । 1986 में लगभग 200 लाख टन का खाद्यान्न आहरण किया गया ।

सरकार की आहरण प्रक्रिया मुख्य रूप से गेहूँ और चावल की खरीद पर आधारित है । यह आहरण भी मुख्यतः कुछ गिने चुने राज्यों से ही प्राप्त होता है जिनमे विशेष उल्लेखनीय है पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश।

खाद्यान्न की आहरण व भण्डारण नीति से एक ओर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्नों की उपलब्धि हुई है और दूसरी ओर उत्पादन कर्ताओं को स्थिर मूल्य प्राप्त हुये है । इसके साथ ही आहरण व भण्डारण नीति में कुछ दोष भी देखने में आये है जैसे क्रय करने वाली संस्थाओं में पर्याप्त तालमेल का अभाव, व्यवस्था पर आने वाला अधिक व्यय भार,क्रय में अनियमिततायें तथा भ्रष्टाचार, भण्डारण व परिवहन के प्रबन्ध में वैज्ञानिक नियोजन का अभाव आदि । इन दोषों को दूरकर खाद्यान्न नीति को और अधिक लाभकारी बनावा जा सकता है ।

15.9 शब्दावली

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System)–सरकार द्वारा जनता को उचित मूल्य पर खाद्यान्न आदि आवश्यक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था ।

आहरण अथवा वसूली (Procurement) – सरकार के द्वारा पूर्व निश्चित मात्रा में खाद्यान्न अथवा अन्य पदार्थो को खुले बाजार अथवा अनिवार्य बिक्री के आधार पर क्रय करना।

बिक्रीकृत अतिरेक (Marketed Surplus) – उत्पादकों द्वारा बाजार में बेचे गये माल की मात्रा।

लेवी (Levy)–उत्पादकों, व्यापारियों अथवा मिल मालिकों से अनिवार्य रूप से माल का एक प्रतिशत प्राप्त करना।

सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock)–अनाज आदि का वह न्यूनतम भण्डार जिसका प्रयोग संकटकाल से निपटने के प्रति और मूल्यों को स्थिर रखने के लिये किया जाता है।

खाद्यान नीति (Food Policy)–सरकार द्वारा खाद्यान्न के व्यापार मूल्यों, वितरण आदि के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की नीति।

उत्पादन बेशी वाले प्रान्त (Food Surplus States)–वे प्रान्त जहां खाद्यान्न का उत्पादन आवश्यकता की तुलना में अधिक है।

उत्पादन कमी वाले प्रान्त (Food Deficit States)–वे प्रान्त जहां खाद्यान्न का उत्पादन आवश्यकता से कम है।

खाद्यान अनुदान (Food Subsidy)–खाद्यान की खरीद व वितरण पर आये हुए व्यय का वह भार जो सरकार स्वयं वहन करती है।

15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए.एन.अग्रवाल, भारतीय कृषि की समस्यायें

R.N Chopra , Evolution of Food Policy in India, Macmillan, New Delhi,1981.

P.S. George, Government Intervention in Foodgrains in India, IIM. Ahmedabad 1983.

Indian Society of Agricultural Economics, Seminar of Foodgrains Buffer Stocks in India, Seminar Series VIII, Bombay.

K.C.S Acharya, Food Security System of India: Evolution of the Buffer Stocking Policy and its Evalution, New Delhi ,1983.

रुद्रदत्त एवं सुंदरम, भारतीय अर्थव्यवस्था।

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. खाद्यान्न की पूर्ति में उच्च स्तर के परिवर्तनों के कारण बताइये।
2. सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ और उद्देश्य बताइये।
3. खाद्यान्न की वसूली के विभिन्न तरीके बताइये।

4. सुरक्षित भण्डार का अर्थ एवं उद्देश्य स्पष्ट कीजिये ।
5. भारत में खाद्यान्न के क्षेत्र में सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता और औचित्य पर प्रकाश डालिये।
6. भारत में उत्पादन बेशी और उत्पादन कमी वाले 3–3 प्रमुख प्रान्तों के नाम बताइये ।
7. भारत में आहरण और सुरक्षित भण्डार नीति से उपभोक्ताओं और उत्पादकों का क्या लाभ हुये है।
8. भारत सरकार की खाद्यान आहरण और भण्डारन नीति में क्या प्रमुख दोष है।

इकाई 16

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution Systems)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ एवं उद्देश्य
16.2 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय एवं विकास
16.3 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विशेषतायें
16.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र एवं सुधार
16.4.1 विस्तार
16.4.2 वस्तुओं की संख्या
16.4.3 खाद्यान्न वितरण की मात्रा
16.4.4 लाभार्थी वर्ग व क्षेत्र
16.4.5 आहरण तथा आयात
16.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्रियान्वयन
16.5.1 सुरक्षित भण्डार
16.5.2 भण्डारण सुविधा
16.5.3 गुणवत्ता तथा प्रमाणीकरण
16.5.4 प्रचलन लागत
16.5.5 अन्य समस्यायें
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 कुछ उपयोग पुस्तकें
16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

16.0 उद्देश्य

आप तथा आपके परिवारजन संभवतः सरकारी सस्ते गल्ले की दुकान से गेहूँ, चीनी आदि आवश्यक वस्तुओं को खरीदते ही होंगे । आपने यह भी देखा होगा कि इन दुकानों के मूल्य निश्चित होते है तथा स्वतंत्र बाजार के मूल्यों से कम होते है । ये दुकाने सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अंग है जिसके द्वारा सरकार देश के नागरिकों की आवश्यकताओं को उचित मूल्यों पर पूरा करने का प्रयास करती है । लगभग पिछले पांच दशकों से यह सार्वजनिक वितरण प्रणाली हमारे देश की सरकार की जन कल्याणकारी नीतियों का एक महत्वपूर्ण अंग रही है ।

इस इकाई में हम आपका परिचय इसी सामाजिक वितरण प्रणाली के विभिन पक्षों से करायेंगे। पहले हम सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ एवं उद्देश्य रूष्ट करेंगे । उसके बाद भारत में इस प्रणाली के उदय तथा विकास के बारे में बतायेंगे । तत्पश्चात् इस प्रणाली की मुख्य विशेषतायें बतायी जायेगी।

अगले खण्ड में सार्वजनिक विएतरण प्रणाली के क्षेत्र व विस्तार के विभिन्न पक्षों की चर्चा की जायेगी अंतिम खण्ड में हम इस प्रणाली के क्रियान्वयन के दोष व कठिनाइयाँ बतायेंगे ।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्य तथा उसके लाभकारी प्रभाव व उसके क्रियान्वयन के दोषों को भलीभांति जान पायेंगे ।

16.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ एवं उद्देश्य

एक कृषि प्रधान देश में प्राकृतिक विपदाओं के कारण बाढ़ दुर्भिक्ष आदि की समस्यायें उत्पन्न होती है जिससे खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति में अक्सर कमी आ जाती है और उनके मूल्य बहुत बढ़ जाते है । ऐसी परिस्थिति में खाद्यान के व्यापार को केवल निजी क्षेत्र पर नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि व्यापारी जमाखोरी और मुनाफाखोरी का सहारा लेते है । ऐसे में एक और कल्याणकारी सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह खाद्यान्न के बाजार में हस्तक्षेप करें और आवश्यक वस्तुओं के वितरण की एक उचित व्यवस्था करें । यही परिस्थिति सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उदय एवं अस्तित्व का कारण है ।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution Systems) एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा उचित मूल्य व पर्याप्त मात्रा में सरकार के द्वारा खाद्यान तथा आवश्यकता की अन्य वस्तुयें जनता को विशेषकर निर्बल वर्गो को उपलब्ध करायी जाती है । यह एक लोक कल्याणकारी राज्य का आवश्यक कर्तव्य माना जाता है । जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता खाद्यान्न पूर्ति के संकट व निजी व्यवस्था के दोषों के कारण उत्पन्न होती है ।

संक्षेप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के उद्देश्य निम्नलिखित है : –

(अ) समाज के निर्बल वर्गो के लिये खाद्यान तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुओं की उचित मूल्य पर व्यवस्था करना ।

(ब) खराब फसल के दौरान खाद्यान के मूल्यों की वृद्धि को रोकना तथा व्यापारियों द्वारा मुनाफाखोरी और जमाखोरी की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना ।

(स) बाजार में आवश्यक वस्तुओं की मात्रा और पूर्ति में संतुलन रखकर उनके मूल्यों की स्थिरता बनाये रखना ।

(द) खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुओं की प्रति व्यक्ति एक न्यूनतम मात्रा उपलब्ध कराना तथा सभी वर्गो को एक न्यूनतम उपभोग स्तर प्रदान करना ।

(य) आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की गुणवत्ता को बनाये रखना ।

(र) एक सक्रिय उपभोग सहकारी आंदोलन को प्रोत्साहन देना।

एक सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार आन्तरिक बाजार से खरीद व वसूली के आधार पर तथा/अथवा आयात के द्वारा आवश्यक वस्तुओं का एक सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) बनाये । विशेष परिस्थितियों में सरकार को मूल्य नियंत्रण तथा राशन व्यवस्था का भी प्रयोग करना पड़ता है, हालांकि ये सार्वजनिक वितरण प्रणाली के आवश्यक अंग नहीं है ।

16.2 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय तथा विकास

भारतवर्ष में खाद्यान्न के व्यापार में सरकार का हस्तक्षेप तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुआ। युद्ध काल में खाद्यान की पूर्ति में कमी आयी थी । और उसके मूल्य बढ़ने लगे थे । 1943 के बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष से परिस्थिति और भी बिगड़ गयी । इस संकटपूर्ण स्थिति का सामना करने के लिये सरकार ने खाद्यान्न पर मूल्य नियंत्रण लगाया और राशन व्यवस्था लागू की ताकि खाद्यान की पूर्ति उचित मूल्यों पर उपलब्ध करायी जा सके । इस प्रकार भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उदय हुआ जो पिछले लगभग पांच दशकों से सरकार की कल्याणकारी नीति का एक अभिन्न अंग ही है इस अवधि में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र व स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए है, लेकिन वह भारतीय अर्थव्यवस्था का एक स्थायी अंग बनी रही है।

विभिन्न खाद्यान्न जांच समितियों ने अपने प्रतिवेदनों में एक प्रभावकारी वितरण प्रणाली की आवश्यकता पर बल दिया है । सरकार की खाद्यान्न नीति, समिति 1943 की सिफारिशों पर आधारित थी । समिति ने उपलब्ध खाद्यान्न के न्यायपूर्ण वितरण पर बल दिया । सरकार ने प्रमुख खाद्यानों के मूल्य नियंत्रण और बड़े शहरों में राशन व्यवस्था करने का निर्णय लिया । खाद्यान्न आहरण समिति 1950 ने परिस्थिति का पुनर्मूल्यांकन किया और सार्वजनिक वितरण व्यवस्था में समन्वय की कमी की ओर ध्यान दिलाया । आगामी वर्षो में अच्छी फसलों के कारण परिस्थिति में सुधार हुआ तथा स्वतंत्र व्यापार फिर प्रारंभ किया गया ।

1956 से सार्वजनिक वितरण प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया जब सरकार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार से पी.एल.480 के अंतर्गत खाद्यान्न आयात करने का समझौता किया । खाद्यान्न जांच समिति 1957 ने भी खाद्यान्न के आयात की नीति का समर्थन किया और सस्ते गल्ले की दुकानों को जारी रखने और खाद्यान्न का एक सुरक्षित भण्डार बनाने की आवश्यकता पर बल दिया । द्वितीय पंचवर्षीय योजना 1956–61 के दौरान सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिये 40 लाख टन के सुरक्षित भण्डार रखने की सलाह दी चौथी पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक वितरण– प्रणाली को जो अभी तक मुख्यतः शहरों तक सीमित थी, ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाने की नीति अपनायी गयी ।

श्री मोहन धारिया की अध्यक्षता में बनायी गयी आवश्यक, वस्तु समिति 1973 ने इस बात पर बल दिया कि सरकार को व्यापक रूप से सामान्य नागरिकों के लिए आवश्यक वस्तुओं की उचित मूल्यों पर व्यवस्था कराने की जिम्मेदारी उठानी चाहिये ।

पांचवी पंचवर्षीय योजना के लिये बनाये गये कार्यकारी दल का सुझाव था कि बड़े स्तर पर इस कार्यक्रम को चलाने के लिय कम से कम 120 लाख टन का सुरक्षित भण्डार होना चाहिये । छठी योजना में आवश्यक वस्तुओं के वितरण के संबंध में चयनात्मक तथा लचीली नीति अपनाने पर बल दिया गया ताकि विभिन्न राज्य अपनी परिस्थितियों के आधार पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चला सके । सातवीं पंचवर्षीय योजना के सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विस्तार का कार्यक्रम परिवर्तित बीस सूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत रखा गया । सार्वजनिक वितरण प्रणाली को गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के पूरक के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषकर जहां व्यवस्था पहले नहीं थी फैलाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र तथा स्वरूप बदलता रहा है । काफी समय तक यह प्रणाली खाद्यान्न संकट से प्रभावित रही । खराब फसलों के वर्षो में उसका विस्तार होता रहा तथा उच्छे वर्षो में संकुचन हुआ । इस प्रकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली एक संकटकालीन व्यवस्था के रूप में चलती रही । लेकिन हरित क्रांति की सफलता के बाद खाद्यान्न परिस्थिति में सुधार हुआ है और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है । अब यह प्रणाली मूल्यों के स्थिरीकरण और आवश्यक वस्तुओं को निर्बल वर्गो में उचित मूल्य पर उपलब्ध कराने की नीति का स्थायी अंग हो गयी है ।

16.3 भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विशेषतायें

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के स्वरूप को समझाने के लिये उसकी निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख उपयुक्त होगा :-

(1) इस प्रणाली में चुनी हुयी आवश्यक वस्तुओं का वितरण सस्ते गल्ले की दुकानों (Fair Price Shops) अथवा सहकारी संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है यह दुकानें सरकार के नियंत्रण व निर्देशन में सामाजिक हित के लिये कार्य करती है ।

(2) राशनिंग वाले क्षेंत्रों को छोड़कर यह व्यवस्था इस वस्तुओं के स्वतंत्र व्यापार के साथ चलती है, ताकि व्यापारियों की मुनाफाखरी की प्रवृत्ति काबू में रहे ।

(3) यह व्यवस्था मुख्यतः खाद्यान्नों के वितरण तक सीमित रही है, हालांकि अन्य वस्तुओं यथा मिट्टी का तेल, सस्ता कपड़ा, आदि भी इसके द्वारा वितरित किये जाते है । वितरित वस्तुओं में गेहूं, चावल व चीनी की ही प्रधानता रही है ।

(4) सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने कें लिये आन्तरिक आहरण (Procurement) अथवा आयात के आधार पर एक सुरक्षित भण्डार (Buffer Stocks) बनाती है, जिससे इस दुकानों पर वस्तुओं, की उपलब्धि सुनिश्चित की जाती है । सरकार प्रति व्यक्ति बेची जाने वाली मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों को निर्धारित करती है ।

(5) सस्ते गल्ले की दुकान पर वस्तुओं का मूल्य बाजार मूल्य से कम रहता है । मूल्यों को कम रखने के लिये सरकार को अनुदान (Subsidy) देना पड़ता है ।

(6) मुख्यतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली शहरी क्षेत्रों तक सीमित रही है, लेकिन अब इसका विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में भी किया जा रहा है ।

(7) सार्वजनिक वितरण प्रणाली विशेषकर आर्थिक रूप से निर्बल वर्गों की आवश्यकता पूर्ति के लिये चलायी जाती है ।

(8) केन्द्र ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली का समय–समय पर पुर्नअवलोकन करने के लिए सलाहकारी परिषद (Advisory Council) की स्थापना की है । केन्द्रीय सरकार की सलाह पर सभी राज्यों ने जिला तथा तहसील स्तर पर उपभोक्ताओं की सलाहकार समितियों का भी गठन किया है, जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली के कार्यो पर नजर रखती है।

16.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र एवं विस्तार

अब हम आपको भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विभिन्न पक्षों से कुछ अधिक विस्तार में परिचय करायेंगे । आइये पहले इस व्यवस्था के क्षेत्र एवं विस्तार की स्थिति को देखें ।

16.4.1 विस्तार

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रभाव उसके विस्तार के स्तर पर निर्भर करता है । जैसा कि हम ऊपर आपको बता चुके है खाद्यान संकट के समय इस प्रणाली का विस्तार होता रहा है और अच्छी फसलों के समय संकुचन/तालिका में विभिन्न वर्षों में सस्ते गल्ले की दुकानों की संख्या को दिखाया गया है । 1971 के पश्चात् सस्ते गल्ले की दुकानों की संख्या में काफी वृद्धि हुयी है और उनकी संख्या 1.21 लाख से बटकर 1987 में लगभग 3.33 लाख हो गयी । इनकी संख्या 1992 में बढ़कर 4 लाख व 31 मार्च 1995 में बढ़कर 4.32 लाख हो गई । इनमें से 3/4 दुकानें ग्रामीण क्षेत्रों में है । आच्छादित जनसंख्या में भी निरन्तर वृद्धि हुयी है । सरकारी आँकड़ों के अनुसार 1980 तक लगभग 90 प्रतिशत जनसंख्या को सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सुविधा उपलब्ध थी । यह आँकड़े इस अर्थ में भ्रम है कि यह वास्तविक लाभार्थियों की संख्या नहीं दर्शातें है । लाभार्थी भी अपनी आवश्यकता का एक अंश ही इन दुकानों से प्राप्त कर पाते है । आप याद करेंगे कि हम पहले भी यह कह चुके है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली मुख्यतः शहरी नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते है । हाल के वर्षों में इस व्यवस्था को ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे है ।

तालिका 16.1

सस्ते गल्ले की दुकानों की वर्षवार संख्या 1966–1995

वर्ष	संख्या	आच्छादित जनसंख्या (लाख)
1966	1,35,977	
1967	1,42,815	
1968	1,40,402	
1969	1,38,777	
1970	1,22,038	
1971	1,21,032	2995
1972	1,65,087	4115
1973	2,00,655	4353
1974	2,21,975	4313
1975	2,40,210	4695
1976	2,36,196	5660
1977	2,38,622	5891
1978	2,38,985	6130
1979	2,43,828	6103
1980	2,75,000	6110
1981	2,83,560	
1982	2,77,72	
1983	2,48,028	

1984	3,02,360	-
1985	3,15,290	-
1986	3,25,081	-
1987	3,33,275	-
1992	400000	-
1995	432000	-

स्रोतः– Ministry of Agriculture, Government of India, Bulletin of Food Statistics 1996, New Delhi.

16.4.2 वस्तुओं की संख्या

1955 के आवश्यक वस्तु अधिनियम में 65 वस्तुओं की सूची रखी गयी है । वास्तव में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से कुछ ही वस्तुओं की पूर्ति की गयी है जिनमें उल्लेखनीय है गेहूं, चावल, चीनी, मिट्टी का तेल सस्ता कपड़ा, वनस्पति तथा कोयला। खाद्यान्न के वितरण पर जोर देना उचित ही या लेकिन मोटे अनाज की व्यवस्था का अभाव एक आलोचना का बिंदु है ।

समय–समय पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत वस्तुओं की संख्या इस सम्बन्ध में 1973 में मोहन धारिया समिति ने सुझाव दिया था कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा निम्नलिखित वस्तुओं का वितरण होना चाहिये । मोटे अनाज, दालें, चीनी वनस्पति, दूध, सस्ता कपड़ा, जूते, मिट्टी का तेल तथा ईधन, साबुन, स्कूल की किताबें । 1977–79 के दौरान सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वस्तुओं की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न भी किया, लेकिन उसकी अधिक सफलता नहीं मिली। अधिक संख्या में वस्तुओं की वितरण व्यवस्था करना काफी कठिन कार्य है । अतः सरकार ने कुछ चुनी हुयी वस्तुओं के वितरण प्रबन्ध पर अधिक ध्यान दिया है । यदि राज्य सरकारें चाहे तो अन्य वस्तुओं के वितरण का भी प्रबन्ध कर सकती है ।

16.4.3 खाद्यान्न वितरण की मात्रा

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से किये जाने वाले खाद्यान्न की मात्रा उसके विस्तार पर प्रभावित होने वाले वर्गों पर प्रति व्यक्ति वितरण की मात्रा आदि तत्वों पर निर्भर करती है । उसकी मात्रा के बारे में विभिन्न विशेषज्ञों ने अलग–अलग अनुमान लगाये है । सस्ते गल्ले की दुकानों के किये गये खाद्यान्न के वितरण की जानकारी तालिका 16.2 में दी गयी है । बाजार की परिस्थितियों के बदलाव के अनुसार वितरित खाद्यान्न की मात्रा में परिवर्तन आते रहे है सातवें दशक में औसतन 110 लाख टन अनाज वितरित किया गया । आठवें दशक में यह मात्रा 160 लाख टन के लगभग हो गयी है। हरित क्रांति की सफलता और अधिक मात्रा में खाद्यान्न की वसूली के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली का यह विस्तार सम्भव हुआ है । यह बात भी आप को ध्यान में रखनी चाहिये कि कुछ खाद्यान्न उपलब्धि का एक छोटा हिस्सा (10–15 प्रतिशत) ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा बेचा जा रहा है । एक अनुमान के अनुसार बिक्री किये गये कुल खाद्यान्न का लगभग 30 प्रतिशत सार्वजनिक वितरण प्रणाली से प्राप्त होता है । यहां हम आपको यह ध्यान दिलाना चाहेंगे कि सार्वजनिक वितरण

प्रणाली वस्तुओं के स्वतन्त्र बाजार की अनुपूरक ही है और विशेषकर वह निर्धन वर्गों की आवश्यकता को पूरा करती है । इस दृष्टि सै उसका महत्व कम नहीं है ।

तालिका 16.2

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से वर्षवार बेची गयी

खाद्यान्न की मात्रा 1960 से 1996

(हजार टन)

वर्ष	खाद्यान्न की मात्रा	अनाज की शुद्ध उपलब्धि का प्रतिशत
1960	4,937	8.2
1961	3,977	6.2
1962	4,365	6.6
1963	5,178	8.0
1964	8,665	12.5
1965	10,099	13.7
1966	14,089	21.7
1967	13,166	19.8
1968	10,221	13.4
1969	9,385	12.3
1970	8,841	11.1
1971	7,816	9.3
1972	11,396	13.2
1973	11,414	14.0
1974	10,790	12.2
1975	11,253	14.0
1976	9,174	10.9
1977	11,729	13.2
1978	10,163	10.2
1979	11,663	11.2
1980	14,993	16.0
1981	13,014	12.4
1982	14,766	13.8
1983	16,206	15.5
1984	13,326	11.4
1985	15,799	13.9

1986	17,595	14.5
1996	20,500	-

स्रोतः– Ministry of Agriculture, Government of India, Bulletin of Food Statistics 1996, New Delhi.

16.4.4 लाभार्थी वर्ग व क्षेत्र

आइये अब हम यह देखें कि किस सीमा तक सार्वजनिक वितरण प्रणाली दुर्बल वर्गों को सुरक्षा पहुंचाने में सफल रही है। इस प्रणाली का कार्य क्षेत्र केवल निर्धन वर्गों तक सीमित नहीं रहा है। वैसे भी सामान्य व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण जनसंख्या का अधिकांश भाग लाभार्थी वर्ग में आ जाता है। फलस्वरूप सबसे दुर्बल वर्ग की आवश्यकता पूर्ति का उद्देश्य पूर्ण रूप से पूरा नहीं हो पाता। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि इस कार्यक्रम में मुख्यत: गेहूं चावल व चीनी का वितरण किया गया है और मोटे अनाज व सस्ते कपड़े आदि की व्यवस्था पर कम ध्यान दिया गया है।

सार्वजनिक प्रणाली का लाभ अधिकांशत: नगरी क्षेत्रों विशेषकर बड़े शहरों को प्राप्त हुआ है इसका उल्लेख हम पहले भी कर चुके है। एक अध्ययन के अनुसार 1977 में कुल खाद्यान्न वितरण का लगभग 70 प्रतिशत शहरी क्षेत्रों को प्राप्त हुआ और कल 30 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों को।

इसके अलावा एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली से बटने वाले अनाज का अधिक लाभ पश्चिमी बंगाल महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक व केरल को अधिक मिला है, जो आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत विकसित राज्य है। हालांकि यह बात सही है कि खाद्यान्न की दृष्टि से ये घाटे वाले राज्य है।

16.4.5 आहरण तथा आयात

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षेत्र व प्रभावकता इस बात पर निर्भर करती है कि किसी सीमा तक सरकार वस्तुओं की मात्रा को जुटा पाती है। आंतरिक (Internal Procurement) तथा आयात (Import) तालिका 16.3 में विभिन्न वर्षो में आन्तरिक आहरण तथा आयात की मात्राओं को दिखाया गया है। जैसा कि आप इन आँकड़ों से देखेंगे कि प्रारम्भ में बड़ी सीमा तक खाद्यान्न का वितरण आयात के ऊपर निर्भर था। हरित क्रांति की सफलता के बाद आयात की मात्रा में काफी कमी आयी है और अब सार्वजनिक वितरण प्रणाली आंतरिक आहरण पर भी मुख्यत: निर्भर हैं।

तालिका 16.3

खाद्यान्न का आहरण, आयात एवं सार्वजनिक वितरण 1960-1996

(हजार टन)

वर्ष	आहरण	आयात	सार्वजनिक वितरण
1960	1,275	5,137	4,937
1961	541	3,495	3,977
1962	479	3,640	4,365
1963	750	5,556	5,178

1964	1,430	6,226	8,665
1965	4,031	7,462	10,079
1966	4,009	10,358	14,085
1967	4,462	8,672	13,166
1968	6,805	5,694	10,221
1969	6,381	3,872	9,385
1970	6,714	3,631	8,841
1971	8,857	2,054	7,816
1972	7,665	445	11,396
1973	8,424	3,614	11,414
1974	5,645	4,674	10,790
1975	9,563	7,407	11,253
1976	12,853	6,515	9,174
1977	9,874	555	11,729
1978	11,098	-	10,163
1979	13,836	-	11,663
1980	11,178	48	14,993
1981	12,975	855	13,014
1982	15,419	2,091	14,768
1983	15,571	4,104	16,206
1984	18,723	2,369	13,326
1985	20,116	-	15,799
1986	19,721	-	17,595
1993	281000	3100	164000
1995	225000	400	153000
1996	198000	-1300	205000

स्रोत–कृषि मंत्रालय, भारत सरकार, (Bulletin of Food Statistics Various Issues)।

खाद्यान्नों की, वसूली का कम भारतीय खाद्य निगम प्रमुख रूप से करता है। इसके अतिरिक्त सरकारों के खाद्य व सार्वजनिक पूर्ति विभागों तथा नियमों और सहकारी संघों के द्वारा भी खाद्यान्न की वसूली का कार्य किया जाता है। सरकार निश्चित मूल्यों पर इन संस्थाओं के द्वारा किसानों से तथा व्यापारियों से माल खरीदती है। अगली इकाई में हम अधिक विस्तार में आन्तरिक आहरण के विभिन्न पहलुओं से आपका परिचय करायेंगे।

16.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्रियान्वयन

अब हम भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्रियान्वयन व उसकी आलोचनात्मक व्यवस्था करेंगे। अधिकांश आलोचकों का यह विचार रहा है कि सामाजिक वितरण प्रणाली सामान्य जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने में पूरी तरह सफल रही है । इसका प्रमुख कारण है सरकार के पास वस्तुओं की अपर्याप्त व अतिरिक्त पूर्ति । सरकार ने अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुये जनता की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने का उत्तरदायित्व नहीं लिया है । सार्वजनिक वितरण प्रणाली स्वतंत्र बाजार के अनुपूरक के रूप में ही चलायी जा रही है । यह कहा जा सकता है कि यह प्रणाली एक स्थायी असंतुलन का रूप ले चुकी है । खाद्यान्न के संकट को समय सार्वजनिक प्रणाली के बिक्री का स्तर बढ़ जाता है, लेकिन अच्छी फसल के वर्षों में घट जाता है ।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने से संबंधित कुछ बातों का जिक्र हम नीचे कर रहे है: –

16.5.1 सुरक्षित भण्डार

सार्वजनिक वितरण प्रणाली से बांटे गये खाद्यान्न की मात्रा सरकार के पास उपलब्ध सुरक्षित भण्डार पर निर्भर करती है । 1970 के पूर्व खाद्यान्न की पैदावार अधिक नहीं थी और सरकार की आहरण प्रणाली भी अधिक विस्तृत नहीं थी, अतः कुल आन्तरिक आहरण का स्तर बहुत अधिक नहीं रहा । दूसरी तरफ खाद्यान्न के आयात के लिये विदेशी मुद्रा की उपलब्धि भी अधिक नहीं थी । अतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिये सरकार के पास अधिक स्तर का सुरक्षित भण्डार नहीं था । 1960 व 1967 के नीचे कुछ भण्डार 23–23 टन के लगभग रहा । तत्पश्चात् सुरक्षित भण्डार लाख स्थिति में सुधार हुआ है । हाल के वर्षो में उसकी मात्रा 200 लाख टन से अधिक रही है, जो खाद्यान्न पूर्ति की सुधारी स्थिति को दिखाता है ।

16.5.2 भण्डारण सुविधा

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को बड़े स्तर पर चलाने में एक कठिनाई अच्छी भण्डारण सुविधा का अभाव रहा है । पिछले वर्षो में भण्डारण सुविधा (Warehousing Facilities) में काफी वृद्धि हुई हैं ।1987 में केन्द्र व राज्य सरकारों को सम्मिलित भण्डारण सुविधा 135.72 लाख टन हो गयी थी । फिर भी फसल के बाजार में जाने के दौरान भण्डारण सुविधा का अभाव उत्पन्न हो जाना । फलस्वरूप एक बड़ी मात्रा में अनाज बर्बाद हो जाता है । 1993–94 में यह बढ़कर 350.00 लाख टन हो गयी है ।

16.5.3 गुणवत्ता तथा प्रमाणीकरण

सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वांछित स्तर की गुणवत्ता तथा प्रमाणीकरण का अभाव रहा है । फलस्वरूप सस्ते गल्ले की दुकानों में उपलब्ध अनाज की किस्म संतोषजनक नहीं रही है । यही कारण है कि लोग खुले बाजार से अनाज खरीदना पसंद करते है ।

16.5.4 प्रचलन लागत

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने में काफी बड़े स्तर की प्रचलन लागत (Operational Costs) आती है । प्रशासनिक लागतों के अतिरिक्त परिवहन तथा भण्डारण आदि पर सरकार को काफी व्यय करना पड़ता है पर इसके अतिरिक्त बर्बादी और चोरी आदि का भार भी वहन करना पड़ता है। एक अनुमान के अनुसार लागत खरीद मूल्य का लगभग 32 प्रतिशत थी। राशन की दुकानों पर निर्गत मूल्यों (Issue Price) को निम्न रखने के लिये सरकार का बड़ी मात्रा में अनुदान (Subsidy) देना पड़ता है, जिसका स्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है ।

16.5.5 अन्य समस्यायें

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जो अध्ययन किये गये है, उन्होंने राशन की दुकानों की कार्य प्रणाली में अनेक प्रकार के दोषों और अनुचित तरीकों की तरफ ध्यान दिलाया है । इन दुकानों को चलाने वाले व्यापारियों पर सरकार का पूर्ण अंकुश नहीं रहता है । बहुत से राशन कार्ड जाली होते है और वह माल खुले बाजार व ऊंचे दामों पर बेच दिया जाता है । इन दुकानों पर उपलब्ध पूर्ति भी कम तथा अनिश्चित रहती है । जिससे उपभोक्ताओं में असंतोष रहता हैं दुकानों के हिसाब किताब से भी हेरा–फेरी की जाती है । इन दुकानों पर सरकार का नियंत्रण बहुत प्रभावकारी नहीं है । दूसरी ओर व्यापारी सीमित व अनिश्चित पूर्ति कम कमीशन, खराब माल की पूर्ति और सीमित लाभ आदि कठिनाइयों की शिकायत करते है ।

16.6 सारांश

जनता को, विशेषकर आर्थिक रूप से निर्बल वर्गो को उचित मूल्यों पर खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से उनका वितरण किया जाता है । भारत में खाद्यान्न के व्यापार में हस्तक्षेप का उदय द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुआ जो अब पिछले लगभग पांच दशकों से सरकार की कल्याणकारी नीति का एक अभिन्न अंग बन गयी है हालांकि उससे क्षेत्र व स्वरूप में परिवर्तन होते रहे है ।

लगभग 1970 तक खाद्यान्न की तंगी की स्थिति बनी हुयी थी । अतः सरकार आन्तरिक वसूली और आयात के आधार पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाती थी । लेकिन उसका विस्तार बहुत अधिक नहीं था । तत्पश्चात् हरित क्रांति की सफलता से स्थिति में काफी सुधार हुआ। फलस्वरूप सरकार द्वारा अनाज की वसूली बढ़ी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ । इस समय देश में लगभग 4.32 लाख सस्ते गल्ले की दुकाने है, जिनके माध्यम से लगभग 205 लाख टन का खाद्यान्न बेचा जाता है ।

यद्यपि सार्वजनिक वितरण प्रणाली ने खाद्यान्न के मूल्यों को नियंत्रित रखने और जनता को उनकी उपलब्धि कराने में सराहनीय योगदान दिया है, फिर भी यह प्रणाली आलोचनाओं और दोषों से मुक्त नहीं है । सरकार के साधन सीमित होने के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली का आधार सीमित रहा है और वह जनसंख्या की आवश्यकता का एक थोड़ा हिस्सा ही पूरा कर पाती है । मुख्यतः यह प्रणाली शहरी क्षेत्रों के मध्यम वर्गों की आवश्यकता को पूरा करती है । सार्वजनिक वितरण प्रणाली अपर्याप्त व अनिश्चित पूर्ति की समस्या से ग्रसित है । इसके अतिरिक्त खरीद और बिक्री के स्तर

पर अनेक अनुचित तरीकों का प्रयोग होता है, जिससे उपभोक्ताओं को कठिनाई व हानि होती है । सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने में सरकार को काफी व्यय भी वहन करना पड़ता है, जिसका दबाव उसके बजट पर पड़ता है ।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अधिक प्रभावक व लाभकारी बनाने के लिए वह आवश्यक होगा कि उसके क्षेत्र व स्तर में विस्तार किया जाय, उस पर आने वाले व्यय में कटौती की जाये और उसमें व्याप्त दोषों को दूर किया जाये ।

16.7 शब्दावली

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution Systems) सरकार के द्वारा जनता को उचित मूल्यों पर खाद्यान्न आदि आवश्यक वस्तुओं के वितरण के व्यवस्था।

आहरण यावसूलीं (Procurement)– सरकार के द्वारा पूर्व निश्चित मात्रा में खाद्यान्न आदि को खुले बाजार से अथवा उत्पादन को अनिवार्य बिक्री के आधार पर क्रय करना।

सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock)–वस्तुओं का यह भंडार जिसका प्रयोग संकट काल से निपटने तथा मांग और पूर्ति में संतुलन करने के लिये किया जाता है।

खाद्यान्न नीति (Food Policy)–सरकार की खाद्यान्न के व्यापार-मूल्यों वितरण आदि के क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति।

खाद्यान्न अनुदान (Food Subsidy)–खाद्यान्न की खरीद व वितरण पर आये व्यय का वह भाग जो सरकार स्वयं वहन करती है।

निर्गत मूल्य (Issue Price)–वह मूल्य जो सरकार को सस्ते मूल्य गल्ले की दुकानों से माल बेचने के लिये निर्धारित करती है।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए. एन. अग्रवाल, भारतीय कृषि की समस्यायें

रूद्रदत्त एवं सुन्दरम् भारतीय अर्थव्यवस्था

Bhatia, B.M., India's Food Problems and Policy Since Independence, Somaiyya, Bombay, 1970.

Dholakia, N. and Khurana, R.k., Public Distribution System, Oxford & IBH, New Delhi, 1970

Misra, B., Economics of Public Distribution System in Foodgrains. Ashish, New Delhi, 1985.

Prasad Kamta, Scope and Functioning of the Public Distribution System in India, in A.K. Singh et. al. (Ed.), Economics Policy and Planning in India, Sterling, New Delhi, 1984.

16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अर्थ व उद्देश्य बताइये ।

2. भारत जैसे देशों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये । भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की मुख्य विशेषतायें बताइये ।
3. सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र व विस्तार की उपयुक्ता पर आप के विचार बताइये । सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्रियान्वयन की मुख्य सीमायें व दोष बताइये ।
4. आपको सस्ते गल्ले की दुकान से माल खरीदने में क्या–क्या कठिनाइयां आयी है ।
5. सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुधारने के लिए अपने सुझाव दीजिये।